भारतीय ग्रंथमाला; संख्या २२

भारतीय अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र हो या कोई दूसरा शास्त्र हो, उसके ज्ञान का
महत्व तभी है, जब उसका उपयोग मनुष्य-जाति
की सेवा के लिए हो; जब वह जीवन की
जटिल समस्याओं को हल करे।

भारतीय ग्रंथमाला, संख्या २२.

भारतीय अर्थशास्त्र



लेखक

भारतीय शासन, हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, नागरिक शास्त्र,
और मनुष्य जाति की प्रगति, आदि
पुस्तकों के रचयिता

भगवानदास केला



प्रकाशक

भारतीय ग्रंथमाला, दारागंज, इलाहाबाद



चौथा संस्करण }
१००० प्रतियाँ }

सन् १९४६ ई०

मूल्य
चार रुपये

प्रकाशक :—
भगवानदास केला
व्यवस्थापक
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज (इलाहाबाद)

इस पुस्तक के संस्करण

पहला संस्करण	२००० प्रतियाँ	सन् १९२६ ई०
दूसरा ,,	६२५ ,,	,, १९३७ ,,
तीसरा ,,	५०० ,,	,, १९४२ ,,
चौथा ,,	१००० ,,	,, १९४६ ,,

मुद्रक :—
गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम.,
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिंग्स, प्रयाग।

स्व० स्वामी आनन्दभिक्षु सरस्वती

की पुण्य-स्मृति में

जीवन के वे दिन भी याद रहेंगे ! श्री० स्वामीजी ने तीन वर्ष गुरुकुल (बृन्दावन) की अवैतनिक सेवा करके प्रेम महाविद्यालय की बागडोर संभाली थी, और मैं इस संस्था के मुख-पत्र 'प्रेम' के संपादक के नाते यहाँ आया था। स्वामीजी वानप्रस्थ आश्रम में थे, जिसे लोग व्यवहार में प्रायः भूल गये हैं, और मैं गृहस्थ था जैसा-कि अधिकांश आदमी जीवन-भर रहा करते हैं। स्वामीजी उम्र में बड़े थे ही, अनुभव और पद में भी ऊँचे थे। पर उनके बात-व्यवहार में बड़े-छोटे का भाव न था; स्नेह था, प्रेम था, सुख-दुख में साथ देने का विचार था। जीवन-यात्रा में जितने भी समय किसी ऐसे सच्चे मित्र का साथ मिल जाय, मनुष्य अपने आपको धन्य मानता है।

स्वामीजी के बहु-मूल्य सत्संग की यादगार में, यह पुस्तक उन्हें श्रद्धा सहित समर्पित है। परमात्मा करे, उनकी भावना के अनुसार देश में इस विषय के ज्ञान की वृद्धि और प्रचार हो।

—लेखक

निवेदन

भारतीय ग्रन्थमाला जैसी साधारण साधन वाली संस्था 'भारतीय अर्थशास्त्र' का चौथा संस्करण प्रकाशित करने का साहस कर रही है। इसका श्रेय उन विविध सज्जनों और संस्थाओं को है, जिन्होंने इस माला के राजनैतिक और आर्थिक साहित्य को समय-समय पर प्रोत्साहन प्रदान किया है। उन सबको हार्दिक धन्यवाद !

इस पुस्तक को प्रथम वार लिखने का कार्य सन् १९१७ में आरम्भ किया गया था परन्तु विविध बाधाओं के कारण इसकी रचना में यथेष्ट प्रगति न हुई। आखिर १९२१-२२ में जब मुझे प्रेम महाविद्यालय में यह विषय पढ़ाने का प्रसंग आया, और उस संस्था के आनरेरी जनरल मेनेजर स्वामी आनन्दभिक्षुजी ने मुझसे इस पुस्तक को लिखने का अनुरोध किया, तब इसे पूरा किया गया। श्री० प्रोफेसर दयाशंकर जी दुबे एम० ए० द्वारा संशोधित होने पर इसका प्रथम संस्करण, दो भागों में गंगा पुस्तकमाला से सन् १९२५-२६ में प्रकाशित हुआ। वह संस्करण दस वर्ष तक चलता रहा। यह बात पुस्तक के पुनः प्रकाशन में उदासीनता बढ़ानेवाली ठहरी। अन्त में जब श्री० दुबे जी के कहने पर श्री० दुलारेलाल जी भार्गव ने मुझे इस पुस्तक को छपाने का अधिकार दे दिया तो सन् १९३७ में आवश्यक संशोधन करके इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया गया। उसके पाँच वर्ष बाद इसके तीसरे, और अब चौथे संस्करण का नम्बर आया। मित्रवर श्री० दुबे जी का सहयोग इस पुस्तक के हरेक संस्करण में मिलता रहा है, इस बार भी आपने इस पुस्तक के संशोधन में, तथा कई उपयोगी बातों को बढ़ाने में बहुत सहायता दी। इसके लिए मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ।

पिछले संस्करण में महायुद्ध से पैदा हुई कुछ समस्याओं पर प्रकाश

डाला गया था। अब महायुद्ध समाप्त हो गया है, तो भी उसकी काफी छाया हमारे आर्थिक जीवन पर पड़ी हुई है, और उसकी कुछ बातें तो बहुत समय तक विचार करने की रहेंगी। इसलिए उन पर सोचने के लिए कुछ सामग्री दे दी गयी है।

अब हम जनसाधारण की आर्थिक स्थिति के सुधार के उपायों का विचार कर रहे हैं। यहाँ उत्पत्ति की व्यवस्था किस प्रकार ऐसी हो कि जनता को आवश्यक भोजन वस्त्र अवश्य ही मिल सके? उपभोग में लोकहित की दृष्टि से किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है? हमारे देशी तथा विदेशी व्यापार में क्या-क्या बाधाएँ हैं? कुछ लोगों का निजी स्वार्थ या लोभ जनता का कैसा अहित कर रहा है! लगान, सूद और मुनाफेखोरी का किस प्रकार नियंत्रण किया जाना चाहिए, और मजदूरों को न्यूनतम वेतन देने के लिए किन सिद्धान्तों का ध्यान रखना आवश्यक है? इन सब बातों पर प्रसंगानुसार विचार किया गया है।

पिछले संस्करण के समय हमारे सामने काँग्रेस के लगभग ढाई साल का प्रान्तीय शासन-कार्य था, और हमने उसकी मजदूरों सम्बन्धी नीति, किसानों सम्बन्धी कानून, और बुनियादी शिक्षा आदि का परिचय दे दिया था। अब तो कांग्रेस केन्द्रीय तथा प्रांतीय सभी शासन सूत्र ग्रहण करनेवाली है, इसलिए हमने इस पुस्तक के अन्त में उसकी आर्थिक नीति, उसकी ही घोषणा के अनुसार, दे दी है। इस तरह इस संस्करण को भारतीय जीवन के निकट रखने का प्रयत्न किया गया है।

इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि कोई आर्थिक प्रयत्न—उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, व्यापार या वितरण—धर्म-विरोधी न हो। धन कितना ही आवश्यक क्यों न हो, वह मनुष्य की एकमात्र आवश्यकता नहीं है। मनुष्य वस्तुतः सुख-शांति की खोज में रहता है, और इसकी प्राप्ति सेवा, परोपकार, ईमानदारी, और सद्व्यवहार से ही होती है। पुस्तक में कहीं-कहीं, विशेषतया अंतिम भाग में, भारतवर्ष की

प्राचीन आर्थिक व्यवस्था का भी उल्लेख किया गया है; तुलनात्मक दृष्टि से ऐसे उदाहरण बहुत शिक्षाप्रद और मनोरंजक प्रतीत होंगे।

हरेक नागरिक को देश की आर्थिक दशा का अच्छा ज्ञान होना बहुत ज़रूरी है। यह विषय क़िस्से-कहानियों या उपन्यासों की तरह रोचक अथवा रण-भूमि के वृत्तांतों की तरह उत्तेजक न होने पर भी धार्मिक ग्रन्थों की तरह कल्याणकारी हैं। इस समय देश राजनैतिक स्वाधीनता के साथ आर्थिक स्वावलम्बन चाहता है। प्रत्येक सज्जन का कर्त्तव्य है कि यहाँ की आर्थिक स्थिति के सुधार में भरसक भाग ले। केवल अनुमान के सहारे भावुकता की बातें करने से, देश का वैसा ही अनिष्ट हो सकता है, जैसा किसी अनाड़ी वैद्य से रोगी का। यहाँ जागृति हो रही है; अच्छे-अच्छे मस्तिष्क और हृदय देश-सेवा के लिए अपने आराम और सुख को तिलांजली दे रहे हैं। आशा है, ऐसे अवसर पर भारतीय राष्ट्र को अर्थ-रोग से मुक्त करने के लिए 'भारतीय अर्थशास्त्र' अध्यन करनेवालों की कमी न रहेगी।

विनीत

भगवानदास केला

नोट—पिछले संस्करण की भांति इस संस्करण में राजस्व और पारिभाषिक शब्दावली नहीं दी गयी हैं। इनके लिए हमारी स्वतंत्र पुस्तकें 'भारतीय राजस्व' और 'अर्थशास्त्र शब्दावली' देखिए।

सहायक पुस्तक सूची

जठार और बेरी ... Indian Economics

कुमारप्पा ... Why the Village Movement?

एच० एस० जेवन्स ... Money Banking and Exchange in India.

दयाशंकर दुबे ... विदेशी विनिमय (दूसरा संस्करण)

दुबे और केला ... धन की उत्पत्ति

" ... सरल अर्थशास्त्र

दुबे और जोशी ... सम्पत्ति का उपभोग (दूसरा संस्करण)

गुप्त और केला ... कौटल्य के आर्थिक विचार (" ")

शङ्करसहाय सकसेना ... भारतीय सहकारिता आंदोलन

" ... प्रारम्भिक अर्थशास्त्र

द्वारकालाल गुप्त ... भारतीय बैंकिंग

राधाकृष्ण झा ... भारत की साम्पत्तिक अवस्था

बालकृष्ण ... अर्थशास्त्र

श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र ... व्यय

भगवानदास केला ... भारतीय जागृति (चौथा संस्करण)

दुबे, अम्बष्ट और केला ... अर्थशास्त्र शब्दावली (दूसरा संस्करण)

पट्टाभि सीतारामैया ... म० गाँधी का समाजवाद

भूमिका

यह आर्थिक युग है। परन्तु भारत में अधिकांश पढ़े-लिखे लोग भी अर्थशास्त्र के ज्ञान से कोरे हैं। यही कारण है कि भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं। करोड़ों भारतवासियों को अथक परिश्रम करने पर भी भर-पेट भोजन नहीं प्राप्त होता। स्वदेश को समृद्धिशाली बनाने के लिए—उसको उन्नति के शिखर पर चढ़ाने के लिए—हम सबका यह प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिए कि अर्थशास्त्र के ज्ञान का सर्व-साधारण के बीच प्रचुर प्रचार करने में कोई बात उठा न रखें। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अर्थशास्त्र-संबंधी साहित्य को सर्वाङ्ग सम्पन्न बनाया जाय—उसके हर एक हिस्से की, खासकर भारतीय अर्थशास्त्र की, भरसक तरक्की की जाय।

खेद है कि राष्ट्रभाषा हिंदी में अब भी अर्थशास्त्र-सम्बंधी पुस्तकों का बहुत अभाव है। दस-पाँच पुस्तकों से ही उसका यह अंग सम्पन्न नहीं समझा जा सकता। हर्ष की बात है कि साहित्य-सेवा को अपना मुख्य उद्देश्य मानकर काम करनेवाले कुछ उद्योगशील लेखक और प्रकाशक इस ओर ध्यान देने लगे हैं। इन उद्योगशील लेखकों में श्रीयुत भगवानदासजी केला भी हैं। आप लगभग बत्तीस वर्षों से हिन्दी के इस अभाव की पूर्ति के लिए प्राण-पण से परिश्रम कर रहे हैं। यह 'भारतीय अर्थशास्त्र' आप के इसी उद्योग का फल है।

हिन्दी संसार ने, विशेषतया अर्थशास्त्र-प्रेमी सज्जनों ने, इस का अच्छा स्वागत किया। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग; गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, महिला विद्यापीठ प्रयाग, आदि राष्ट्रीय संस्थाओं ने इस ग्रन्थ को अपनी परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों की सूची में स्थान देने की कृपा की।

गत वर्षों में भारत की आर्थिक दशा में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अतः इस ग्रंथ को 'अप-टु-डेट' बनाने के लिए श्री० केलाजी को बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन करना पड़ा। कठिन परिश्रम के बाद यह नवीन संस्करण तैयार हुआ है। इसमें भारत की प्रायः सब आर्थिक समस्याओं पर निष्पक्ष विचार गंभीरता और निर्भीकता-पूर्वक प्रकट किये गये हैं। मुझे विश्वास है कि इस रचना से पाठकों को देशवासियों की सच्ची आर्थिक दशा समझने में बड़ी सहायता मिलेगी, और इसमें बताये हुए तरीकों से कार्य करने पर यहाँ आशातीत आर्थिक सुधार होगा, और भारतवासी सुखी होंगे।

आशा है, भारतीय अर्थशास्त्र के इस नवीन संस्करण का पहले से भी अधिक आदर होगा, और जिन शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्य-ग्रंथों की सूची में इसे अभी तक स्थान नहीं मिला है, वे इसे शीघ्र अपनाएँगी।

श्री दुबे निवास
दारागंज, प्रयाग।
१२—३—१९४६

दयाशंकर दुबे,
एम. ए., एल-एल. बी.
अध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय।

विषय-सूची

पहला भाग
विषय-प्रवेश

पहला अध्याय
भारतीय अर्थशास्त्र का विषय

दूसरा अध्याय
अर्थशास्त्र के भाग

दूसरा भाग
उत्पत्ति

पहला अध्याय
भारत-भूमि

दूसरा अध्याय

भारतवर्ष की जनसंख्या

तीसरा अध्याय

भारतीय श्रम

चौथा अध्याय

पूँजी

पाँचवाँ अध्याय

व्यवस्था, और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति

छठा अध्याय

खेती

सातवाँ अध्याय

उद्योग धंधे

आठवाँ अध्याय
उत्पत्ति की वृद्धि और आदर्श

तीसरा भाग
उपभोग

नवाँ अध्याय
उपभोग और आवश्यकताएँ

दसवाँ अध्याय
उपभोग के पदार्थ

ग्यारहवाँ अध्याय

रहनसहन और पारिवारिक आय-व्यय

बारहवाँ अध्याय

उपभोग का विवेचन

चौथा भाग

मुद्रा और बैंक

तेरहवाँ अध्याय

मुद्रा; रुपया पैसा

चौदहवाँ अध्याय

कागजी मुद्रा; नोट आदि

पन्द्रहवाँ अध्याय

विदेशी विनिमय की दर

सोलहवाँ अध्याय

बैंक

पाँचवाँ भाग
विनिमय और व्यापार

सतरहवाँ अध्याय
कीमत

अठरहवाँ अध्याय
व्यापार के साधन

उनीसवाँ अध्याय
देशी व्यापार

बीसवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार

इक्कीसवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार की नीति

छठा भाग

विवरण

—०—

बाईसवाँ अध्याय

लगान

तेईसवाँ अध्याय

मजदूरी

चौबीसवाँ अध्याय

सूद

पच्चीसवाँ अध्याय

मुनाफा

छब्बीसवाँ अध्याय

वितरण और समानता

परिशिष्ट

काँग्रेस की आर्थिक नीति

पहला भाग

विषय-प्रवेश

पहला अध्याय

भारतीय अर्थशास्त्र का विषय

इस पुस्तक का नाम 'भारतीय अर्थशास्त्र' है। इसे आरम्भ करने के लिए पहले हमें जान लेना चाहिए कि भारतीय अर्थशास्त्र किसे कहते हैं, इसका आशय या मतलब क्या है। इसके वास्ते हमें यह विचार करना होगा कि अर्थशास्त्र किसे कहते है, और अर्थ, धन या संपत्ति में कौन कौनसी चीज़ें गिनी या समझी जाती हैं।

अर्थशास्त्र— अर्थशास्त्र वह विद्या है, जो समाज में रहनेवाले आदमियों के आर्थिक या धन-संबंधी प्रयत्नों और सिद्धान्तों का विवेचन करती है। मनुष्य अपने सुख के लिए भोजन या दूसरी चीज़ें पैदा करके उन्हें खर्च करते हैं, वे उनका उपभोग करते हैं। अकसर एक आदमी को दूसरे की बनायी वस्तु की आवश्यकता होती है, और वह उसके बदले में अपनी वस्तु या उसकी क़ीमत देता है। बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं, जिन्हें पैदा करने या बनाने में दूसरे आदमियों से, अथवा उनके साधनों से, सहायता ली जाती है; उन्हें उनका प्रतिफल देना होता है। यह सब आर्थिक या धन-संबंधी प्रयत्न या कोशिश है। अर्थशास्त्र इन प्रयत्नों को समझाता है, इनका बयान करता हैं, और वह देशों की आर्थिक स्थिति या माली हालत, उन्नति और अवनति का विचार करता है।

इस शास्त्र को अर्थशास्त्र के अलावा संपत्ति-शास्त्र, धन-शास्त्र, अर्थ-विज्ञान, और धन-विज्ञान आदि भी कहते हैं।

अर्थ या धन—अर्थशास्त्र में धन या अर्थ केवल रुपए-पैसे आदि सिक्कों, या सोने-चाँदी आदि धातुओं को ही नहीं कहते, वरन् इसमें वे सब पदार्थ समझे जाते हैं, जिनसे मनुष्य की किसी तरह की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती हो, और जिनको देकर बदले में दूसरी उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हों। इस तरह अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि चीज़ें भी धन हैं। संक्षेप में सब उपयोगी और विनिमय-साध्य चीज़ें धन हैं। कोई वस्तु 'विनिमय-साध्य' तब कही जाती है, जब उसे देकर उसके बदले में दूसरी उपयोगी वस्तु मिल सके। संसार में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जो उपयोगी तो हैं, परन्तु विनिमय-साध्य नहीं, इन वस्तुओं को अर्थशास्त्र में धन नहीं कहते। मिसाल के तौर पर हवा और रोशनी का विचार कीजिए। इनके उपयोगी होने में किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु आम तौर से ये अपरिमित मात्रा में मिलती हैं, अतः ये विनिमय साध्य नहीं होतीं, और, इसलिए अर्थशास्त्र में धन नहीं मानी जाती। हाँ; विशेष दशाओं में, खान आदि में, ये परिमित परिमाण में होती है, इन्हें अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए श्रम अथवा धन खर्च करना होता है, तब यह विनिमय-साध्य होती हैं, और, इसलिए धन मानी जाती हैं। इससे मालूम हुआ कि धन होने के लिए, किसी चीज़ का, कम परिमाण में होना ज़रूरी है।

ऊपर धन के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे भौतिक पदार्थों के हैं। उनके अतिरिक्त, अ-भौतिक धन भी होता है। एक आदमी दूसरे की, किसी प्रकार की सेवा करता है; यह उपयोगी है, इसके बदले में उसे द्रव्य या अन्न आदि अन्य आवश्यक वस्तु भी मिलती है। अतः उसकी सेवा धन है। इसी प्रकार किसी दूकान या कोठी की प्रसिद्धि या ख्याति उपयोगी भी है, और विनिमय-साध्य भी है; यानी इसका क्रय विक्रय हो सकता है। इसलिए यह भी अर्थशास्त्र में धन मानी जाती है।

राष्ट्रीय सम्पत्ति—संपत्ति के दो भेद—निजी और राष्ट्रीय—

किये जा सकते हैं। कौन-कौनसी वस्तुएँ निजी संपत्ति मानी जायँ, और कौनसी राष्ट्रीय संपत्ति समझी जायँ, इस विषय में अकसर लेखकों में बड़ा मत-भेद होता है। पर यह स्पष्ट है कि बहुत सी चीजें निजी संपत्ति न होने पर भी राष्ट्रीय संपत्ति में सम्मिलित हो जाती हैं; जैसे सड़कें, पुल, नहरें, नदी-नाले, सार्वजनिक मकान, शिक्षा-भवन, अजायबघर, डाक, तार, रेल, बंदरगाह आदि।

भारतवर्ष की राष्ट्रीय संपत्ति में यहाँ की जनता की संपत्ति के अलावा भारत-सरकार, प्रान्तीय सरकार, म्युनिसपल और लोकल बोर्डों तथा ग्राम-पंचायतों आदि संस्थाओं की और मंदिर, मसजिद, धर्मशाला आदि की संपत्ति सम्मिलित होनी चाहिए। इन सबके जोड़ में से वह रक़म घटा देनी चाहिए, जो भारतवर्ष में दूसरे देशोंकी लगी हुई है, यानी जो दूसरों को देनी है। कुछ अर्थशास्त्रियों के मत से तो राष्ट्रीय साहित्य, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के अलावा देश के निवासी भी राष्ट्रीय संपत्ति के हिसाब में गिने जाने चाहिएँ; क्योंकि ये भी अपने देश के धन को बढ़ाते हैं। इससे स्पष्ट है कि देश की कुल राष्ट्रीय संपत्ति का हिसाब लगाना बहुत कठिन एवं विवाद-ग्रस्त है।

अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है—'सामाजिक' विद्या उस विद्या को कहते हैं, जो सामाजिक मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का वर्णन और विवेचन करती हो। सामाजिक मनुष्यों से मतलब ऐसे मनुष्यों से है, जो एक-दूसरे से मिलकर या पास पास रहते हैं, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में तरह तरह के सम्बंध रखते हैं। बनों में या पर्वतों पर जुदा जुदा रहनेवाले साधु-सन्यासी, या इधर-उधर अलग अलग घूमते रहनेवाले असभ्य मनुष्य, सामाजिक नहीं कहला सकते। किसी देश के नगरों और ग्रामों के रहनेवाले मनुष्य ही सामाजिक मनुष्यों की गणना में आते हैं। अर्थशास्त्र ऐसे ही सामाजिक मनुष्यों के आर्थिक सम्बन्धों का वर्णन करता है, इसलिए

यह एक सामाजिक विद्या है, अथवा समाजशास्त्र का एक भाग है।

अर्थशास्त्र के नियमों का व्यवहार—समाज में सभी मनुष्यों का स्वभाव, आचार, व्यवहार एकसा नहीं होता, इसलिए अर्थशास्त्र के सब नियम सभी आदमियों के लिए लागू नहीं हो सकते। अर्थशास्त्र उन्हीं आर्थिक नियमों का विचार करता है, जो अधिकांश जनता के लिए लागू हो सकते हैं।

इस शास्त्र के, और भौतिक विज्ञान आदि शास्त्रों के नियमों में भेद है। भौतिक विज्ञान के नियमों की परीक्षा थोड़े समय में, और सहज ही, हो सकती है। आदमी भौतिक पदार्थों के सम्बंध में, कोई जाँच करने के लिए अलग अलग परिस्थितियाँ पैदा करके अपना ज्ञान बढ़ा सकता है। परन्तु अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उसके अध्ययन का विषय है मनुष्य-समाज के आर्थिक व्यवहार; और, इसके लिए हर समय यथेष्ट साधन और विविध परिस्थितियाँ नहीं मिल सकतीं। उसे समाज के आर्थिक इतिहास का विचार करके कुछ अनुमान करना होता है। धीरे-धीरे विविध घटनाओं और परिस्थितियों के गुज़रने पर उस अनुमान की जाँच होती है, और कुछ नियम निश्चित होते हैं।

अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अर्थशास्त्र के विषय का विवेचन थोड़े ही समय से होने लगा है। समाज के आर्थिक व्यवहारों के संबंध में जैसे-जैसे विद्वानों का ज्ञान और अनुभव बढ़ेगा, यह शास्त्र अधिकाधिक पूर्ण होता जायगा।

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र का आधार मनुष्यों के आपसी व्यवहार हैं। इन व्यवहारों में, देश के प्राकृतिक, सामाजिक या राजनैतिक परिवर्तन के कारण, अंतर पड़ता रहता है। इसलिए अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के प्रयोग में भेद उपस्थित हो जाता है।

दृष्टांत के लिए इंगलैंड की ही बात लीजिए। बारहवीं और तेरहवीं सदी में वह कृषि-प्रधान देश था, मुद्रा का व्यवहार कम होने से वहाँ

पदार्थों का क्रय-विक्रय न होकर उनका अदल-बदल ही होता था, और थोड़ी बहुत दासता की प्रथा से मेहनत-मज़दूरी का काम लिया जाता था। पीछे वहाँ दस्तकारी बढ़ने लगी, मुद्रा का चलन हुआ और व्यापार तथा व्यवसायों की समितियाँ बन गयीं। यह हालत अठारहवीं सदी के मध्य तक रही। बाद में फिर विशेष आर्थिक परिवर्तन हुए; व्यावसायिक क्रान्ति हुई, धन की उत्पत्ति का क्रम बदल चला, दस्तकारी का स्थान कारखानों ने ग्रहण किया और यंत्रों के उपयोग और नये-नये आविष्कारों से देश की उत्पादक शक्ति कई गुना बढ़ गयी। पूँजीपतियों तथा मज़दूरों के नये दल बन गये, नयी समस्याएँ पैदा हो गयीं। इसलिए अब वहाँ पहले के अर्थशास्त्र-सम्बन्धी व्यावहारिक नियमों का व्यवहार नहीं हो सकता।

फिर, एक ही समय में दो देशों की हालत बराबर नहीं होती। मिसाल के लिए हम बीसवीं सदी के इंगलैंड और भारत की तुलना करते हैं। इंगलैंड में विज्ञान का खूब प्रचार है, और वह कल-कारखानों का देश है। वहाँ के निवासी थोड़े से मानसिक परिश्रम और बुद्धि-बल से बहुत सी मामूली चीजों को अमूल्य बना सकते, और बना रहे हैं। वहाँ साधारण शिक्षा तथा उद्योग-शिक्षा के लिए काफी प्रबन्ध है; और हरेक आदमी की दैनिक आय का औसत वर्त्तमान महायुद्ध के पहले ढाई रुपये था, और अब तो बहुत बढ़ गया है। इसके विरुद्ध, भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, कभी-कभी वर्षा ठीक समय तथा उचित मात्रा में न होने के कारण अथवा किसी वर्ष यहाँ से खाद्य पदार्थों की विदेशों में निकासी हो जाने से, ४०-५० फी-सदी मनुष्यों का निर्वाह कठिन हो जाता है। विज्ञान यहाँ शुरू ही हुआ है। औद्योगिक शिक्षा के सुप्रबन्ध का तो जिक्र ही क्या, जब केवल अक्षर-ज्ञान का प्रचार ही सौ स्त्री-पुरुषों में से केवल चौदह में हो। यहाँ के प्रत्येक मनुष्य की औसत दैनिक आय, अलग-अलग लेखकों के अनुसार, छः पैसे से तेरह पैसे तक है। ऐसी स्थिति में व्यापार और उद्योग आदि सम्बन्धी

अर्थशास्त्र के जो व्यावहारिक नियम इंगलैंड के लिए हितकर होंगे, उनका भारत के लिए भी हितकर होना आवश्यक नहीं। मतलब यह कि सब देशों की स्थिति किसी एक समय में, अथवा किसी एक देश की स्थिति सब कालों में, बराबर नहीं रहती। इसलिए हरेक देश के लिए उसकी मौजूदा हालत के अनुसार अर्थशास्त्र के नियमों का व्यवहार जुदा-जुदा होना चाहिए। इस प्रकार के व्यावहारिक अर्थशास्त्र को किसी देश का, उस समय का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कहते हैं।

भारतीय अर्थशास्त्र—भारत-भूमि, भारतीय समाज, और भारतवर्ष की वर्त्तमान शासन-प्रणाली आदि को ध्यान में रखकर इस देश की आधुनिक स्थिति के अनुकूल व्यावहारिक नियमों और सिद्धान्तों के विचार से तैयार किया हुआ अर्थशास्त्र 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहलाता है। इसमें देश के आर्थिक प्रश्नों का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। इस शास्त्र के अध्ययन से हम यहाँ की विविध आर्थिक समस्याओं पर अच्छी तरह विचार कर सकते हैं।

लोगों की आर्थिक क्रियाओं पर उनकी रुचि, स्वभाव, शक्ति या विचार का प्रभाव तो पड़ता ही है; इसके अलावा मनुष्य के एक सामाजिक प्राणी होने के कारण, उस पर दूसरों के विचारों, पिछली परम्पराओं तथा वर्त्तमान अवस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ पूर्वजों की संस्कृति उस पर असर डालती है, वहाँ माता-पिता, समाज या बिरादरी आदि के संस्कार का भी उस पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। देश की धार्मिक, राजनैतिक, या आर्थिक स्थिति, तथा सामाजिक रीति-रस्म आदि भी उन संस्कारों के बनाने में बड़ा भाग लेती हैं। भारतीय अर्थशास्त्र में इस प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका ठीक अध्ययन, भारतीय परिस्थितियों के आधार पर ही किया जा सकता है। यह ठीक है कि अर्थशास्त्र के मूल या बुनियादी सिद्धान्तों का संबंध मनुष्य मात्र से होता है, परन्तु हमें यह भी विचार करना चाहिए कि वे सिद्धान्त भारतीय समाज में किस

प्रकार और कहाँ तक लागू होते हैं।

हमारी आर्थिक समस्याएँ—भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को इस देश की विविध आर्थिक समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। मिसाल के तौर पर यह सोचना चाहिए कि भारतवर्ष दूसरे देशों से गरीब क्यों है, यहाँ सर्वसाधारण, खासकर किसान इतने ऋण-ग्रस्त या कर्जदार क्यों हैं, उनका उद्धार किस प्रकार हो सकता है, हमारे ग्रामों की वर्त्तमान दशा कैसी शोचनीय है, उसे किस तरह सुधारा जाना चाहिए, विदेशी माल की इतनी खपत क्यों होती है, हमें अपने उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए किन-किन उपायों को काम में लाना चाहिए, साधारण, भारतवासियों का रहन-सहन कितना नीचे दर्जे का है, उसे किस प्रकार ऊंचा किया जा सकता है, इत्यादि। आज दिन संसार के कई औद्योगिक देशों में पूँजीवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद उसी का रूपान्तर है, और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही है, जिसे समाजवाद कहा जाता है। यह लहर बढ़ती जा रही है। और, क्योंकि इस समय संसार में वैज्ञानिक उन्नति के कारण, कोई विचार-धारा बहुत मुद्दत तक किसी खास क्षेत्र में बन्द नहीं रहती; हम चाहें, या न चाहें, हमारे यहाँ भी विश्वव्यापी आर्थिक समस्याओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि यहाँ किस सीमा तक तथा किस रूप में साम्यवाद या समाजवाद के प्रचार होने की संभावना है।

अध्ययन की आवश्यकता—अर्थशास्त्र मनुष्यों के रोजमर्रा के काम का विषय है। प्रत्येक देश के आदमियों की भोजन वस्त्रादि की कुछ आवश्यकताएं होती हैं, जिनको पूरा किये बिना निर्वाह ही नहीं हो सकता। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के नियम क्या हैं, इनमें देश और समाज की परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ता है, इत्यादि बातों का ज्ञान हमें अर्थशास्त्र से मिलता है; इसलिए इसके अध्ययन की आवश्यकता साफ ज़ाहिर है। फिर, इस समय तो यह

आवश्यकता और भी अधिक है; कारण, आजकल लोगों का रहन-सहन सरल नहीं है, रोजमर्रा की ज़रूरतें बढ़ गयी हैं, उनकी पूर्ति में ही जीवन का बहुत-सा समय और शक्ति लगानी पड़ती है—मानव जीवन अधिकतर आर्थिक विषयों में लगा रहता है, यहाँ तक कि इस युग को 'अर्थ-युग' कहना बहुत कुछ ठीक है। संसार आर्थिक चिन्ताओं और अर्थ-संकट में फसा हुआ है। भारतवर्ष की ता आर्थिक स्थिति और भी खराब है। चिरकाल तक सोने की चिड़िया समझी जाने-वाली, दूध-दही की नदियों के वास्ते विख्यात, आज इस भूमि की यह दशा है कि यहाँ करोड़ों आदमियों को रूखा-सूखा भोजन भी भर-पेट नहीं मिलता। यह देश पहले अपने वस्त्र ये दूसरे देशों के निवा-सियों की लज्जा निवारण करता था, आज अपनी सन्तान को शरीर ढकने, और सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए काफी वस्त्र नहीं देता। इन बातों से विशाल भवनों में रहनेवालों, सरकारी दफ़रों में काम करनेवालों, तथा केवल सरकारी रिपोर्टों के आधार पर ज्ञान प्राप्त करनेवालों को भले ही आश्चर्य हो; बड़े-बड़े नगरों में जल्दी-जल्दी सैर-सपाटा करनेवाले रईसों और शाही यात्रियों को चाहे ये बातें कुछ बढ़ा कर कही हुई जान पड़ें, जनता से हिलमिल कर रहनेवालों को इनकी सचाई सहज ही मालूम हो सकती है। कोई आदमी देश के बड़े-बड़े बाजारों और मुख्य मुख्य सड़कों को छोड़कर, अन्दरूनी भागों में जाय, गाँवों और कस्बों में कुछ समय साधारण लोगों के साथ रहे तो उसे हमारे कथन का प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना न रहेगा। आर्थिक दृष्टि से इस दीन-हीन देश के उत्थान में भाग लेने के अभिलाषी, प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी और हित-चिन्तक का यह अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है कि वह भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करे, और यहाँ की आर्थिक समस्याओं का विचार करे।

भारतवर्ष के आर्थिक प्रश्नों पर भली भाँति विचार करने के लिए, इसके भिन्न-भिन्न भागों की आर्थिक परिस्थिति तथा विविध समस्याओं

की सूक्ष्म जाँच करने की बड़ी आवश्यकता है। भारतीय अर्थशास्त्र के जिज्ञासुओं को भारतीय जनता के सम्पर्क में आना चाहिए; और, क्योंकि यह देश अधिकांश में गाँवों का देश है, अधिकतर जनता गाँवों में रहती है, यहाँ के ग्राम-जीवन के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है। इस पुस्तक में, जो अपने महान विषय के विचार से बहुत छोटी ही है, कुछ मूल प्रश्नों या स्थूल बातों की भी साधारण ही विवेचना की जा सकती है।

दूसरा अध्याय
अर्थशास्त्र के भाग

अर्थशास्त्र का विवेचन करने के लिए इसे कितने भागों में बांटा जाय, यह बात बहुत-कुछ लेखक की रुचि या शैली पर निर्भर है। साधारण तौर पर इसके पाँच भाग किये जाते हैं:—धन की उत्पत्ति, उपभोग, मुद्रा और बैंक, विनिमय, और वितरण। इस अध्याय में हम यह बतलाते हैं कि इन शब्दों का अर्थशास्त्र में क्या मतलब होता है। पहले उत्पत्ति को लीजिए।

उत्पत्ति—किसी चीज में उपयोगिता पैदा करना या बढ़ाना अर्थशास्त्र में उत्पत्ति कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक दर्ज़ी कोट सी रहा है। वह कपड़े को थान में से काट-काट कर उसे ऐसे रूप में बदल रहा है कि पहननेवाले के लिए अधिक उपयोगी हो जाय। जुलाहे का काम देखो वह सूत को ऐसे रूप में बदल रहा है कि कपड़ा बन जाय और दर्जी के लिए उसकी उपयोगिता बढ़ जाय। इसी तरह कातनेवाले के काम को लो, उसने कपास को ऐसे रूप में बदल दिया है कि सूत बन गया है, जो जुलाहे के लिए अधिक उपयोगी है। अच्छा, क्या कपास की खेती करनेवाले ने कुछ नयी चीज़ पैदा नहीं

की ? विचार करके देखा जाय, तो उसने उसके बीज (बिनौले) को इस तरह खेत में रखा और उसे खाद तथा पानी आदि दिया कि वह बीज उनके तथा हवा के अंशों को लेकर ऐसे रूप में बदल गया कि उसकी पहले से अधिक उपयोगी वस्तु बन गयी। इसी तरह भेड़ का ऊन भी कोई नयी चीज़ नहीं है। यह उपयोगी ऊन उस खुराक से बना है, जो भेड़ ने खायी है, और यह खूराक उसी प्रकार मिट्टी, पानी और हवा से बनी है, जैसे कपास बनी थी। इस प्रकार असल में मनुष्य कोई नयी चीज़ पैदा नहीं कर सकता, वह केवल उपयोगिता पैदा करता है। इसी को हम उत्पादन-कार्य कहा करते हैं।

क्या व्यापारी का कार्य उत्पादक है ? इसकी भी हमें उपयोगिता के विचार से ही जाँच करनी चाहिए। व्यापारी विविध वस्तुओं को ऐसे स्थान पर पहुँचाते हैं, जहाँ वे पहले की अपेक्षा अधिक आवश्यक अथवा अधिक उपयोगी हो जाती हैं। उदाहरण के लिए कोयले की खान पर पड़े हुए कोयले को किसी कारखाने में पहुँचा देने से उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

एक आदमी से दूसरे आदमी के पास पहुँचने से भी, चीज़ों की उपयोगिता में अंतर आ जाता है। जिस आदमी के पास एक हज़ार मन अन्न भरा हुआ है, उसके लिए वह इतना उपयोगी नहीं है, जितना वह छोटे-छोटे सौदागरों के पास जाकर हो जाता है। साधारण गृहस्थों के यहाँ उस अन्न की उपयोगिता और भी अधिक हो जाती है। इसलिए किसी चीज़को बड़े-बड़े व्यापारियों से लेकर साधारण श्रेणी के आदमियों के पास पहुंचाने का कार्य भी उसकी उपयोगिता बढ़ाना है।

बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं, जो एक समय बहुत उपयोगी नहीं होतीं, लेकिन दूसरे समय उनकी बहुत माँग हो जाती है। अपनी-अपनी ऋतु में बहुत सी घास जड़ी-बूटियाँ अपने आप ही बड़ी मात्रा में पैदा हो जाती है। जिस समय उनकी पैदा होने की ऋतु न हो, उस समय तक उन्हें संग्रह करके रखने से उनकी उपयोगिता बढ़ती है। रुपया

बैंक में जमा करना या ब्याज पर उधार देना भी उपयोगिता बढ़ाने का उदाहरण है; ऐसा करने से रुपया सुरक्षित रहता है, और ब्याज के रूप में उसकी जो वृद्धि होती है, वह रही अलग। विज्ञापन या इश्तहार देने से वस्तुओं की माँग दूर-दूर तक होती है, उनकी बिक्री बढ़ती है। इसलिए विज्ञापन देना भी उपयोगिता बढ़ाने का काम है।

ऊपर, पदार्थों के रूप, स्थान, समय या अधिकारी में परिवर्तन होने से उत्पत्ति की, अर्थात् उपयोगिता बढ़ाने की बात समझायी गयी है। ये परिवर्तन भौतिक है। उनके बिना भी उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिए मदारी, नट, नर्तक गवैये आदि अपनी कला से दर्शकों और श्रोताओं को खुश करते हैं, उनकी आवश्यकता पूरी करते हैं, इसलिए अर्थशास्त्र की दृष्टि से ये भी उत्पादक है। इस प्रकार जज, पुलिस का सिपाही, सैनिक, डाक्टर, अध्यापक, तथा घरू नौकर आदि अपनी सेवा से लोगों की तरह तरह की ज़रूरतें पूरी करते हैं, और इसलिए उत्पादक हैं। इसके अलावा दुकानदार, वकील, डाक्टर या पंडे आदि की प्रसिद्धि या ख्याति की भी उपयोगिता या आर्थिक मूल्य होने से उसे बढ़ाने की क्रिया अर्थशास्त्र में उत्पत्ति कही जाती है। ये लोग सर्वसाधारण से जितना मेलजोल बढ़ाते हैं, उतना ही इन्हें ग्राहक, मुवक्किल, मरीज़ या जजमान अधिक मिलते हैं। इस तरह कुछ दशाओं में जनता से मेलजोल करना भी उपयोगिता बढ़ाने का अर्थात् धनोत्पत्ति का कार्य है।

अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के दो भेद हैं, भौतिक और अ-भौतिक। भौतिक उत्पत्ति में किसी पदार्थ का रूप, स्थान आदि परिवर्तन करके उसकी आर्थिक उपयोगिता बढ़ायी जाती है, और अ-भौतिक उत्पत्ति में कोई ऐसा सेवा-कार्य करके आदमियों की ज़रूरतें पूरी की जाती है, जिसके बदले में धन मिले।

उत्पत्ति के साधन—प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भूमि या प्रकृति,

श्रम या मज़दूरी, और पूँजी—ये तीन ही उत्पत्ति के साधन माने थे। लेकिन अब इनके अलावा व्यवस्था (अर्थात् प्रबंध और साहस) को भी उत्पत्ति का साधन माना जाता है, इस तरह आधुनिक मत से उत्पत्ति के चार साधन है।

कल्पना कीजिए, अन्न उत्पन्न करना है। खेती के लिए भूमि की आवश्यकता होगी, किसान को हल चलाने और पानी देने आदि में मेहनत करनी होगी, साथ ही उसे बीज, बैल आदि ऐसी चीज़ों की भी ज़रूरत होगी, जिन्हें हम उसकी पूँजी कह सकते है। इस तरह अनाज आदि कच्चे पदार्थ पैदा करने के लिए भूमि, श्रम और पूँजी की आवश्यकता होती है। अब तैयार माल बनाने का उदाहरण लें; कपड़ा सीने के काम का विचार करें। दर्ज़ी को, उसके बैठने के वास्ते स्थान (दुकान आदि) चाहिए; यह भूमि हुई। उसे इस कार्य में श्रम करना होता ही है। उसे कपड़े, सुई-डोरे आदि की ज़रूरत होती है, ये चीज़ें उसकी पूँजी हैं। इसी प्रकार लुहार, बढ़ई, जुलाहे आदि के कार्य का विचार किया जा सकता है। निदान, कच्चा माल हो या तैयार; भौतिक उत्पत्ति में इन तीन साधनों की ज़रूरत होती है। अच्छा, अ-भौतिक उत्पति के सम्बन्ध में क्या बात है? मिसाल के तौर पर अध्यापक के कार्य पर विचार करें। उसे पढ़ाने का काम करने के लिए स्थान (पाठशाला या मकान) चाहिए यह भूमि हुई। उसे श्रम करना पड़ता है, यह साफ़ ज़ाहिर है। और, वह अपना काम करने योग्य तभी हुआ है, जब उसने पहले खुद शिक्षा पा ली है, जिसमें कुछ धन खर्च हुआ है। उस खर्च किये हुए धन के कारण उसे अब अधिक धन मिलता है, इसलिए वह धन पूँजी है। इसी तरह जज, सैनिक, या डाक्टर, आदि द्वारा होनेवाली अ-भौतिक उत्पत्ति के तीन साधन होते हैं। अस्तु, भौतिक एवं अ-भौतिक उत्पत्ति के तीन साधन साफ मालूम हो गये,—भूमि श्रम, और पूँजी। अब चौथे साधन—व्यवस्था—का विचार करें।

उत्पत्ति के साधनों में व्यवस्था को पहले अलग नहीं गिना जाता था। लेकिन अब कल-कारख़ानों में इकट्ठे बहुत-से आदमियों और बड़ी-बड़ी पूँजी से उत्पत्ति का काम होता है। इससे प्रबंध, इन्तज़ाम या निरीक्षण की आवश्यकता बढ़ गयी है। साथ ही कार्य बड़ा होने के कारण उसके संचालन की ज़िम्मेदारी या जोखम अथवा साहस भी बहुत होता है। अब व्यवस्था का महत्व बहुत बढ़ गया है। व्यवस्था में प्रबंध और साहस दोनों ही समझे जाते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के ये साधन हुए—(१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूंजी, और (४) व्यवस्था, अर्थात् प्रबंध और साहस। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब साधन हर प्रकार की उत्पत्ति में अलग-अलग रूप से काम करते हुए दिखायी दें। सब का महत्व भी हमेशा बराबर नहीं होता। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में भूमि और श्रम की प्रधानता रहती थी, आज-कल पूंजी और व्यवस्था का महत्व बहुत बढ़ गया है।

उत्पत्ति के साधनों में भूमि तो प्रकृति या कुदरत की देन है, दूसरे साधन मनुष्य (पुरुष) सम्बन्धी हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष से हुई; अर्थशास्त्र भी सृष्टि की धनोत्पत्ति सम्बन्धी विविध क्रियाओं का मूल कारण इन्हें ही बताता है।

अब उत्पत्ति के एक-एक साधन की बात लें। भूमि में यह विचार किया जाता है कि देश की प्राकृतिक या कुदरती ताकत कितनी है, जल-वायु, वर्षा, नदी, पहाड़, जंगल, खान आदि कहाँ तक उत्पादन कार्य में सहायक हैं, और उन्हें कहाँ तक उपयोग में लाया जा रहा है। श्रम, मेहनत या मज़दूरी में जनता के सम्बंध में विचार होता है, जनसंख्या कितनी है, वह देश की उत्पादन शक्ति की तुलना में अधिक तो नहीं है, वह कहाँ तक बढ़ रही है, उसका स्वास्थ्य, शिक्षा, कुशलता आदि कैसी है, और देश की धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक स्थिति का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है; श्रम करने की विधि कैसी है, और मज़दूर कहाँ तक अपनी योग्यता का उपयोग कर

सकते हैं। पूंजी के सम्बन्ध में यह सोचा जाता है कि देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के पास कितनी पूँजी है, उससे कहाँ तक धन पैदा किया जाता है, वह किस तरह बढ़ायी जानी चाहिए, क्या विदेशी पूँजी का उपयोग लाभकारी है। व्यवस्था के बारे में विचार करने की बातें ये होती हैं कि आधुनिक उत्पादन में इस की विशेष आवश्यकता क्यों होती है, कल-कारखानों में मज़दूरों के स्वार्थ तथा उनके कुशल-क्षेम आदि के लिए किन-किन उपायों को काम में लाया जाना चाहिए। इन बातों के अलावा उत्पत्ति में खेती और उद्योग-धन्धों की स्थिति तथा उन्नति पर भी प्रकाश डाला जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र में इस प्रसंग में इस विषय का भी विचार करना ज़रूरी है कि देश में जो उत्पादन कार्य हो, उसमें एक आदर्श हो, उसमें धार्मिक अर्थात् नैतिक नियमों की अवहेलना न की जाय। असल में धन तो सिर्फ एक साधन है, वह मनुष्य-समाज के लिए है। मानव समाज का अहित करके धन पैदा करना भारतीयों को, और हम कह सकते हैं, कि किसी भी ज्ञानवान आदमी को अच्छा नहीं लगना चाहिए। उत्पत्ति का इतना विचार हो चुकने पर अब हम अर्थशास्त्र के दूसरे भाग—'उपभोग'—के विषय को साफ करते हैं।

उपभोग—अर्थशास्त्र में वस्तुओं के सभी प्रकार के ख़र्च को उपभोग नहीं कहा जाता। यह विचार करना होता है कि उस वस्तु के ख़र्च होने से किसी आदमी को तृप्ति या संतुष्टि मिली या नहीं। उदाहरण के लिए एक आदमी एक रोटी खाता है, और दूसरा एक रोटी को आग में फेंक कर जला डालता है। दोनों दशाओं में रोटी खर्च हो गयी, उसकी उपयोगिता नष्ट हो गयी। परन्तु पहली दशा में रोटी से खानेवाले की संतुष्टि हुई, इस दशा में रोटी का उपभोग हुआ, यह कहा जायगा। इसके विपरीत, दूसरी दशा में रोटी के जलने से किसी आदमी की संतुष्टि नहीं हुई, इस दशा में, अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसका उपभोग होना नहीं माना जायगा।

अच्छा, एक कारखाने में कोयला ख़र्च होता है, उसके जलने से उसकी उपयोगिता नष्ट होती है। इसी प्रकार वहाँ मशीन धीरे-धीरे घिसती है, क्रमशः उसकी उपयोगिता घटती जाती है। क्या इसे उपभोग कहा जायगा? यहाँ विचारने की बात यह है कि यद्यपि कोयले और मशीन के उपयोग से जो वस्तुएँ बनेंगी, उनसे मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, कोयले और मशीन के उपयोग का जो उद्देश्य उस समय सामने है वह किसी आदमी की तृप्ति या संतुष्टि नहीं है बल्कि और अधिक धन की उत्पत्ति है, इसलिए इस क्रिया को, अर्थशास्त्र में उपभोग न कह कर उत्पत्ति कहा जायगा।

अस्तु अर्थशास्त्र में उपभोग का आशय किसी वस्तु (या सेवा) के ऐसे उपयोग से होता है, जिससे किसी आदमी की तृप्ति या संतुष्टि हो। अर्थशास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि मनुष्य जो तरह-तरह के पदार्थों का उपभोग करते हैं, वह कहाँ तक उनके देश के लिए हितकर है, और किन दशाओं में वह हानिकर है। इसी में परिवार या कुटुम्बों की आय-व्यय का भी विचार होता है, और यह भी सोचा जाता कि रहन-सहन का दर्जा कहाँ तक घटाना या बढ़ाना उपयोगी है, एवं वस्तुओं के उपभोग से अधिक-से-अधिक संतुष्टि किस प्रकार मिल सकती है।

मुद्रा और बैंकिंग—कोई मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी चीज़ें खुद ही पैदा नहीं कर सकता। हमें अकसर अपने गुजारे के लिए भी दूसरों की पैदा की हुई या बनायी हुई चीज़ों की ज़रूरत होती है। ये चीज़ें तभी मिल सकती है, जब हम उनके मालिक को बदले में कुछ अपने परिश्रम या मेहनत का फल दें। निदान, अदल-बदल समाज में रहनेवाले आदमी के लिए बहुत ही ज़रूरी है, इसके बिना उसका काम नहीं चलता। परन्तु हर समय हर एक चीज़ के अदल-बदल का सुभीता नहीं होता, इसलिए समाज ने बड़े अनुभव से इस कार्य के लिए एक माध्यम या मुद्रा का निश्चय किया है। मुद्रा या सिक्कों से विशेष संबंध

रखनेवाली संस्थाएँ बैंक कहलाती हैं।

अर्थशास्त्र में मुद्रा और बैंक के बारे में यह विचार किया जाता है कि देश में मुद्रा किस धातु की और कितनी होनी चाहिए, तथा उसका विदेशी मुद्राओं से विनिमय किस दर से होना चाहिए, काग़ज़ी मुद्रा का चलन किस हद तक होना उचित है, उसके सम्बन्ध में किन नियमों का पालन होना ज़रूरी है, बैङ्क किस-किस उद्देश्य से खोले जाते हैं, उनका संचालन किस प्रकार किया जाय कि उनका दिवाला न निकले और उनसे जनता को यथेष्ट लाभ होता रहे।

विनिमय—पदार्थों का अदल-बदल इसलिए होता है कि दोनों पक्षवालों को सुभीता हो; और, तभी तक होता है, जब तक कि दोनों को लाभ होता रहे। किसी भी पक्ष का लाभ हटते ही यह कार्य बन्द हो जायगा। जब दो चीजों का अदल-बदल होता है, तो उनके परिमाण, राशि या मात्रा में कुछ अनुपात-सम्बन्ध रहता है, अर्थात एक वस्तु के कुछ परिमाण के बदले. कुछ परिमाण में दूसरी वस्तु दी जाती है। इसे हमउसका मूल्य कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि दस सेर चावल के बदले बीस सेर गेहूँ मिलें, तो दस सेर चावल का मूल्य बीस सेर गेहूँ हुआ, यानी एक सेर चावल का मूल्य दो सेर गेहूँ हुआ। जब किसी वस्तु की एक-इकाई का मूल्य मुद्रा में बताया जाता है, तो हम उसे उस चीज़ की क़ीमत कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में यदि एक सेर गेहूँ का मूल्य दो आने हो, तो गेहूँ की कीमत दो आने फी सेर हुई। पदार्थों को ऐसे हिसाब से लेना-देना आधुनिक समय का विनिमय है। पुराने समय में, जब मुद्रा का प्रचार नहीं था, पदार्थों का अदल-बदल ही विनिमय था।

अर्थशास्त्र में विनिमय के बारे में यह विचार किया जाता है, कि देश के जुदा-जुदा स्थानों में तथा विदेशों में कहाँ तक कैसी-कैसी वस्तुओं का व्यापार होता है, उसमें क्या बाधाएँ हैं, और उन बाधाओं को किस प्रकार हटाया जा सकता है; विदेशी व्यापार से देश को

कोई हानि तो नहीं हो रही है, सरकार की व्यापार-नीति क्या होनी चाहिए, वह विदेशों को भेजे जाने वाले या वहाँ से आने वाले माल पर, यानी आयात-निर्यात के पदार्थों पर, कर लगाने में किन-किन बातों का ध्यान रखे।

वितरण—धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों को उनका प्रतिफल मिलने का नाम अर्थशास्त्र में वितरण है। भूमि वाले को लगान, श्रम करनेवाले को वेतन, पूँजीवाले को सूद, व्यवस्था करनेवाले को मुनाफ़ा मिलता है। संभव है, किसी-किसी उत्पादन कार्य में दो या अधिक उत्पादक साधनों का प्रतिफल पाने का अधिकारी एक ही आदमी हो, या कुछ आदमियों का एक समूह हो, तथापि हरेक के प्रतिफल का अलग-अलग मोटा हिसाब लगाया जा सकता है।

आजकल प्रायः उत्पादकों को उत्पन्न वस्तु का हिस्सा न देकर ऐसी रक़म दे दी जाती है, जो उनके हिस्से की वस्तु के मूल्य के बराबर हो। किसी वस्तु से प्राप्त होने वाले कुल मूल्य को कुल उपज रक़म कहते हैं। उसमें से उस वस्तु में लगी हुई कच्ची सामग्री और कारख़ाने की टूट-फूट की सँभाल तथा बीमे आदि की रक़म निकाल देने पर जो रक़म शेष बचती है, उसे वास्तविक या असली उपज रक़म कहते हैं। उत्पादक साधनों के मालिकों में असली उपज रक़म का ही वितरण होता है। अर्थशास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि इन मालिकों को लगान, वेतन, सूद आदि किस हिसाब से मिलना चाहिए; ऐसा तो नहीं होता कि भूमि वाला या पूँजी वाला अथवा व्यवस्थापक उत्पन्न धन में से इतना अधिक भाग लेते कि श्रमियों के लिए बहुत कम रह जाय, और सर्वसाधारण जनता की माली हालत ख़राब हो; देश में धन-वितरण यथा-सम्भव समान हो; ऐसा असमान न हो कि उससे असंतोष जाहिर करनेवाले विविध आन्दोलनों की नौबत आये।

अर्थशास्त्र के विविध भागों—उत्पत्ति, उपभोग, मुद्रा और बैंकिंग, विनिमय, और वितरण—का आगे अलग-अलग वर्णन करेंगे।

दूसरा भाग

उत्पत्ति



पहला अध्याय

भारत-भूमि



प्राक्कथन—जैसा कि पहले कह आये हैं, धनोत्पत्ति में भूमि का एक खास और महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के काम में आनेवाले सब पदार्थ, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, भूमि से ही पैदा हुए हैं। भूमि प्रकृति की देन है। इसे मनुष्य ने नहीं बनाया, यह उसे बिना श्रम तथा बिना मूल्य मिली हुई है। प्रकृति से मिले हुए दूसरे पदार्थों में और भूमि में एक अन्तर है। दूसरे पदार्थ हवा, पानी आदि अपरिमित हैं, परन्तु भूमि की मात्रा (क्षेत्रफल) परिमित है। कोशिश करने पर दलदलवाली, समुद्र के किनारे की, रेगिस्तान या पर्वत आदि की कुछ भूमि अधिक उपयोगी बनायी जा सकती है, लेकिन उसमें बहुत समय लगता है, साथ ही उसे हम जितना चाहें उतना नहीं बढ़ा सकते; जितनी भूमि है, मनुष्य की आवश्यकता उससे अधिक की ही होती जाती है। हवा आदि में यह बात नहीं; साधारण तौर पर वह जितनी चाहे उतनी खर्च कर ली जाय, उसके बारे में किसी का यह विचार नहीं होता कि यह मुझे कम मिलती है, दूसरे को ज्यादह।

धन की उत्पत्ति में पृथ्वी के ऊपर के तल के अलावा उसके भीतरी भाग (भू-गर्भ), जल-वायु, वर्षा आदि का भी प्रभाव पड़ता है। इन

सब को भूमि के ही अंतर्गत समझा जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के अनुसार भूमि में वे सब उपयोगी वस्तुएँ आ जाती हैं, जो मनुष्य ने न बनायी हों। मिसाल के तौर पर जंगल, पहाड़, खान, नदी, झील, तालाब, और समुद्र आदि, और इनसे अपने आप बिना मेहनत मिलने वाले विविध पदार्थ—लकड़ी, पशु-पक्षी, औषधियाँ, धातुएँ, शंख, मोती, मछलियाँ आदि—भी भूमि में ही शामिल है। इसी तरह जल-शक्ति, वायु-शक्ति, सूर्य का प्रकाश आदि भी भूमि के ही अंतर्गत हैं। इस अध्याय में भारतवर्ष संबंधी इन बातों का विचार किया जायगा।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति—भारतवर्ष एक विशाल भूखंड है। इसके उत्तर में हिमालय की ऊँची, बर्फ़ से ढकी दीवार है; बाकी तीन तरफ यह समुद्र से घिरा हुआ है। जुदा-जुदा जल-वायु, तरह तरह की भूमि, विचित्र-विचित्र दृश्य और भाँति भाँति की पैदावार देकर मानो प्रकृति ने इसे जगत् की प्रदर्शिनी या नुमायश बनादिया है। ऐसी कोई चीज़ नहीं, जो यहाँ पैदा न हो सकती हो। कच्चे पदार्थों का भंडार होने के कारण इसे औद्योगिक पदार्थों की आवश्यकता पूरी करने के लिए खास प्राकृतिक सुविधा प्राप्त है। पूर्वी गोलार्द्ध का केंद्र होने से इसकी स्थिति एशिया, योरप और अफ्रीका से व्यापार करने के लिए बहुत अनुकूल है। हाँ, इसे एक बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है, यहाँ अच्छे बन्दरगाहों की कमी है। करीब तीन हज़ार मील लम्बा समुद्र-तट होते हुए भी, यहाँ व्यापार के लिए अच्छे उपयोगी बन्दरगाह इने-गिने हैं। इस विषय का विशेष विचार व्यापार के सिलसिले में किया जायगा। भीतरी आमदरफ़्त के विचार से दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत की स्थिति अच्छी है; कारण कि वहाँ पर एक तो ऐसी नदियाँ हैं, जिनमें नाव अच्छी तरह जा-आ सकती हैं, दूसरे, वहाँ सड़कें और रेलें बनाने में बहुत सुविधा रहती है, जबकि दक्षिण में पहाड़ या पथरीली भूमि होने से इसमें बड़ी कठिनाई होती है।

विस्तार—मोटे हिसाब से भारतवर्ष (जिसमें अबबर्मा शामिल नहीं है) का क्षेत्रफल १६ लाख वर्ग मील है, इसमें से पौने नौ लाख वर्ग मील ब्रिटिश भारत में है, और शेष देशी रियासतों में।

प्राकृतिक भाग—भारतवर्ष प्राकृतिक रूप से चार भागों में बटा हुआ है :—(१) उत्तरी पहाड़ी भाग, (२) सिंध गंगा का मैदान (३) दक्षिण भारत, और (४) समुद्र-तट।

उत्तरी पहाड़ी भाग में हिमालय १५०० मील तक बल खाता हुआ चला गया है। इस भाग की अधिक से अधिक चौड़ाई २०० मील है। हिमालय बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा उत्तरी भारत को हरा-भरा रखता है। इसके पश्चिमी भाग का जल विविध नदियों में बहकर सिंध में, तथा पूर्वीय भाग का गंगा में जा मिलता है। इस भाग में बड़े मैदान नहीं हैं। यहां तरह-तरह की लकड़ियाँ और वनौषधियाँ (जंगली दवाइयाँ) पैदा होती हैं। पहाड़ी नालों के जल में बिजली का बड़ा भंडार जमा है, परन्तु देश में विज्ञान का प्रचार कम होने से इसका अभी काफी उपयोग नहीं किया जाता।

सिंध गंगा का मैदान हिमालय से निकली हुई नदियों की घाटियों से बना हुआ है, और हिमालय की पश्चिमी शाखाओं से पूर्वी शाखाओं तक फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्ग मील से अधिक है; सारा उत्तरी भारत इसमें सम्मिलित है। पश्चिमी रेतीले भाग को छोड़कर, यह बहुत उपजाऊ, व्यापार के अनुकूल, और धनी आबादी-वाला है। सिन्ध और गङ्गा आदि से इसकी सिंचाई अच्छी तरह हो जाती है।

दक्षिणी भारत सिन्ध और गङ्गा के मैदान के दक्षिण में पहाड़ों से घिरा हुआ तिकोना पठार (ऊँचा मैदान) है। इसमें छोटे-छोटे पेड़ और झाड़ियाँ अधिक हैं; जहाँ पानी बहुत है या निकट है, वहाँ बड़े-बड़े वृक्षों के जङ्गल भी हैं। पत्थरों से बनी हुई मिट्टी काले रङ्ग की है।

इसमें आना-जाना मुश्किल है, सड़कें और रेलें कठिनाई से बनती हैं। इस पठार की ऊँचाई १२०० से लेकर ३००० फुट तक है। यह भारतवर्ष के ऊपर बताये हुए दोनों भागों से ऊँचा तथा पुराना (अधिक उम्रवाला) है।

दक्षिण के पठार के पूर्व और पश्चिम में समुद्र-तट का मैदान है। इसका बहुत सा भाग समुद्र-जल से ढका हुआ है, जो अधिक-से-अधिक दो सौ गज़ गहरा है। पश्चिमी समुद्र-तट की चौड़ाई २० मील से ६० मील तक है। पूर्वी समुद्र-तट की चौढ़ाई ५० मील से १०० मील तक है। इन समुद्र-तटों में नारियल के पेड़ बहुत होते हैं, और इनमें पैदावार अच्छी होती है।

जल-वायु और उसका आर्थिक प्रभाव—भारतवर्ष भू-मध्यरेखा के पास (उत्तर में) है, परन्तु तीन तरफ समुद्र से घिरा होने के कारण यहाँ गर्मी का प्रभाव बहुत अधिक नहीं होने पाता। ज़मीन की सतह या धरातल समुद्र से कहीं तो अधिक ऊँचा है और कहीं कम। इससे सारे देश में एक ही तरह का जल-वायु नहीं रहता। अकसर दक्षिण में गरमी और उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में सर्दी रहती है; बीच में तरह-तरह की जल-वायु मिलती है। मध्यभारत और राजपूताना समुद्र से दूर हैं और सूखे हैं। अतएव ये प्रायः जाड़े में शीतल और गरमियों में बहुत गर्म रहते हैं।

भारतवर्ष जैसे प्राकृतिक शक्ति वाले देशों में थोड़ा-सा ही परिश्रम करने से शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। गरम भागों में कपड़े की खास ज़रूरत नहीं होती। मामूली आदमी वर्ष का अधिक समय केवल लँगोट या अँगोछा पहने बिता देता है। भोजन भी कम ही चाहिए। मकान की भी बहुत ज़रूरत नहीं होती। गरम देश में मनुष्य जल्दी थक जाते हैं, और बहुधा आरामतलब, रोगी, व्यसनी, दुर्बल, और अल्पायु अर्थात् कम उम्र वाले होते हैं।

विज्ञान की सहायता से मनुष्य जल-वायु को कुछ हद तक बदल कर अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रहा है। मिसाल के तौर पर यह विचार किया जा रहा है कि रेगिस्तान मे बड़ी-बड़ी नहरें निकालने, तथा बड़े पैमाने पर पेड़ लगाने से जल-वायु में अन्तर किया जाय। भारतवर्ष में अभी विज्ञान का इस दिशा में प्रचार तथा प्रयोग नहीं हुआ है। और, यह काम है भी इतने खर्च का, कि सरकार ही इसका बीड़ा उठा सकती है।

वर्षा और उसका आर्थिक प्रभाव—कृषि-प्रधान देश होने के कारण, यहाँ पैदावार को वर्षा का बहुत आसरा रहता है। ज़रूरत से अधिक या कम वारिश होने से फ़सलें मारी जाती हैं, और बहुत से आदमियों की जीवन-संग्राम की कठिनाई बढ़ जाती है। वर्षा की मात्रा अलग-अलग होने से भारतवर्ष के किसी हिस्से में एक चीज़ की फसल होती है, और किसी में दूसरी चीज़ की। और, देश में लगभग सभी चीजें पैदा होती हैं। जनसंख्या का आधार भी कुछ अंश में वर्षा की मात्रा ही है; जहाँ वर्षा अच्छी होती है, और लोगों को खाने को आसानी से मिलता है, वहाँ आबादी प्रायः घनी होती है।

वर्षा के सम्बन्ध में, अन्य देशों से यहाँ यह विशेषता है कि साल में दो मौसमी हवाएँ निश्चित हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पहाड़ आदि के कारण उनकी दिशा बदल जाती है, अप्रेल से सितम्बर तक दक्षिण-पश्चिम या समुद्र की तरफ से, और अक्तूबर से मार्च तक उत्तर-पूर्व अर्थात् स्थल या खुश्की की ओर से हवा चलती है। इनमें से पहली हवा से ही वर्षा विशेष होती है।

मोटे हिसाब से, वर्षा की दृष्टि से, भारतवर्ष के चार हिस्से किये जा सकते हैं:—

(१) अधिक वर्षा वाला। सौ इंच से ऊपर वर्षा पश्चिमी तट, गंगा के डेल्टा, आसाम और सुरमाघाटी में होती है।

(२) अच्छी वर्षा वाला। चालीस से अस्सी इंच तक वर्षा गंगा की घाटी में इलाहाबाद तक, और पूर्वी तट पर होती है।

(३) खुश्क या सूखा। बीस से चालीस इंच तक वर्षा दक्षिण में, और मध्यभारत के पठार मे होती है।

(४) बहुत खुश्क। एक से दस इंच तक वर्षा अरावली पर्वत के पश्चिम में, सिन्ध और बिलोचिस्तान में होती है।

अकसर यह ख्याल किया जाता है कि भारतवर्ष में जिस साल कम वर्षा होती है, उसी साल अकाल अधिक पड़ते हैं; पर यह बात पूरे तौर पर सत्य नहीं है। अकालों का मुख्य कारण जनता की बढ़ती हुई गरीबी भी है। वर्षा की बहुधा यहाँ कमी नहीं रहती; परन्तु इस देश में उसका पानी संचित करके नहीं रखा जाता; वह भूमि में जज़्ब हो जाता है, अथवा नदियों द्वारा समुद्र में बह जाता है। उसे बड़ी-बड़ी झीलों में इकट्ठा करके उसका वैज्ञानिक रीति से बटवारा करने की ज़रूरत है। फिर यहाँ बहुत ज़्यादह वर्षा से, या फ़सल पक जाने के समय की वर्षा से, कई स्थानों में बड़ी हानि होती है। डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि पश्चिमी देशों में ऐसे अवसर पर बादलों को तोपों से उड़ा देते हैं। कुछ वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहे हैं कि आवश्कता प्रतीत होने पर, बिजली के द्वारा वर्षा करायी जा सके।

हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों के होने का उल्लेख पाया जाता है, जिनका उद्देश्य वर्षा कराना था। आज-कल एक तो लोगों का हवन-यज्ञ आदि में विश्वास नहीं रहा, दूसरे, इन कामों में इतना अधिक खर्च होता है कि मामूली हैसियत के आदमी इन्हें नहीं कर सकते। अस्तु, भारतवर्ष में खेती वर्षा के भरोसे, या आबपाशी के सहारे ही की जाती है।

नदियों का आर्थिक प्रभाव—नदियों से व्यापार और कृषि में बड़ी सहायतः मिलती है। उनसे बने हुए डेल्टों और टापुओं की

भूमि बहुत उपजाऊ होती है। नदियों की बाढ़ से बहुधा गाँव नष्ट हो जाते हैं; खेती की उपज, पशु और अन्य माल-असबाब बह जाता है; लेकिन साथ ही उससे यह लाभ भी होता है कि कहीं-कहीं भूमि पर उपजाऊ मिट्टी के परत जम जाते हैं, सूखे और बंजर स्थानों में तरावट पहुँच जाती है, एवं ऊसर और रेहवाली मिट्टी बह जाती है। नदियों द्वारा, पहाड़ों से लकड़ियाँ और लट्ठे बहाकर मैदान में लाये जाते हैं। नदियों में से नहरें काटकर, वर्षा न होने के समय में भी खेती की जासकती है।

भारतवर्ष में पंजाब की पांचों नदी उसके अधिकांश भाग को हरा-भरा रखती हैं। उनके द्वारा इस प्रांत का माल सिन्ध तक जा सकता है। गंगा, जमुना ब्रह्मपुत्र, और गोदावरी तथा उनकी शाखाओं से पुर्वी भारत सींचा जाता है, और उनसे देश के कई हिस्से ऐसे मिले हैं कि खूब व्यापार हो सकता है। गंगा में एक हजार मील तक तथा ब्रह्मपुत्र और सिन्ध में ८०० मील तक बड़ी नाव या छोटे जहाज़ आ-जा सकते हैं। गंगा १५०० मील, और सिन्ध १८०० मील लम्बी है। दक्षिण भारत में नदियाँ छोटी हैं, और माल ढोने या सिंचाई करने के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं।

भूमि के भेद—ब्रिटिश भारत की कुल भूमि लगभग ५१ करोड़ एकड़ है। उपज के विचार से इसके भेद इस प्रकार है:—

१—जिसमें फसल बोयी जाती है	२१ करोड़ एकड़
२—जिसमें फसल नहीं बोयी जाती—	
(क) जंगल	७ ,, ,,
(ख) परती भूमि	५ ,, ,,
(ग) जिसमें खेती सम्भव है	९ ,, ,,
(घ) खेती के अयोग्य	९ ,, ,,
योग	५१ करोड़ एकड़

बोयी जाने वाली भूमि के बारे में पीछे, खेती के अध्याय में लिखा जायगा, यहाँ दूसरी ज़मीन का विचार करते हैं।

जंगल—इनका आर्थिक प्रभाव बहुत है—(क) ये बारिश के पानी को जल्दी बहकर चले जाने से रोकते हैं, और उसे ज़मीन में इकट्ठा करके उसे पीछे धीरेधीरे देते रहते हैं। (ख) पेड़ों के पत्ते हवा को तरी देकर उसकी गरमी कम करते हैं। (ग) इनसे पशुओं के चरने के लिए अच्छी चरागाहें होती हैं, तथा इमारतों और ईंधन आदि के लिए लकड़ी मिलती है। (घ) इनसे कई व्यवसाय-सम्बन्धी पदार्थ मिलते हैं, जैसे गोंद, रबड़, लाख, चमड़ा, रँगने के लिए पेड़ों की छाल, तारपीन, मसाले तथा कागज़ बनाने की घास आदि। (च) जंगलों से भूमि पर वर्षा भी अधिक होती है।

भारतवर्ष में पश्चिमी घाट, आसाम और हिमालय प्रदेश में घने-घने जंगल अधिक हैं, जिनकी लकड़ियाँ मकान बनाने के काम में आती हैं। पश्चिमी घाट के जंगल में, मध्यप्रान्त की बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे, और हिमालय की तलहटी में, साल के पेड़ होते हैं। सागौन के वृक्ष मालाबार में अधिक होते हैं; इसकी लकड़ी कड़ी और ठोस होती है, तथा दीमक न लगने के कारण बड़ी टिकाऊ रहती है। देवदार और चीड़ के पेड़ हिमालय में होते हैं। आबनूस के पेड़ मैसूर और मालाबार के जंगलों में, तथा चन्दन के पेड़ मैसूर के जंगलों में, होते हैं। नारियल के पेड़ समुद्र के किनारे ही अधिक होते हैं। अनन्नास और केला गरम और तर जलवायु में पाये जाते हैं। हिमालय के मुख्य फल सेव, नास्पाती और अखरोट हैं। सिन्ध और गंगा के मैदान का, तथा दक्षिण का मुख्य फल आम है।

जंगल को आग से बचाने और छोटे-छोटे पेड़ों को काटने से रोकने के लिए सरकारी जंगल-विभाग सन् १८६१ ई० में स्थापित हुआ था। इस विभाग ने उपयोगी पेड़ों के लगाने का भी प्रबन्ध किया है। मदरास में कपूर के पेड़ लगाने में सफलता हुई है। कई

प्रान्तों में महागनी और युकलिप्टस के पेड़ लगाने का प्रयत्न हो रहा है। लाख उपजाने की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। सरकार को इस विभाग से होनेवाला लाभ बढ़ रहा है; लकड़ी तथा जंगल की दूसरी पैदावार की बिक्री से उसे आमदनी होती है। इस के स्थापित होने से प्रजा को इतनी असुविधा भी हो गयी है कि बहुत-से स्थानों में लोगों को पशु चराने के लिए काफी भूमि नहीं मिलती; और लकड़ी के अभाव में गोबर के उपले अधिक जलाये जाने के कारण खेतों में खाद की कमी हो जाती है।

अन्य भूमि—परती भूमि के, तथा, जिस भूमि में खेती होना सम्भव है पर की नहीं जाती, उस के उपयोग का विचार आगे, खेती के सम्बन्ध में लिखते हुए, किया जायगा। कृषि के अयोग्य भूमि वह होती है, जिसमें कोई चीज़ पैदा नहीं हो सकती। इस भूमि पर या तो मकान आदि बने हुए हैं, या नदी-नाले या सड़कें हैं, अथवा उसका कृषि को छोड़कर अन्य कार्यों के लिए उपयोग हो रहा है।

खनिज पदार्थ—हम पहले कह आये हैं कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से भूमि में खानों का भी समावेश होता है। प्राचीन समय से यह देश खनिज पदार्थों के लिए प्रसिद्ध रहा है, इसे रत्नगर्भा भूमि कहते आये हैं। सोने-चाँदी के आभूषण, तांबे, पीतल, फूल आदि के बर्तन, लोहे के औजार और हथियार यहाँ चिरकाल से बर्ते जा रहे हैं। विविध खनिज पदार्थ यहाँ मिलते हैं। बाहर से आनेवाले बहुत से द्रव्य भी इस देश में मिल सकते हैं। हम यहाँ इस विषय की कुछ मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करते हैं।

लोहा—आजकल यंत्रों और मशीनों का युग है और ये चीजें अधिकतर लोहे की ही बनती हैं। इसके अलावा हमारे घरों के निर्माण में, तथा सामान बनाने में भी लोहे का खास स्थान है। इस तरह जिस देश में लोहा नहीं होता, उसे अपनी एक मुख्य आवश्यकता के लिए दूसरे के आसरे रहना पड़ता है। सौभाग्य से भारतवर्ष में यह पदार्थ

काफी मात्रा में मिलता है। बंगाल, और बिहार अपनी लोहे की खानों के लिए प्रसिद्ध हैं, जो कोयले की खानों के नजदीक ही होने से विशेष उपयोगी हैं। इसके अलावा मध्यप्रान्त, मैसूर और मदरास में भी लोहा खासे परिमाण में मिलता है।

कोयला—आधुनिक औद्योगिक जगत में कोयले का बड़ा महत्व है। जहाँ कोयला निकलता है, वहाँ रेलें, यंत्र और कल-कारखाने आसानी से जारी हो सकते हैं। भारतवर्ष का ६० फी-सदी कोयला बंगाल तथा बिहार से मिलता है; कुल कोयले का आधा भाग झरिया से, और एक-तिहाई रानीगंज से, आता है। पंजाब, मध्यप्रान्त, मध्यभारत, आसाम, हैदराबाद, रीवा और बिलोचिस्तान में छोटी-छोटी खानें हैं। अलग-अलग स्थानों के कोयले के भाव में काफी फरक होता है: इसका कारण कोयले का गुण, उसकी गहराई, काम में आनेवाली मशीनें, मज़दूरी आदि के व्यय का अन्तर होता है। भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा कोयला सतह के पास ही मिलता है। परन्तु जिस रीति से यह यहाँ खानों से निकाला जाता है, वह ठीक नहीं है; उससे उसका भंडार जल्दी समाप्त हो जायगा। उसमें सुधार की ज़रूरत है।

अन्य खनिज पदार्थ—मैंगनीज़ की खानें मध्यप्रान्त और मदरास में है। यह इस्पात बनाने के काम आती है। यह विदेशों को भी भेजी जाती है। नमक की खान पंजाब में झेलम के किनारे से सिंध के पार कुछ दूर तक चली गयी है। यह पहाड़ी नमक कहलाता है। साँभर की झील में तथा समुद्री तटों पर खारी पानी से भी नमक बनाया जाता है। शोरा ज्यादातर उत्तरी बिहार में मिलता है। सोने की खानें कोलार (मैसूर) में है। अभ्रक की खानें अजमेर, मदरास और बिहार में है। संसार भर के ख़र्च के लिए आधे से अधिक अभ्रक भारत से ही जाता है। राजपूताना, मध्यप्रान्त, बम्बई, हैदराबाद तथा दक्षिण में इमारतों आदि के लिए पत्थर कई प्रकार का मिलता है। संगमरमर विंध्याचल श्रेणी में बहुत पाया जाता है।

कुछ समय से यहाँ अधिकाधिक खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं; लेकिन एक उद्योग-धंधेवाले बड़े देश के लिए यह परिमाण कुछ विशेष नहीं है। इंगलैंड, जर्मनी, संयुक्तराज्य अमरीका आदि देश भारत से आकार और जनसंख्या में कहीं छोटे हैं; उनकी तुलना में भारत की खनिज पदार्थों की निकासी बहुत कम है।

खानों की रक्षा—भारत-भूमि में खनिज और औद्योगिक पदार्थों का बड़ा भंडार है। पर हमारे देशवासियों के अज्ञान, आलस्य तथा पराधीनता के कारण उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठाया जाता। सोना आदि कई द्रव्य गुप्त पड़े हुए हैं। ताँबा, लोहा, कोयला आदि निकालने का ज्यादहतर काम अंगरेज़ों के हाथ में है। अ-कुशल भारतीय मज़दूर मामूली मज़दूरी पाते हैं। ये पदार्थ हमारे देश से बाहर बहुत भेजे जाते हैं। हमारी खानें खाली हो रही हैं। इनमें 'क्रमागत-ह्रास-नियम' लगता है; यानी एक सीमा ऐसी आ जाती है कि उससे आगे जिस अनुपात से पूँजी और श्रम बढ़ाया जाता है, उस अनुपात से उत्पत्ति नहीं बढ़ती। यह बात बहुत सोचने की है, क्योंकि खानों से जब एक बार पदार्थ निकाल लिये जाते हैं, तो वे सदा के लिए ख़ाली हो जाती हैं; धातुएँ फिर पैदा नहीं की जा सकतीं। इसलिए खानों की रक्षा का हमेशा विचार रहना चाहिए, और उनसे निकले हुए पदार्थों का ज्यादातर उपयोग स्वदेश के लिए ही होना चाहिए।

प्राकृतिक शक्ति—भारतवर्ष में प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग की बड़ी सुविधा है। कोयले और ईंधन (लकड़ी) के बारे में पहले लिखा जा चुका है; इनसे मिलनेवाली संचालन-शक्ति का अनुमान हो सकता है। यहाँ संसार भर में सब से ऊंचा हिमालय और दूसरे बड़े-बड़े और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, जिनमें बहुत से जल-प्रपात हैं। बड़ी-बड़ी नदियों की भी कमी नहीं। इस प्रकार यहाँ जल-शक्ति भी ख़ूब है। हाँ, वह बिजली के रूप में कहाँ तक काम में आने योग्य बनायी गयी है, तथा उसे कितना और बढ़ाया जा सकता है, यह दूसरी बात

है। इसका विचार आगे किया जायगा।

भारतवर्ष में वायु-शक्ति भी काफी है; परन्तु आजकल उससे काम लेना बहुत लाभदायक नहीं होता। भारतवर्ष का अधिकतर भाग उष्ण कटिबंध में होने से यहाँ सूर्य के प्रकाश (धूप) से मिलनेवाली शक्ति भी अनंत है। परन्तु विज्ञान की उन्नति न होने से, उसे यहाँ एक जगह इकट्ठा नहीं किया जाता, और संचालन शक्ति के रूप में उसका प्रायः कुछ भी उपयोग नहीं हो रहा है।

भूमि सम्बन्धी विविध बातों का विचार करके हम सहज ही इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भारत-भूमि को स्वर्ण-भूमि, रत्न-गर्भा, या अनंत-शक्ति का स्रोत कहना ठीक है। यहाँ की जनता सुखी और संतुष्ट नहीं, तो इसका कारण स्वयं जनता की ही कोई कमी या दोष है। जनता के सम्बन्ध में, आगे लिखा जायगा।

दूसरा अध्याय

भारतवर्ष की जनसंख्या

प्राक्कथन—पिछले अध्याय में भारत-भूमि का विचार किया गया है। परन्तु भूमि बिना मेहनत, केवल थोड़े-से, सो भी कच्चे पदार्थों को पैदा कर सकती है। जंगलों में अपने आप पैदा होने वाले पदार्थ, मेहनत के बिना, मनुष्य के लिए विशेष उपयोगी नहीं होते, उसकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। भिन्न-भिन्न उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करके रखने में या उन्हें ऐसे रूप में लाने में कि वे मनुष्य की ज़रूरतें पूरी कर सकें, परिश्रम आवश्यक है। अर्थशास्त्र में, श्रम के अंतर्गत किसी मनुष्य द्वारा किया हुआ मानसिक या शारीरिक वह सब प्रयत्न समझा जाता है, जिसका उद्देश्य उस मनुष्य का मनोरंजन न होकर धनोत्पत्ति हो, जो उत्पादक हो। अस्तु, श्रम पर विचार

करने के लिए पहले इस अध्याय में भारतवर्ष की जनसंख्या सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातें लिखी जाती है।

भारतीय जनता—(बर्मा को छोड़ कर) भारतवर्ष की जन-संख्या पिछली (सन् १९४१ ई० की) मनुष्य-गणना के अनुसार, ३८ करोड़ ८८ लाख है। इसमें से २९ करोड़ ५८ लाख मनुष्य ब्रिटिश भारत में है, और शेष देशी रियासतों में। कुल आबादी में से करीब नब्बे फी सदी आदमी गावों में रहनेवाले हैं, और शेष आदमी नगर निवासी हैं। जनसंख्या की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में एक विशेष स्थान है; समस्त मानव जनता का लगभग छठा हिस्सा भारतीय जनता है। यदि इतने आदमी भली भाँति शिक्षित, कुशल, स्वस्थ और स्वाधीन रहकर श्रम करें, तो देश का श्री-वृद्धि का क्या ठिकाना ? परन्तु भारत की आर्थिक दुर्दशा तो प्रसिद्ध ही है, इसका एक कारण यह भी है कि कुछ आदमी तो रोगी या आलसी होने से अपनी आजीविका के लिए उद्योग नहीं करते, और बहुत-से आदमियों को यथोचित साधन या सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए उनके पास काफी भूमि ही नहीं है।

जनसंख्या और भूमि—ब्रिटिश भारत में कुल २२ करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है। इसमें प्रायः वह सब भूमि है, जो काम में लायी जा सकती है, थोड़ी सी ही जमीन और है, जो परिश्रम करने से व्यवहारोपयोगी बनायी जा सकती है। इस प्रकार ब्रिटिश भारत के आदमियों के हिसाब से औसत लगाने पर एक आदमी पीछे एक एकड़ भूमि भी नहीं आती। भारतवर्ष में हर सौ मनुष्यों में ६६ सिर्फ खेती से गुजारा करते हैं; यदि केवल इन्हीं लोगों की दृष्टि से भूमि का विचार किया जाय, तो भी एक आदमी पीछे सवा एकड़ से अधिक भूमि नहीं पड़ती।

यदि मनुष्य-संख्या बढ़ती ही गयी, और लोग दूसरी ओर न जाकर

खेती पर ही भरोसा करते रहे, तो या तो जिस ज़मीन पर खेती हो रही है, उमसे, अधिक पैदावार करने का प्रयत्न करना होगा, अथवा नयी ज़मीन पर खेती करनी होगी। अधिक पैदावार करने में 'क्रमागत-ह्रास'-नियम * लगता है। और, नयी ज़मीन भी सब अच्छी ही नहीं निकलेगी, उसमें से बहुत-सी ख़राब भी होगी। इस प्रकार जनसंख्या की समस्या हमारे सामने उपस्थित होती है, खासकर जबकि यह बराबर बढ़ती जा रही हैं।

जनसंख्या की वृद्धि, और खाद्यपदार्थ—किसी देश की जनसंख्या की वृद्धि दो बातों पर निर्भर होती है, (क) मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जनसंख्या अधिक होना, (ख) देश से बाहर जाकर बसनेवालों की अपेक्षा, विदेशियों का अधिक होना। भारतवर्ष में कुछ विदेशियों ने निवास कर रखा है, तो यहाँ के भी कुछ आदमी बाहर जाकर बसे हुए हैं; और, विदेशियों की संख्या यहाँ की जनसंख्या की तुलना में विशेष महत्व नहीं रखती; उसका यहाँ की जनसंख्या की वृद्धि में विशेष भाग नहीं है।

यहाँ जनसंख्या बढ़ने का मुख्य कारण, मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्म-संख्या का अधिक होना ही है। जनसंख्या के अंक समय-समय पर बदलते रहते हैं। अकसर जैसे-जैसे जन्म संख्या बढ़ती है, वैसे-वैसे मृत्यु-संख्या भी अधिक होती है। तथापि यहाँ जनता की वृद्धि हो रही है। सन् १८७१ ई० भारतवर्ष और बर्मा की जनसंख्या २०.६ करोड़ थी, १८८१ में २५.४ करोड़, १८९१ में २८.७ करोड़, १९०१ में

---

* इसका आशय यह है भूमि की पैदावार में, एक खास सीमा के आने पर, फिर मूलधन और परिश्रम जिस अनुपात में बढ़ाया जाता है, पैदवारा उसी अनुपात में नहीं बढ़ती, कम बढ़ती है। उत्पत्ति का यह अनुपात आगे चलकर क्रमशः कम होता जाता है। अधिक परिश्रम और मूलधन लगाने से जो अधिक फसल होती है, वह परिश्रम और मूलधन की अधिकता के अनुपात में नहीं होती; उससे कम होती है।

२६·४ करोड़, १६११ में ३१·५ करोड़, १६२१ में ३२ करोड़, और १६३१ में ३५·३ करोड़ रही। सन् १६४१ में भारतवर्ष की जनसंख्या ३८ करोड़ ८८ लाख थी।*

इन वर्षों में खाद्य पदार्थों की मात्रा किस अनुपात से बढ़ी है, इस विषय में हिसाब लगानेवालों में मत-भेद है। सरकारी अधिकारियों का कहना है कि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति, जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से अधिक हुई है। कुछ लेखक इससे सहमत हैं। इनका यह भी अनुमान है कि सिंचाई और कृषि सम्बन्धी उन्नति से, पैदावार अभी और भी बढ़ सकती है। लेकिन दूसरे विद्वानों का मत है कि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति की वृद्धि उक्त अनुपात से कम हुई है। यही नहीं, इनका कथन है कि अब खेती-योग्य भूमि बढ़ाने की ज़्यादह गुंजाइश नहीं है। नहरों आदि के निकालने से खाद्य पदार्थों का परिमाण कुछ अंश में और भी बढ़ाया जा सकेगा, पर वह अब अपनी चरम सीमा के नज़दीक आ रहा है। एक सीमा के बाद यह परिमाण बढ़ाना करीब-करीब असम्भव होगा। जो लेखक यह मानते हैं कि विगत वर्षों में खाद्य पदार्थों की बृद्धि जनसंख्या की बृद्धि के अनुपात से कुछ अधिक हुई है, वे भी यह स्वीकार करते हैं कि सर्वसाधारण की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। जितने आदमी पहले भूखे या अध-भूखे रहते थे, अब भी भूखे या अध-भूखे रहते हैं। यदि देखने में हमारी आर्थिक अवस्था पहले की सी ही हो, तो भी असली अवस्था में अवश्य अंतर आ गया है; अब मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गयी हैं, जीवन के आदर्श बदल गये हैं। पहले जितनी चीज़ों से निर्वाह हो जाता था, अब उतनी चीज़ों से काम नहीं चलता। ऐसी दशा में जनसंख्या का बराबर बढ़ते रहना चिन्ता की बात है; कारण, इसका नतीजा अकाल या महामारी

* सन् १९४१ की मनुष्य-गणना हुई तो उससे पहले सन् १९३५ के विधान से बर्मा को भारतवर्ष से जुदा कर दिया गया था।

होता है ।*

जनसंख्या और कुल धनोत्पत्ति—कुछ लेखकों का मत है कि "जनसंख्या का, खाद्य पदार्थों की उपज की दृष्टि से विचार करना युक्तिसंगत नहीं। हमें देखना चाहिए कि देश की कुल धनोत्पत्ति से उस का क्या अनुपात है, हरेक आदमी के हिसाब से देश में जितनी औसत धनोत्पत्ति होती है, वह उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काफी है या नहीं। इस समय व्यापार का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय होने से जनसंख्या की समस्या का स्वरूप बदल गया है। यदि हमारे देश में काफी खाद्य पदार्थ नहीं होते और हमारे पास यथेष्ट संपत्ति है तो खाद्य पदार्थ विदेशों से मोल मँगाये जा सकते हैं।" ये लेखक यह सिद्ध करते हैं कि चाहे खाद्य पदार्थों की दृष्टि से भारतवर्ष की वर्त्तमान जनसंख्या अधिक हो, परन्तु देश के औद्योगिककरण से यानी उद्योग धन्धों की काफी उन्नति से यह बात न रहेगी, उससे लोगों की सम्पत्ति अधिक होगी। फिर, उनके लिए खाद्य पदार्थों की समस्या उपस्थित न होगी; यहाँ आवश्यक सामग्री न मिलने पर वह; कुछ महँगे भाव से ही सही, विदेशों से सहज ही मँगायी जा सकेगी।

देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि को हम भी आवश्यक और उपयोगी मानते हैं, (इसके सम्बन्ध में विशेष विचार आगे किया जायगा), और यह भी ठीक है कि कुछ अंश में उससे जनसंख्या की समस्या हल होने में

---

* मालथस नामक अर्थशास्त्री का यह सिद्धांत है कि यदि कोई बाधा उपस्थित न हो, तो देश की जनसंख्या ज्यामितिक वृद्धि अर्थात १, २, ४, ८, १६, ३२ या १, ३, ९, २७, ८१, २४३ आदि के हिसाब से बढ़ती है। खाद्य पदार्थ १, २, ३, ४, ५, ६ या १, १॥, २, २॥, ३, ३॥ आदि अर्थात् अंक-गणित की वृद्धि के हिसाब से बढ़ते हैं। यदि जनता की वृद्धि नियमित रूप से न रोकी जाय तो दरिद्रता (जो अनियमित वृद्धि का आवश्यक परिणाम है) या ईश्वरीय कोप द्वारा उसका ह्रास होता है, राज्यों में परस्पर युद्ध छिड़ जाता है, भाँति-भाँति के रोग फैलते हैं, और बालकों की मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है।

सहायता मिलेगी। परन्तु वह इस समस्या का स्थाई हल नहीं है। अन्य देश भी औद्योगिककरण में लग रहे हैं, तथा लगेंगे। यदि संसार के हरेक देश के आदमी अपने गुज़ारे की खाद्य सामग्री के लिए दूसरे देशों के आसरे रहने लगें तो क्या परिणाम होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर, आजकल तो हर समय युद्ध के बादल छाये रहते हैं, और किसी भी देश के, युद्ध में फंसने की आशा बनी रहती है। ऐसी स्थिति में अपने खाद्य पदार्थों के लिए परावलम्बी बना रहना जोखम से खाली नहीं। अस्तु, भारतवर्ष का अपनी जनसंख्या के सम्बन्ध में असावधान रहना उचित नहीं; चाहे इसकी समस्या आज उतनी उग्र न हो, जितनी कुछ सज्जन बतलाते हैं।

जनसंख्या पर सामाजिक और धार्मिक विचारों का प्रभाव— भारतवर्ष में जनसंख्या बढ़ने का कारण कुछ अंश में यहाँ की जलवायु गर्म होना, शिक्षा का प्रचार न होना, और लोगों की गरीबी है। देश में शिक्षा-प्रचार तथा आर्थिक उन्नति होने पर जन-संख्या बढ़ने में कुछ रुकावट होने की आशा है। अस्तु, हम यहाँ विशेष विचार सामाजिक रीतियों और धार्मिक विश्वासों का करते हैं, जिनका जनसंख्या की वृद्धि पर खास प्रभाव पड़ रहा है।

यद्यपि भारतवर्ष में जुदा-जुदा जातियों के, और एक ही जाति के भिन्न-भिन्न आदमियों के, विचारों में थोड़ा-बहुत फरक है, यहाँ हिन्दुओं में, जो दूसरी सब जातियों के आदमियों से अधिक संख्या में हैं, खास-कर कन्या का विवाह अनिवार्य माना जाता है। पुत्र पैदा करना धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। शास्त्रों में कहा गया है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'। प्राचीन काल में, जब नयी-नयी भूमि में बस्ती होने लगी होगी, तब देश में जनसंख्या बहुत कम होगी, और आर्थिक या अन्य कारणों से उसे बढ़ाने की बहुत ज़रूरत मालूम हुई होगी। अब वह बात नहीं रही, परन्तु समाज से किसी प्रकार के विचार, एक बार घर कर लेने के बाद जल्दी नहीं हटते। शिक्षा आदि

का यथेष्ट प्रचार न होने के कारण अधिकांश भारतवासी स्वतन्त्र विचार करके, प्राचीन प्रथाओं और रीति रस्मों में, देश-काल के अनुसार परिवर्तन नहीं करते, और जनसंख्या सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों को अपनाये हुए हैं।

इसके अलावा प्राचीन काल में, इस सम्बन्ध में जो मर्यादाएँ या सीमाएँ थीं, वे भी अब नहीं रहीं। पहले ऐसी व्यवस्था थी कि पुरुष पच्चीस वर्ष तक, और कन्याएँ सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहें, और पढ़ें; शारीरिक, मानसिक और नैतिक योग्यता प्राप्त करें; अपनी आजीविका प्राप्त करने और घर गृहस्थी चलाने योग्य बन जायँ तब जाकर गृहस्थ आश्रम में दाखिल हों। फिर, गृहस्थाश्रम भी चार आश्रमों में से एक था; इसकी मियाद आयु के चौथाई हिस्से अर्थात् पच्चीस वर्ष की ही थी। इसके बाद सन्तान नहीं होती थी। गृहस्थाश्रम पूरा करने पर जीवन आत्मोन्नति तथा परोपकार में लगाया जाता था। पिछली सदियों में इन बातों का विचार न रहा। बाल-विवाह प्रचलित हो गया, छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियों के विवाह होने लगे। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम केवल धर्म-ग्रन्थों में रह गये, व्यवहार में आदमी इन्हें भूल से गये। विवाह होने के बाद आदमी जन्म भर गृहस्थाश्रम में रहने लगे। पुरुष की एक स्त्री मर जाने पर उसका दूसरा, तीसरा, और कुछ दशाओं में इसके बाद भी विवाह होने लगा। हाँ, ऊँची जातियों में विधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह की प्रथा नहीं रही, वे ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने के लिए मजबूर की जाने लगीं।

नतीजा यह हुआ कि एक ओर तो अनेक छोटी उम्र के लड़के-लड़कियों के सन्तान होने लगीं; दूसरी ओर कितने ही बूढ़े आदमियों के बेमेल विवाहों से जनसंख्या बढ़ी इससे बच्चों का दुर्बल, रोगी और अल्पायु होना स्वाभाविक ही था। अब कुछ समय से इसमें धीरे-धीरे सुधार हो रहा है। ब्रिटिश भारत में तथा कुछ देशी राज्यों में बाल-विवाह बन्द करने के क़ानून बन गये हैं, समाज-सुधारक भी इस दिशा में

आन्दोलन कर रहे हैं। हाँ, और भी बहुत कार्य होने की गुंजाइश है। शिक्षा के प्रचार, आर्थिक संघर्ष, कुछ लोगों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने, और मनचाहा आज़ाद जीवन बिताने की इच्छा से भी जनसंख्या की वृद्धि पर कुछ रुकावट होने लगी है। तो भी वर्त्तमान अवस्था में यहाँ आबादी की अधिकता की समस्या थोड़ी-बहुत है ही। और, कई कारणों से यहाँ के निवासियों को विदेशों में जाकर रहने की भी काफी सुविधाएँ नहीं हैं।

जनसंख्या और पराधीनता—यह भी विचार कर लेना ज़रूरी है कि पराधीनता का जनसंख्या पर क्या असर पड़ता है। पहले कहा गया है कि जनसंख्या बढ़ने में यहाँ की शिक्षा की कमी तथा गरीबी भी सहायक हैं। देश के स्वाधीन हो जाने पर इन बातों का दूर होना स्वाभाविक है, उस दशा में जनसंख्या की वृद्धि में भी कुछ रुकावट होगी।

स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन से भी जनसंख्या की वृद्धि कुछ अंश में रुकती है, खासकर जबकि आन्दोलन लगातार लम्बे समय तक चलता है। उस समय पुरुष ही नहीं, महिलाएँ भी राष्ट्रीय कार्य-क्रम को पूरा करने में जुट जाती है, और लोकमत सन्तान पैदा करने के विरुद्ध हो जाता है। पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन में यहाँ स्थान-स्थार पर यह बात सुनने और पढ़ने में आयी कि पराधीनता के समय संतान बढ़ाना अनुचित है। कितने ही पुरुषों और स्त्रियों ने, सरकार के दमन से, जेल में जाने के कारण, और कुछ ने स्वयं अपनी इच्छा से अपना विवाह करना स्थगित कर दिया। इस तरह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के आन्दोलन से, एवं स्वराज्य प्राप्त होने पर, देश में जनसंख्या की वृद्धि कम होने की सम्भावना है।

प्रवास—जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का एक उपाय यह है, कि आदमी काफी संख्या में, विदेशों में जाकर बसते रहें। आजकल आमदरफ़्त के साधन बढ़ने के कारण जनता का दूसरे देशों में जाना-

आना सुगम हो गया है; किन्तु सर्वसाधारण की, अपना निवास-स्थान छोड़ने की, प्रवृत्ति बहुत कम है। इसका एक कारण तो यही है कि कितने ही आदमी खेती-बाड़ी करते हैं, जिसे सहसा छोड़ा नहीं जा सकता। इसके अलावा बहुत से आदमियों के ऋण-ग्रस्त या कर्जदार होने से उनका साहूकार भी उनके दूसरी जगह जाने में बाधक होता है। परन्तु आर्थिक आवश्यकताएँ लोगों से उनके घर का मोह छुटा रही हैं। कुछ आदमी नौकरी आदि की तलाश में बाहर जाते रहते हैं; यद्यपि इनमें से ज्यादहतर की पहुंच पास के नगर या क़स्बे तक होती है; कुछ आदमी दूर-दूर चले जाते है, यहाँ तक कि अपने प्रान्त को छोड़ कर दूसरे प्रान्त में जा बसते हैं। उदाहरण के लिए मारवाड़ी इस समय बंगाल, आसाम, हैदराबाद आदि अनेक भागों में फैले हुए हैं, और वहाँ के व्यापार में खासा भाग ले रहे हैं। प्राय: अशिक्षित होते हुए भी उन्होंने दूर-दूर जाकर वहाँ की भाषा सीख कर अपना कारोबार जमाने और किफायत से काम चलाकर खासा धन जोड़ने में बड़ा साहस और कौशज दिखाया है। इसी प्रकार गुज़राती बंगाली, पंजाबी, आदि भी प्रवास में खासे उद्योगी रहे हैं।

यह तो हुई, अन्तर्प्रान्तीय प्रवास की बात। विदेश-गमन की कठिनाइयों का अधिक होना साफ ही है। नयी भाषा, और नये रहन-सहन आदि के अलावा यहाँ हिन्दुओं की समुद्र-यात्रा में धार्मिक और सामाजिक बाधाएँ भी हैं, यद्यपि ये अब कम हो रही हैं। हाँ, एक नयी बाधा और बढ़ रही है; अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता के कारण हरेक देश के निवासी यथा-सम्भव बाहर वालों को अपने यहाँ आकर बसने से रोकते हैं। नये उपनिवेश बसाने के समय आरम्भ में तो दूसरे देशों के आदमियों को बुलाने के लिए तरह-तरह की सुविधाएँ तथा प्रलोभन दिये जाते हैं, पर कुछ समय बाद यह बात नहीं रहती। इस तरह जो भारतीय यहाँ की आर्थिक कठिनाइयों से अथवा साहस करके बाहर गये भी, उन्हें अक्सर अच्छा अनुभव

नही हुआ; उन्हें वहाँ अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, और अब भी करना पड़ रहा है। इसका एक खास कारण यह है कि वे पराधीन है, यहाँ की सरकार विदेशों में उनके स्वार्थों की समुचित रक्षा नहीं करती। उधर, उपनिवेशों में प्रायः वर्ण-विद्वेष या रंग-भेद आदि की बातें हैं, पराधीन देश वालों की तो वहाँ कुछ गुजर ही नहीं; वे कुलीगीरी या मामूली मज़दूरी करके भी केवल उस समय तक वहाँ रह सकते हैं, जब तक वहाँ के निवासी इसमें अपना स्वार्थ सिद्ध होता देखें। इस तरह भारतवासियों के लिए जनसंख्या की वृद्धि रोकने के वास्ते प्रवास का मार्ग प्रायः बंद ही है। स्वराज्य प्राप्त होने पर यहाँ के आदमी खासकर उन देशों में जाकर बस सकेंगे, जिनके आदमी यहाँ आकर बसेंगे, अथवा यहाँ से लाभ उठाना चाहेंगे।

दूसरे प्रतिबन्धक उपाय——इस विषय में तो करीब-करीब सभी विचारशील एक मत हैं कि यहाँ जनसंख्या की वृद्धि में कमी होनी चाहिए, परन्तु उसके लिए उपायों के बारे में दो मत हैं। एक पक्ष का कहना है कि संयम और ब्रह्मचर्य का सिद्धांत बहुत अच्छा अवश्य है, किन्तु यह केवल ऊँचे विचारवालों के वास्ते है,सर्वसाधारण के लिए यह व्यावहारिक नहीं है, उन्हें कृत्रिम उपायों से संतान-निग्रह करना चाहिए। ये लोग जनता में इस प्रकार के विचारों का, अपने भाषणों तथा लेखों आदि से प्रचार कर रहे हैं। कुछ स्थानों में संतान-निग्रह की शिक्षा देने की भी व्यवस्था हो चली है। यह मत यहाँ थोड़े समय से ही प्रचलित हुआ है; पर इस मत के पक्षवालों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है; खासकर नव शिक्षितों की प्रावृत्ति इस ओर बढ़ रही है। तो भी अधिकांश समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की दृष्टि से देखता है। वह भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, नीति और धर्म के नाम पर उसका विरोध करता है, तथा

यह भी बताता है कि उन देशों में जहाँ ये उपाय विशेष रूप से काम में लाये गये हैं, समाज को बहुत हानि उठानी पड़ी है; यहाँ तक कि वहाँ कितने ही समाज-हितैषी इनका घोर विरोधी रहे हैं।

जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए ये उपाय काम में लाये जाने चाहिएँ* :—

(१) जनता में यह प्रचार किया जाय कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करें। आदमी अच्छे मकान तथा उत्तम भोजन-वस्त्र का उपयोग करें, और अपनी संतान के लिए भी इन चीज़ों का ठीक प्रबन्ध करें। रहन-सहन का दर्जा ऊँचा रखनेवालों में संतान की इच्छा कम होती है।

(२) बालक-बालिकाओं की ऊँची-शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, जिससे बड़े होने पर वे अपने उत्तरदायित्व को पहिचानें, दूरदर्शी बनें, आदमी संतान पैदा करने की इच्छा होने पर आगे-पीछे की परिस्थति का विचार करके उसका यथा-सम्भव दमन करें; और कई अयोग्य सन्तान की अपेक्षा एक-एक दो-दो सुयोग्य सन्तान पैदा करने का ही विचार रखें।

(३) बालक-बालिकाओं को सदाचार और संयम की शिक्षा दी जाय, तथा विवाह करने की उम्र बढ़ायी जाय; और, बहुत ज़्यादह उम्रवालों के विवाह (कुछ खास हालतों को छोड़कर) बन्द किये जायँ। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

(४) निर्बल, दरिद्र, वंशानुगत रोगी, पागल, या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकारवाले आदमियों के विवाह बन्द होने चाहिए, जिनकी संतान सुदृढ़ और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

(४) विदेशों के उन्हीं आदमियों को, तथा उसी दशा में, आकर बसने की अनुमति दी जानी चाहिए, जब वे यहाँ का धन बढ़ाने में

* 'धन की उत्पत्ति' के आधार पर।

सहायक हों, अथवा ऊँचे नैतिक विचारों का प्रचार करनेवाले हों।

(६) स्वराज्य प्राप्त किया जाय, जिससे देश की विशेषतया आर्थिक स्थिति का सुधार हो।

इन उपायों से भारतवर्ष की जनसंख्या बढ़ने की समस्या बहुत कुछ हल होने की आशा की जा सकती है।

क्या भारतवर्ष में श्रमजीवियों की कमी है?—हमने ऊपर कहा है कि भारतवर्ष में जनसंख्या की वृद्धि को यथा-सम्भव रोकने की आवश्यकता है। परन्तु बहुधा पूंजीपतियों को श्रमजीवियों की कमी की शिकायत होती है। ऐसी दशा में यह विचार करना चाहिए कि असली बात क्या है। क्या यहाँ श्रमजीवियों की सचमुच कमी है? क्या इस बात से ही कि यहाँ अब मज़दूर पहली तनख्वाहों पर नहीं मिलते, यह समझा जाय कि उनकी कमी है? इस समय विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में बीस लाख से अधिक भारतीय श्रमजीवी काम कर रहे हैं, और प्रतिवर्ष हज़ारों कुली, बहुधा झूठे प्रलोभनों में फँसकर, ठेके पर या स्वतन्त्र रूप से वहाँ जाते हैं। यदि उन्हें वर्त्तमान मँहगी के अनुसार मज़दूरी मिले, तो वे यहाँ ही न काम करें; घर का मोह छोड़कर विदेशों में क्यों भटकते फिरें! हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि देश में बेकारी की कितनी विकट समस्या उपस्थित है! यद्यपि यहाँ सरकारी तौर से संग्रह किये हुए प्रामाणिक अंक तैयार नहीं हैं, समय-समय पर होनेवाली बेकारों की आत्म-हत्या, तथा एक साधारण वेतन वाली नौकरी के लिए सैकड़ों उम्मेदवारों का प्रतियोगिता करना, अनेक उच्च घरानों के व्यक्तियों का, नीचे दर्जे के समझे जानेवाले कार्य को करने के लिए तैयार हो जाना, आदि ऐसी घटनाएँ हैं कि बेकारी का विकराल स्वरूप छिपाये नहीं छिपता।

हम यह भी याद रखें कि यहाँ लगभग पाँच करोड़ आदमी अछूत माने जाते हैं। यदि इनके प्रति सहयोग और भाईचारे का भाव रखा जाय, तो इनमें से बहुत से आदमी अच्छे-अच्छे कामों में सहायक

हो सकते हैं। आज उनकी दशा अच्छी नहीं, वे अशिक्षित और गंदे हैं, परन्तु उद्योग करने पर वे धनोत्पत्ति का अच्छा काम कर सकते हैं; सुधार-आन्दोलन के कारण कुछ आदमी तो काम कर भी रहे हैं। जरायम-पेशा जातियों के आदमियों से वर्त्तमान अवस्था में बहुत कम काम लिया जा रहा है, इनका उद्धार हो जाने पर ये भी श्रमियों की संख्या के बढ़ने में काफी सहायक हो सकते है। कई स्थानों पर किये गये प्रयोगों के अनुभव से सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू यथेष्ट परिस्थिति मिलने पर भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं।

पुनः हमारे फकीरों (बनावटी साधुओं) से भी देश के धनोत्पादन-कार्य में कुछ योग नहीं मिल रहा है। बहुत से आदमी केवल मुफ़्त का खाने और मेहनत से बचने के लिए गेरुए कपड़े पहन लेते हैं, अथवा यों ही फकीरी धारण कर लेते हैं। ये लोग साधारण गृहस्थों के लिए भार-रूप, और देश की आर्थिक उन्नति में बाधक हैं। हर्ष की बात है कि अब सभा-समाजों में इस प्रश्न पर विचार हो रहा है कि इनका कैसे उत्थान हो और देश की आर्थिक उन्नति में इनसे कैसे सहायता मिले। आशा है, धीरे-धीरे इस दिशा में भी सुधार होगा।

अस्तु, वर्त्तमान अवस्था में अछूत, जरायम-पेशा, और फकीर काफ़ी संख्या में हैं, विदेशों में भी लाखों भारतीय श्रमी काम कर रहे हैं। फिर भी यहाँ इतनी बेकारी है। इससे यह भली भाँति सिद्ध है कि यहाँ श्रमियों की संख्या कम नहीं है; कल कारखाने वाले जितनी कम मज़दूरी पर उनसे काम लेना चाहते हैं, उतनी पर काफ़ी श्रमी न मिलें यह दूसरी बात है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि श्रमी जैसे कुशल चाहिएँ, वैसे कम हैं। इसका उपाय यह है कि उनकी योग्यता बढ़ाने के लिए यथोचित शिक्षा आदि की व्यवस्था की जाय। इसके संबंध में खुलासा अगले अध्याय में लिखा जायगा।

तीसरा अध्याय

भारतीय श्रम

पिछले अध्याय मे भारतवर्ष की जनसंख्या का विचार किया गया है। जनसंख्या के अलावा, धनोत्पत्ति पर इस बात का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है कि मनुष्यों का श्रम उत्पादक है या अनुत्पादक, और उस श्रम की कुशलता कितनी है। इस अध्याय में इन बातों का विचार किया जायगा। पहले श्रम की उत्पादकता का विषय लेते हैं।

उत्पादक श्रम; व्यक्तिगत और सामाजिक—जिस श्रम से कोई ऐसी वस्तु बनायी जाती है, जो धन की उत्पत्ति या वृद्धि में सहायक हो, अथवा जो श्रम दूसरों की धनोत्पादक शक्ति बढ़ाये, उसे उत्पादक श्रम कहा जाता है। मनुष्य को ऐसा ही श्रम करना चाहिए, जो उत्पादक हो। परन्तु इसमें भी उसकी दृष्टि व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक होनी चाहिए। इसका आशय समझने के लिए हमें जानना चाहिए कि कुछ श्रम ऐसे हैं, जो व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक होते हैं; इसी प्रकार कुछ श्रम सामाजिक दृष्टि से उत्पादक होते हैं, परन्तु वे व्यक्ति की दृष्टि से अनुत्पादक हो सकते हैं। एक आदमी चोरी करके धन लाता है, उसका श्रम उस व्यक्ति की दृष्टि से धनोत्पादक है, परन्तु समाज को इससे कोई लाभ नहीं, वरन् बहुत हानि है। आतशबाजी, नशे और विलासिताओं की चीज़ों की उत्पत्ति में लगनेवाला श्रम भी व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक गिना जाता है। इससे समाज का हित नहीं होता, उसकी दृष्टि से यह अनुत्पादक है। ऐसे कुछ अन्य श्रम जो व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक, और समाज की दृष्टि से अनुत्पादक हैं, उन वकील और जमींदारों आदि के हैं, जो देश में मुकदमेबाजी बढ़ाने या किसानों

की दशा बिगाड़ने में सहायक होते है। ऐसे श्रम के करनेवाले अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रख कर काम करते हैं।

परन्तु संसार में ऐसे परोपकारी, महात्माओं, संतों और स्वयंसेवकों का अभाव नहा है—हाँ, उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम रहती है—जो व्यक्तिगत या निजी स्वार्थ की प्राय: अवहेलना करके भी अपना जीवन अपनी जाति, देश या मानव समाज के हित के लिए अर्पण करते हैं। जब कोई आदमी बहुत कष्ट उठाकर लेखक या वैद्य आदि के रूप में समाज की सेवा करता है, और धनोत्पत्ति का उद्देश्य नहीं रखता, उस श्रम के उपलक्ष्य में कोई धन न लेकर सब कार्य अवैतनिक रूप से करता है, तो यह श्रम समाज की दृष्टि से उत्पादक और व्यक्ति की दृष्टि से अनुत्पादक कहा जाता है। भारतवासियों को स्वदेशोन्नति के लिए ऐसा श्रम भी काफ़ी परिमाण में करना चाहिए।

सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक या हानिकर श्रम दो प्रकार के होते हैं। इसमें से कुछ तो राज्य की ओर से दण्डनीय माने जाते है, और कुछ के लिए दण्ड नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में चोरी या लूट मार आदि करने वालों को दण्ड मिलता है, परन्तु आतशबाजी की चीजें, या अनेक प्रकार के मादक पदार्थ (जो औषधियों के लिए काम में नहीं लाये जाते) बनानेवालों के, और मुकदमाबाजी बढ़ानेवाले वकीलों के हानिकर श्रम को दण्डनीय नहीं माना जाता। आजकल शहरों में 'कार्निवल' होते हैं, उनमें प्रतियोगिता के नाम पर नये-नये ढँग के जुए से दर्शकों का धन अपहरण किया जाता है। तरह-तरह की लाटरियाँ निकालकर उनमें लोगों को फँसाया जाता है। इन कामों के करनेवालों के श्रम भी कानून से वर्जित नहीं है। किन्तु हमें चाहिए कि कानून की न्यूनता, त्रुटि या दोष से अनुचित लाभ न उठावें। राज्य से दण्ड मिलने की व्यवस्था हो, या न हो, हम कोई कार्य ऐसा न करें, जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हो।

भारतवर्ष में अनुत्पादक—यों तो सभी देशों में कुछ-न-कुछ

आदमी ऐसे होते हैं, जो उत्पादक श्रम नहीं करते, किन्तु भारतवर्ष में तो वे बहुत ही अधिक हैं। छोटे बालकों को उत्पादक कार्य न करने के लिए दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे इसके योग्य नहीं हैं। यदि वे उपयोगी कार्यों की शिक्षा या ट्रेनिंग प्राप्त करते हैं तो समझना चाहिए कि वे अपना कर्तव्य पालन कर रहे हैं। इसी प्रकार लँगड़े लूले, या अपाहिज़ तथा बेकार भी अनुत्पादक होने के कारण दोषी नहीं ठहराये जा सकते; कारण कि वे ऐसा होने के लिए वाध्य हैं। परन्तु जो आदमी हट्टे-कट्टे और काम करने योग्य होते हुए भी भिक्षा आदि से अपना निर्वाह करते है, वे (परोपकारी सन्त महात्माओं को छोड़कर) दूसरों पर भार है। इसके अतिरिक्त, विशेषतः संयुक्त परिवारों में अनेक आदमी और औरतें ऐसी हैं जो उत्पादक कार्य नहीं करतीं। अनेक रईस, धनवान, या सेठ साहूकार तथा उनके लड़के भी अपने हाथ से कोई उत्पादक कार्य करना अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। कितने ही पुजारी और महन्त आदि भी ऐसे हैं जो समाज के लिए विशेष उपयोगी कार्य नहीं करते और मजे से विलासिता का जीवन बिताते हैं।

इन सब बातों का निवारण किया जाना आवश्यक है। इसका एक उत्तम उपाय यह है कि मुफ़्तखोरी और परावलम्बन के विरुद्ध लोकमत संगठित किया जाय। जो आदमी बिना श्रम किये खाता-पीता है, उसे समाज में प्रतिष्ठा न मिलनी चाहिए, चाहे वह स्वयं अपने ही पूर्वजों की कमाई खाता हो, या सरकार की किसी विशेष कृपा के फल-स्वरूप बड़ा आदमी कहा जाने लगा हो।

जाति-भेद—'श्रम' में शारीरिक बल के अलावा मनुष्यों के ज्ञान, कौशल, शिक्षा, स्वास्थ्य, धर्म, रीति-रस्म, रहन-सहन आदि की वह सब योग्यता समझ ली जाती है, जो धनोत्पादन में सहायक हो सके। इस लिए भारतीय श्रम के सम्बन्ध में विचार करने में

हमें यहाँ के निवासियों की इन बातों का भी विचार करना होगा। पहले जाति-भेद को लेते हैं। प्राचीन काल में वेद-शास्त्रों के अनुसार बहुत समयतक यहाँ गुण-कर्मानुसार चार जातियाँ रहीं, जो अपने-अपने निर्धारित कर्त्तव्य का नियम-पूर्वक पालन करके देश को सुखी और धनवान रखती थीं। पीछे समय के फेर से वे सहस्त्रों छोटी-छोटी जातियों में विभक्त हो गयी। बहुत से लोगों का मेल-जोल रहन-सहन, खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आदि प्रायः उनके छोटे-छोटे दायरे (क्षेत्र) में ही होता है। इस प्रकार जन-साधारण के विचार तथा कार्य का केन्द्र बहुत परिमित हो गया। पिछली दशाब्दियों में इस स्थिति में क्रमशः परिवर्तन हुआ है। वर्तमान शिक्षा, सभ्यता, धार्मिक जागृति, आजीविका-प्राप्ति की कठिनाइयों और राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी इस परिवर्तन में कुछ सहायता पहुँचायी है।

आर्थिक दृष्टि से जाति-भेद के प्रधान लाभ ये मालूम होते हैं:—(अ) इससे वंशानुगत कार्यकुशलता की प्राप्ति होती है, बाप-दादे के किये हुए काम की शिक्षा और उसके रहस्य जल्दी जान लिये जाते हैं। (आ) हर एक जाति वालों का संघ होता है, जिसके सदस्य परस्पर एक-दूसरे की मदद करते हैं, तथा काम की मज़दूरी नियमानुसार बनाये रखने में सहायक होते हैं। (इ) इससे कुछ अंश तक स्थूल श्रम-विभाग होता है, एक जाति के पुरुष एक कार्य करते हैं; हाँ, उन्हें किसी नवीन कार्य का आरंभ करना कठिन भी हो जाता है।

जाति-भेद से होनेवाली मुख्य हानियाँ ये है—(क) धन्धे या पेशे के बदलने में कठिनाई होती है। कुछ लोगों को नये ढंग से अपना कार्य चलाने में बाधा होती है। (ख) कई जातियों को अछूत या नीच मानेजाने से समाज में श्रम का यथेष्ट गौरव या महिमा नहीं रहती। (ग) कल-कारख़ाने आदि बड़े-बड़े कार्यों के संगठन के लिए जाति-भेद बाधक होता है। (घ) चौके की छुआ-छूत के कारण बहुत अपव्यय होता है। जब भिन्न-भिन्न-जाति के आदमी

अपना-अपना भोजन अपने ही हाथ से पकाते हैं, तो उसकी अलग-अलग व्यवस्था करने में स्थान, ईंधन आदि की अधिक आवश्यकता होती है; तथा बुद्धिमान् आदमी को, जो बहुमूल्य कार्य कर सकता है, अपना बहुत सा समय खाना पकाने के काम में ही लगा देना पड़ता है, जिसे सम्भव है, वह अच्छी तरह करना न जानता हो।

जाति-भेद के वर्तमान दोषों को देख कर बहुत से आदमी जात-पाँत को समूल नष्ट करना चाहते हैं। कुछ वर्षों से जातपाँत तोड़क मंडल इस दिशा में कुछ संगठित कार्य कर रहा है। परन्तु विशाल सामाजिक क्रांति के बिना, ऐसे प्रयत्नों में विशेष सफलता नहीं हो सकती। यह सफलता तो बहुत-कुछ शिक्षा-प्रचार पर निर्भर रहेगी। जब घर-घर ज्ञान का प्रकाश होगा विशेषतया महिलाएँ शिक्षित होंगी तो जातपाँत की रूढ़ि या प्रथा को तोड़ने में समुचित सहयोग मिलेगा। वर्त्तमान अवस्था में अधिकतर जनसमुदाय कृषि-कार्य में लगा है, वह पुराने विचार वाला है; देश के औद्योगिककरण से इस मनोवृत्ति में क्रमशः सुधार होगा।

संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली—भारतवर्ष के बहुत-से भागों में एक कुटुम्ब या परिवार के आदमी इकट्ठे रहते, और मिल कर धन पैदा तथा व्यय करते हैं। सब कमानेवालों की आमदनी घर के एक बड़े-बूढ़े के पास जमा होती है। वह सबकी ज़रूरतें पूरी करने की कोशिश करता है। इससे अनाथों की शिक्षा तथा परवरिश में कुछ सुविधा होती है; तथा बीमारी या बुढ़ापे में कोई आदमी असहाय या बिना सहारे के नहीं होता। लेकिन इससे कई हानियाँ भी होने लगी हैं—

(१) कोई आदमी अपनी मेहनत का तमाम फल अपनी संतान के लिए ही नहीं छोड़ सकता, अतः धनोपार्जन में उसे विशेष उत्साह नहीं होता।

(२) सब को रोटी-कपड़ा मिलने का भरोसा रहता है। इसलिए कई एक आदमियों में स्वावलम्बन तथा साहस नहीं होता। कोई-

कोई आदमी मुफ़्त में ही बेकार रहता हुआ अपने दिन काटा करता है।

(३) इस प्रणाली में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के भावों का विकास नहीं होता। बहुधा पुरुष पराधीनता में कलह और दुःख का जीवन व्यतीत करते हैं, जो आर्थिक दृष्टि से हानिकर है।

आज-कल लोगों में वैयक्तिक विचारों की वृद्धि हो रही है। पहले प्रायः एक परिवार के सब आदमी एक ही प्रकार के उद्योग-धन्धे से आजीविका प्राप्त करते थे। अब आमदरफ्त की वृद्धि और यातायात की सुविधाएँ अधिक होने से, और जीवन-संग्राम की कठिनाइयाँ दिनोंदिन बढ़ने से, परिवार के जिस आदमी को जहाँ जिस प्रकार के कार्य करने का अवसर मिल जाता है, वह वहाँ वैसा करने लगता है। इस तरह परिवार के सदस्यों के दूर-दूर रहने का प्रसंग बढ़ता जाता है। अनेक दशाओं में जब कि एक आदमी गाँव में खेती करता है, उसका एक लड़का उसके साथ रहता है, दूसरा किसी नगर में कलर्की आदि का कार्य करता है, और तीसरा किसी अन्य नगर के कल-कारखाने में श्रम करता है। इससे संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली का ह्रास होता है। यद्यपि स्वावलम्बन और विचार-स्वातंत्र्य का यथेष्ट महत्व है, तथापि समाज की उन्नति के लिए पारस्परिक सहानुभूति, सहयोग और त्याग के भावों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार आवश्यकता इस बात की है कि संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली में जो गुण हैं, उन की वृद्धि हो, और इसके दोषों का निवारण हो।

क्या यहाँ धार्मिक विचार आर्थिक उन्नति में बाधक हैं?—प्रायः यह कहा जाता है कि भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति पर यहाँ के धार्मिक विचारों का गहरा प्रभाव है, और अधिकतर आदमी परलोक की बातोंमें लगे रहने के कारण सांसारिक विषयों की ओर समुचित ध्यान नहीं देते। ऐसा कथन कुछ अत्युक्ति-पूर्ण है। निस्सन्देह

यहाँ कुछ आदमी अपना खासा समय और शक्ति पूजा-पाठ या तीर्थ-यात्रा आदि धार्मिक कार्यों में खर्च करते हैं, परन्तु उसे धनोत्पत्ति की दृष्टि से व्यर्थ नहीं कह सकते। इससे उन्हें शान्ति और सन्तोष होता है; हानि-लाभ में, सुख-दुख में धैर्य बनाये रखने में सहायता मिलती है, जो आर्थिक आर्थिक जीवन की सफलता के लिए बहुत उपयोगी है। कुछ आदमी तीर्थ-यात्रा के सिलसिले में अनेक स्थानों, बाजारों और मंडियों का निरीक्षण करते हैं, और व्यापारियों से मेल-मुलाकात करते हैं, जिससे उन्हें पीछे आर्थिक लाभ भी होता है। हाँ, ऐसी दृष्टि थोड़े ही व्यक्तियों की होती है, दूसरे आदमी भी चाहें तो उस समय और द्रव्य को बहुत-कुछ धनोत्पत्ति में लगा सकते हैं; संतोष-वृत्ति के कारण, वे ऐसा नहीं करते। अस्तु, कुल जनता का विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि सर्वसाधारण पर उनके धार्मिक विचारों का ऐसा प्रभाव नहीं है कि वह धनोत्पत्ति में विशेष बाधक हो। उदाहरणवत् मारवाड़ी, जैन और भाटियों ने, धार्मिक विचारों से कट्टर होते हुए भी, उद्योग व्यापार आदि में यथेष्ट ख्याति प्राप्त की है। इसी प्रकार, यद्यपि मुसलमान ब्याज पर रुपया देना-लेना धार्मिक दृष्टि से बुरा मानते हैं, आर्थिक व्यवहार में वे इसे निषिद्ध नहीं समझते।

भारतवर्ष में बहुत से आदमी बहुत-कुछ भाग्यवादी अवश्य हैं; पर इसका कारण धर्म के अतिरिक्त राजनैतिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी स्थिति भी है। गत शताब्दियों में देश में शांति और सुव्यवस्था कम रहने से लोगों का जीवन प्रायः अस्थिर और संकटमय रहा है। उनकी आर्थिक स्थिति पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसी खराब रही है कि उनकी कार्यक्षमता और उत्साह घट गया है। इसलिए उनमें उद्योग-वाद या कर्मवाद के भावों की कमी है। फिर, अधिकांश भारतवासी खेती के काम में लगे हुए हैं, जो प्रायः वर्षा पर निर्भर है और, वर्षा अनिश्चित रहती है; कभी बहुत कम, कभी बहुत ज़्यादद। कभी-कभी

बाढ़ या भूकम्प आदि का भी अनुभव होता रहता है, अनेक बार कीड़ा आदि लग जाने से भी फ़सल ख़राब हो जाती है। विज्ञान का ज्ञान न होने की दशा में बेचारा दीन-हीन किसान भाग्यवादी न हो तो क्या हो।

इस प्रसंग में हमें यह भुलाना उचित न होगा कि वर्त्तमान काल में जब कि सर्वसाधारण में शिक्षा की बहुत कमी है, धार्मिक भाव उनके नैतिक चरित्र को अपेक्षाकृत ऊँचा बनाने में सहायक हैं। धार्मिक भावना के कारण भारतवर्ष का एक औसत दर्जे का आदमी झूठ बोलने, चोरी या बेईमानी करने, अपने सहयोगियों से लड़ने-झगड़ने, मालिकों को हानि पहुँचाने, तथा नशा करने आदि से परहेज करता है। वह शौच, स्नान सफाई आदि की उपयोगिता को भली भाँति न समझते हुए भी उसका ध्यान रखता है। अस्तु, यद्यपि यह आवश्यक है कि यहाँ ज्ञान का प्रचार और धार्मिक सुधार हो, तथापि यह कहा जा सकता है कि यहाँ की प्रचलित धार्मिक भावना आर्थिक दृष्टि से उतनी हानिकर नहीं है, जितनी प्रायः समझी जाती है।

भारतीय श्रमजीवी—जैसा कि पहले कहा गया है, श्रमजीवियों में वे सभी व्यक्ति समझ लिये जाते हैं, जो किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक श्रम करते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के भारतीय श्रमजीवियों के सम्बन्ध में विशेष बातें आगे कही जायँगी। यहाँ कुछ साधारण बातें, जो थोड़ी-बहुत सभी के लिए लागू होती हैं, बतायी जाती हैं। अधिकतर आदमियों को अपने घर और निवास-स्थान का बहुत मोह होता है। बिलकुल ही लाचारी हुए बिना, वे दूसरी जगह जाकर काम-धन्धा करना पसन्द नहीं करते; और जब बाहर जाते हैं, तो बहुधा कुछ रुपया जमा हो जाते ही घर लौट आते हैं। अधिकतर जनता ग्रामों में रहनेवाली है। गाँवों के श्रमजीवी प्रायः नगरों में उन दिनों में अधिक ठहरते है, जबकि उन्हें गाँवों में खेती की फसल आदि का काम नहीं होता।

भारतीय श्रमी अधिकतर संतोष-वृत्ति वाले होते हैं; किसी-तरह निर्वाह-योग्य आय हो जाने पर, वे और अधिक आय के लिए प्रयत्न नहीं करते। उनका रहन-सहन का दर्जा बहुत निम्न श्रेणी का तथा जीवन सरल और सादा होता है। वे अपने कष्टों को बहुत सीमा तक सहन कर लेते हैं, वे उनके बारे में शिकायत या अन्दोलन बहुत कम करते हैं। इन बातों में क्रमशः परिवर्तन हो रहा है।

सर्वसाधारण जनता का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, खाने-पीने, विश्राम, औषधि आदि की व्यवस्था न होने से वे बहुधा रोगी रहते हैं और अल्पायु होते हैं। इससे उनकी कार्यक्षमता का यथेष्ट उपयोग नहीं हो पाता। साधारण तौर से औद्योगिक शिक्षा की भी कमी है। इससे श्रमियों की कुशलता पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

आगे दिया हुआ व्योरा सन् १९४१ की मनुष्य-गणना में नहीं दिया गया है, इसलिए यहाँ १९३१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार दिया जाता है। उसके हिसाब से भारत और बर्मा में प्रति सैकड़ा ४४ आदमी वास्तविक कार्य करने वाले और ५६ उनके आश्रित थे। ४४ उत्पादकों में मोटे हिसाब से ३६ आदमी मुख्य काम करते हैं, और ८ उनके सहायक हैं। इन ३६ कार्यकर्त्ताओं में २८ पुरुष और ८ स्त्रियाँ हैं, तथा ८ सहायकों में से दो पुरुष और ६ स्त्रियाँ हैं। इस प्रकार कुल जनसंख्या में जो प्रति सैकड़ा ४४ उत्पादक हैं, उनमें ३० पुरुष और १४ स्त्रियाँ हैं। इनमें औसतन चार पुरुष और दो स्त्रियाँ अपने मुख्य पेशे के अतिरिक्त कुछ और भी काम करती हैं। मोटे हिसाब से यहाँ कुल जनता में फी सैकड़ा ५१ पुरुष और ४९ स्त्रियाँ मानी जा सकती हैं। इस प्रकार मालूम होता है कि प्रति सैकड़ा २१ पुरुष और ३५ स्त्रियाँ आश्रित हैं; ये स्वयं कुछ काम नहीं करतीं, दूसरों की कमाई खाती हैं। इन आश्रितों में बच्चे तथा बूढ़े भी सम्मिलित हैं।

भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार जनता (कार्य करनेवाले और उनके आश्रित व्यक्तियों) के अंक प्रति दस हजार इस प्रकार हैं:—खेती

और पशु-पालन ६,५६०; खनिज पदार्थों की निकासी २४; उद्योग-धंधे १,०३८; माल ढुलाई १६५; व्यापार ५५३; सेना ५६; सरकारी नौकरी ६६; कलर्क, अध्यापक वकील, डाक्टर आदि, १६१; विविध (घरेलू नौकर, अनिश्चित आय वाले, और अनुत्पादक आदि) १३७४।

कृषक—भारतीय जनता में दो-तिहाई कृषक या कृषि-श्रमजीवी हैं। प्राचीन काल में ऐसा न था; उस समय यह देश अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति के कारण विदेशी व्यापारियों को आकर्षित किया करता था। जब योरप में औद्योगिक क्रान्ति हुई और साथ ही भारत-वर्ष में धीरे-धीरे अंगरेज़ों का अधिकार हुआ तो ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में यहाँ की उत्तमोत्तम दस्तकारियाँ नष्ट करके इसे जबरदस्ती ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चा माल देनेवाला बनाया गया। अनेक भारतीय कारीगरों को जब दूसरा काम न रहा तो वे खेती की ओर झुक गये और देश की कृषक-जनता के रूप में भूमि का भार बढ़ाने वाले हो गये। अब, अनेक किसानों के पास भूमि इतनी कम है, कि उससे उनका निर्वाह नहीं हो सकता।

भारतीय कृषक को लोग बहुधा गँवार, अयोग्य और कूढ़-मग्ज़ समझते हैं। यद्यपि वह नवीन कार्य-प्रणाली से अपरिचित और पुराने विचारवाला होता है, तथापि उसे अपने वंशानुगत या पुश्तैनी कार्य का स्वाभाविक ज्ञान होता है। वह बिना सिखाये ही यह जानता है कि कौनसी फसल कब और कैसी ज़मीन में बोनी चाहिए, और किस भूमि में एक फसल के बाद दूसरी कौनसी फसल बोना लाभकारी होगा। उसके साधन प्रायः अपर्याप्त होते हैं; आर्थिक बाधाएँ उसके सुधार-कार्यों में पग-पग पर बाधक होती हैं। वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग करने, बड़े-बड़े खेत रखने, अच्छी खाद देने, गहरी जोताई, और काफी आबपाशी करने के लिए बड़ी पूँजी चाहिए। पूँजी न होने के कारण कृषक इन सुधारों की उपयोगिता जानता हुआ भी, उन्हें अमल में नहीं ला सकता।

कृषकों की दशा बहुत-कुछ उनकी परिस्थिति पर निर्भर रहती है; जिन स्थानों में वर्षा निश्चित समय पर होती है, अथवा आबपाशी के काफी साधन हैं, वहाँ किसान उत्साह, फुर्ति और परिश्रम से काम करता है। इसके विपरीत, जहाँ परिस्थिति खराब होती है, वह आलसी, भाग्यवादी और निराशावादी तथा कंगाल हो जाता है। इस कथनमें कुछ सचाई अवश्य है कि वातावरण या परिस्थिति के सुधार होने पर कृषक स्वयं सुधर जायगा। परन्तु वास्तव में कृषक और उसके वातावरण दोनों के ही सुधार की आवश्यकता है। किसानों को यथेष्ट पूँजी मिलने की सुविधा होने, लगान की मात्रा घटाने, और लगान वसूल करने की पद्धति में सुधार होने आदि के सम्बन्ध में विशेष विचार आगे प्रसंगानुसार किया जायगा। यहाँ हम उनकी शिक्षा और स्वास्थ्य के विषय में ही कुछ लिखते हैं।

कृषकों की शिक्षा—भारतवर्ष में 'किसान' शब्द का अर्थ अनपढ़ माना जाता है। जब कि यहाँ कुल जनता में पढ़े-लिखे आदमी १२ फी सदी ही हों, तो दीन-हीन कृषकों में उनकी संख्या और भी कम होना स्वाभाविक है। इस ओर क्रमशः ध्यान दिया जाने लगा है। बुनियादी शिक्षा के बारे में आगे, औद्योगिक शिक्षा के प्रसंग में, लिखा जायगा।

कृषक-बालकों के लिए वही शिक्षा-पद्धति उपयोगी हो सकती है, जिससे शिक्षा पाकर वे कृषि-कार्य को अच्छी तरह कर सकें; ऐसा न हो कि वे उसे घटिया समझें और दफ़्तरों में कलर्की आदि करने के लिए उत्सुक होने लगें। उनका पाठ्यक्रम ऐसा हो, जो भविष्य में उनके काम आवे। उनकी शिक्षा का समय तथा छुट्टी में भी कृषि की सुविधा का ध्यान रखा जाय। उनके अध्यापक ग्राम-सेवाभिलाषी हों। स्त्रियों की शिक्षा की भी आवश्यकता है, उसके वास्ते स्त्री-अध्यापिकाएं तैयार करने के लिए विशेष उद्योग होना चाहिए। प्रौढ़-शिक्षा भी बहुत ज़रूरी है, और उसके लिए रात्रि-पाठशालाओं और वाचनालयों की

स्थापना करने, तथा मेजिक लालटेन के दृश्य दिखाने की काफी व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसी कृषि-प्रदर्शनियाँ भी बहुत उपयोगी होती हैं, जिनमें खेती की विकसित पद्धति, अच्छे औजार, बीज, और अच्छी नस्ल के पशु दिखाये जाते हैं, तथा कृषि-सम्बन्धी बातें अमली या व्यावहारिक ढङ्ग से समझायी जाती हैं।

कृषकों का स्वास्थ्य—कृषक-जनता अधिकतर गाँवों में रहती है, और यद्यपि वहाँ नगरों की तरह घनी आबादी अथवा मिलों या कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुएँ की भरमार नहीं होती, फिर भी लोगों का स्वास्थ्य कैसा रहता है, यह पाठकों को विदित ही होगा। मलेरिया ज्वर, प्लेग, हैजा, चेचक, खाँसी आदि की शिकायतें व्यापक रूप से रहती हैं। वहाँ चिकित्सा की व्यवस्था नहीं सी है। इससे मृत्युसंख्या तो बढ़ती ही है; अनेक आदमी जो इन बीमारियों के शिकार होते हुए जीवित रह जाते हैं, बहुधा स्थायी रूप से निर्बल रहते हैं, उनकी कार्यक्षमता कम होती है। बीमारयों का मुख्य कारण लोगों की निर्धनता तथा अज्ञान है। किसानों के अज्ञान की बात तो सब कहते हैं, पर उनकी निर्धनता का विचार बहुत कम किया जाता है। कितने ही आदमियों को साधारण समय में भी अच्छा काफी भोजन नहीं मिल पाता। किसान लोग जो बढ़िया अन्न, फल या शाक आदि अच्छी वस्तुएँ पैदा करते हैं, वे सब बिकने के वास्ते होती हैं, जिससे किसान अपना लगान तथा ऋण का सूद चुका सकें। इनके बच्चों को दूध घी बहुत ही कम मिल पाता है। ये बातें इनकी आर्थिक हीनता के कुछ उदाहरण मात्र हैं। फिर, जबकि ये बातें साधारण अच्छे समझे जानेवाले वर्षों की है, तो दुर्भिक्ष के समय की स्थिति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अस्तु, इनके स्वास्थ्य को सुधारने तथा इनमें शिक्षा प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस दिशा में कुछ कार्य होने लगा गया है। कृषकों की दशा सुधारने के लिए कानून बन रहे हैं।

कृषि-श्रमजीवी—कृषि-श्रमजीवियों या देहाती मज़दूरों की हालत कृषकों से भी गयी-बीती है। इसका कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि वे बेचारे यह अनुभव ही नहीं करते कि उनकी मुसीबतें किसी अंश में कम हो सकती हैं। उनका कोई सङ्गठन भी नहीं है, जिससे वे अपनी स्थिति दूसरों के सामने रखें। फल-स्वरूप उनकी दशा का वास्तविक ज्ञान, बहुत कम लोगों को है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे बहुत गरीब और सङ्कट-ग्रस्त हैं। हिसाब से मालूम हुआ है कि भारतवर्ष में १०० काश्तकार औसतन २५ श्रमजीवी रखते हैं। यह संख्या भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पृथक्-पृथक् है। कृषि-श्रमजीवी संतोषी, परिश्रमी और सहनशील होता है। किसी-किसी के पास बहुधा कुछ भूमि अपनी भी होती है, परन्तु उससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता। अतः वह जमींदार की जमीन के साथ ही इसे जोतता है। किसी-किसी के पास बैलगाड़ी होती है, वह उसमें किराये पर सवारियाँ ले जाता है, वा माल ढोता है। कभी-कभी वह पास के कल-कारखाने में मज़दूरी कर लेता है। औरतें खेतों में निराई कटाई आदि कार्य करती हैं, ईंधन बेचती हैं, गोबर के उपले या कण्डे थापती हैं (जो नज़दीक के क़स्बों में बिकते हैं), कपास लोढ़ती हैं, सूत कातती हैं और दूसरे काम करती हैं। इस प्रकार कृषि-श्रमजीवी का ध्यान कई ओर रहता है, एक ही धंधे से उसका गुज़ारा नहीं हो पाता।

वर्त्तमान कृषि-श्रमजीवियों में बहुत से पहले किसान थे। इन्होंने दुर्भिक्ष के दिनों में अपनी उदर पूर्ति के लिए, या अपनी संतान की विवाह-शादी, या किसी मृतक-भोज आदि सामाजिक प्रथा या दण्ड के लिए, या लगान चुकाने आदि के लिए जमीन गिरवी रखकर ऋण लिया और पीछे उसे न चुका सकने के कारण वे ज़मीन से वंचित हो गये। कृषि-श्रमजीवियों में कुछ आदमी हरिजन जातियों के भी हैं, जो सामाजिक कठोरता के कारण ज़मीन आदि के अधिकारी नहीं होने पाते। इन श्रमजीवियों में पढ़े-लिखे आदमी बहुत ही कम हैं। स्त्रियाँ

तथा बड़ी उम्र के बालक भी आजीविका की फ़िक्र में रहते हैं। जिस ज़मीदार या बड़े किसान का इन्हें कर्ज़ा चुकाना होता है, उसके ये प्रायः जन्म भर गुलाम बने रहते हैं। बहुत मामूली मज़दूरी पर इन्हें उसके यहाँ काम करना होता है। यह मज़दूरी उन्हें साल के बारहों महीने नहीं मिलती रहती। बहुधा फसल के दिनों में भी उनकी इतनी आय नहीं होती कि परिवार का कुछ अच्छी तरह गुज़ारा हो सके। फिर साल के पाँच छः महीनों में, जबकि खेतों में काम नहीं होता, इनकी दुर्दशा का क्या ठिकाना! ये घटिया अन्न और शाक-भाजी आदि खाकर रहते हैं, और उसके भी न मिलने पर कुछ आदमी तो मरे हुए गाय-बैलों का मांस तक खाते हैं, भूख से व्याकुल होकर अन्न आदि की चोरी करते हैं। कितने ही देहाती मज़दूर आधे पेट खाते हुए ही किसी तरह अपने दिन काटते हैं। कपड़े के अभाव में बेचारे आधे नंगे रहते हैं और सर्दी-गरमी सहते हैं। इनकी बस्ती तथा रहने की झोपड़ियाँ गन्दी और बदबूदार होती हैं। इन बातों के फल-स्वरूप ये रोगी और अल्पायु होते हैं। इनके जीवन में आशा और उत्साह का, तथा इनके कार्य में कुशलता और स्फुर्ति का अभाव होना स्वाभाविक ही है।

खानों और कारखानों के मज़दूर—भारतवर्ष अभी कृषि-प्रधान है, कारखानों में काम करनेवाले बहुत से मज़दूर भी गाँवों से आते हैं; जब उन्हें खेती का कुछ काम नहीं रहता, वे आजीविका के लिए कल-कारखानों की शरण लेते हैं। पिछले वर्षों में यहाँ शराब-खोरी बढ़ गयी है (जो खेदजनक है), तथापि पाश्चात्य देशों के मुकाबिले में यहाँ बहुत कम नशा होता है। यहाँ के श्रमजीवी धार्मिक आचार-विचार के कारण स्वभाव से ही सन्तोषी होते हैं। उनका रहन-सहन साधारण, और आवश्यकताएँ कम रहती हैं। उनकी मेहनत प्रायः घटिया दर्जे की, या कम उत्पादक होती है, इसलिए वह बहुधा सस्ती दिखलायी पड़ने पर भी अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा वास्तव

में मँहगी पड़ती है। इसके कई कारण हैं। उन्हें काम का यथोचित ज्ञान नहीं होता, वे यथेष्ट पुष्टिकर भोजन भी नहीं पाते। उनके रहन-सहन, निवास-स्थान आदि के लिए समुचित व्यवस्था होने की बड़ी आवश्यकता है। बड़े-बड़े कारखानों या मिलों में काम करने वालों की शिक्षा के लिए अलग प्रबन्ध होना चाहिए। खानों के मज़दूरों के लिए उनके आसपास ही स्कूल खोलना उचित है, वहाँ भू-तत्वविद्या के साथ खान खोदने की व्यावहारिक शिक्षा दी जाय। धातुओं को गलाने और कल-पुर्ज़ा ढालने के लिए लोहे के कारखानों से लगे हुए स्कूल उपयोगी हैं। इन सब प्रकार की शिक्षाओं के लिए आवश्यकता होने पर, सरकार कारखानों को आर्थिक सहायता दे।

कारीगर या स्वतन्त्र श्रमी——साधारण तौर से हमारे कारीगर अपने पुश्तैनी कार्य को जल्दी सीख लेते हैं; हाँ, उन्हें सुअवसर मिलना चाहिए। माँ-बाप की निर्धनता के कारण अनेक व्यक्तियों को बहुत थोड़ी उम्र में ही, आजीविका-प्राप्ति के काम में लग जाना पड़ता है, इससे उनकी योग्यता का विकास नहीं होने पाता। अधिकांश आदमी पुराने धन्धों को, पुरानी ही शैली से, करने के आदी होते हैं, नये काम उन्हें नहीं रुचते; और, यदि रुचिकर भी हों तो आजीविका के यथेष्ट साधनों के अभाव में, वे उसके लिए साहस नहीं कर सकते; कारण कि ऐसा करने से उन्हें भूखा मरने की आशंका रहती है। देश में सर्वसाधारण की निर्धनता के कारण अब सस्ती चीजों की माँग बढ़ रही है, कारीगरी की कदर करने वाले कम हैं। कुछ राजा-महाराजा, रईस, या बड़ी-बड़ी वेतन पानेवाले आदमी अवश्य कारीगरी की चीजों के शौक़ीन होते हैं, पर उससे कितने कारीगरों का भला हो सकता है! उनकी दशा के सुधारने में, औद्योगिक शिक्षा के प्रचार से कुछ सफलता अवश्य मिल सकती है।

औद्योगिक शिक्षा—खेद है कि औद्योगिक शिक्षा के सम्बन्ध

में यहाँ समाज और राज्य यथोचित कर्त्तव्य-पालन नहीं करते रहे हैं, और कला-कौशल आदि की शिक्षा-संस्थाएँ इनी-गिनी हैं; जर्मनी, अमरीका आदि देशों की तुलना में तो वे नहीं के बराबर ही हैं। इस शिक्षा की कमी के कुछ मुख्य कारण ये हैं—(क) यहाँ औद्योगिक कार्य वैश्यों या शूद्रों के लिए परिमित है, बहुधा उच्च जाति वालों को हाथ का काम करने में शर्म मालूम होती है। (ख) एक पेशे का काम वंश-परम्परा से चलता है; दूसरे आदमियों को सिखाया नहीं जाता। (ग) उत्पत्ति की रीतियों में भेद आ जाने से अब हाथ से कार्य करने की रीति उठती जा रही है। (घ) जातपाँत के बंधनों तथा निर्धनता के कारण, नवयुवकों को विदेशों में जाकर औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा नहीं है। ब्रिटिश-साम्राज्य के अंतर्गत देशों में भी पराधीन भारतीय बड़े निरादर से रखे जाते हैं। ये सब दोष दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए।

देश में औद्योगिक शिक्षा-संस्थाएँ बहुत कम हैं। जहाँ-तहाँ कुछ संस्थाओं द्वारा साधारण शिक्षा के साथ-साथ औद्योगिक विषयों की शिक्षा का प्रचार हो रहा है, जिनमें लकड़ी लोहे, का काम; कपड़ा, दरी या कालीन बुनना; कुर्सी, मूढे बनाना आदि मुख्य हैं। परन्तु ये सब संस्थाएँ बहुत थोड़ी ही है। यहाँ स्थान-स्थान पर ऐसी शिक्षा-संस्थाओं के खुलने की आवश्यकता है, जिनके द्वारा औद्योगिक शिक्षा का प्रचार और बृद्धि हो। सन् १९३७ से यहाँ प्रान्तों में प्रजातंत्रात्मक सरकारें स्थापित हुई; उन्होंने, विशेषतया कांग्रेस-सरकारों ने, इस ओर अच्छा ध्यान दिया। म० गांधी की प्रेरणा से बुनियादी या आधार-भूत ('बेसिक') शिक्षा की योजना बनायी गयी। इसकी मुख्य बातें ये हैं—सब बालकों के लिए उनकी मातृभाषा में सात साल की मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध हो; शिक्षा का केन्द्र किसी प्रकार की उत्पादक दस्तकारी होनी चाहिए; शिक्षा के अन्य विषयों (भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान और आलेख्य आदि) का सम्बन्ध

यथा-सम्भव उपर्युक्त दस्तकारी से होना चाहिए; इस दस्तकारी का चुनाव बालकों के वातावरण, और स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। प्रयोग के लिए कताई-बुनाई बुनियादी दस्तकारी मानी गयी, स्थान-स्थान पर बुनियादी-शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की गयीं, और उनका कार्य बड़े उत्साह से किया जाने लगा था। परन्तु सन् १६३६ में कांग्रेस-मंत्रिमंडलों के इस्तीफा देने के बाद इस ओर उपेक्षा की जाने लगी; तब से सन् १६४५ तक यद्यपि समय-समय पर शिक्षा-प्रचार सम्बन्धी सरकारी योजनाएँ बनी हैं, पर वे कार्य-रूप में नहीं आयीं। भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों का ध्यान अधिकतर युद्ध सम्बन्धी उद्योगों की ओर रहा। युद्ध समाप्त हो जाने पर भी उसका प्रभाव बना हुआ है। अब सन् १६४६ में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होने, और शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिये जाने की आशा है।

मानसिक कार्य करनेवाले—भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार बहुत कम है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि आधुनिक शिक्षा, विशेषतया उच्च शिक्षा, बहुत महँगी या खर्चीली है। साधारण गृहस्थों के लिए अपने बालकों को कालिज में भेजना तो दूर, मेट्रिक या हाई स्कूल क्लास तक की शिक्षा दिलाना भी कठिन है। फिर, जब शिक्षित व्यक्तियों को भी अपनी आजीविका के लिए भटकना पड़े तो शिक्षा की ओर जनता की अरुचि होना स्वाभाविक ही है। हाँ, और भी कोई रास्ता खुला न होने से अनेक माँ-बाप जैसे-तैसे, कुछ दशाओं में तो ऋण लेकर, अपने बालकों के लिए इसी शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। अस्तु, उच्च-शिक्षा यहाँ बहुत दुर्लभ है; यद्यपि बेकारी के कारण यहाँ शिक्षितों की संख्या कभी-कभी कुछ अधिक समझी जाती है, देश की कुल जनसंख्या का विचार करते हुए वह अत्यन्त कम है। इसका मुख्य कारण, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसका मँहगापन है। आवश्यकता है कि विद्यार्थियों

की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखते हुए फीस आदि कम की जाय। पर सरकार का इस ओर ध्यान नहीं है, सरकारी स्कूलों और कालिजों की फ़ीस प्रायः बढ़ती ही जाती है। हाँ; कुछ राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएँ अल्प-व्यय से शिक्षा देरही हैं।

हमारे अनेक उच्च-शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों को अपनी योग्यता दिखाने का पूरा अवसर नहीं मिलता; विविध उच्च पदों पर अभी तक भी अंगरेजों की, या सरकार के विशेष कृपापात्रों की नियुक्ति होती है, जिसमें जातिगत या साम्प्रदायिक लिहाज़ रहता है। यह बात उच्च शिक्षा की प्राप्ति में बाधक है, और हटायी जानी चाहिए।

घरेलू नौकर—पहले कहा जा चुका है कि अधिकांश भारत-वासियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। इसके फल-स्वरूप देश में बहुत कम आदमी ऐसे हैं जो नौकर रखने में समर्थ हों; फिर, जो आदमी नौकर रखते भी हैं, उनमें से अधिकांश चोके-वर्तन, झाड़ू-बुहारी या रसोई आदि के काम के लिए नौकर रखते हैं, जिसमें विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती; इन कामों को अकुशल श्रमी भी भली भाँति कर सकता है। ऐसे श्रमियों की संख्या देश में पर्याप्त है। अस्तु, इनमें से अधिकांश की दशा अच्छी नहीं है, कुछ तो अपने निर्वाह के लिए दो-दो तीन-तीन घरों में काम करते हैं। इनका कोई संगठन नहीं होता। बहुधा एक मालिक के यहाँ से बरखास्त किये जाने पर इन्हें बहुत समय तक दूसरी जगह नौकरी की खोज करनी पड़ती है।

कार्य-कुशलता की वृद्धि—भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमजीवियों सम्बन्धी उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनकी कुशलता बहुत कम है, और उसके बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। श्रमजीवियों की कार्य-कुशलता जल-वायु, जाति, भोजन, वस्त्र, रहन-सहन, स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्य करने की स्वतन्त्रता, उन्नति और लाभ की आशा, कार्य-क्रम की विभिन्नता जिससे श्रम बहुत निरस प्रतीत न हो, आदि बातों पर

निर्भर होती है। यहाँ कुशलता-वृद्धि में एक मुख्य बाधा लोगों की गरीबी भी है। उद्योग करने पर, उनमें विविध प्रकार की शिक्षा का प्रचार करने से, उसमें बहुत-कुछ सुधार हो सकता है।

चौथा अध्याय

पूँजी

मूलधन या पूँजी—भूमि के अलावा जो धन और अधिक धन पैदा करने में लगाया जाय, वह मूलधन या पूँजी कहलाता है। सब मूलधन तो धन होता है, परन्तु सब धन मूलधन नहीं कहा जा सकता। यदि एक मनुष्य के पास कुछ अन्न है, और वह बिना श्रम किये उस अन्न को खाता रहे, तो वह अन्न उसका धन तो है, पर मूलधन नहीं कहा जायगा। हाँ, यदि वह इसका ख़र्च करते समय धन-उत्पादन का कार्य कर रहा है, तो वह अन्न मूलधन गिना जायगा। इसी प्रकार, यदि हम अपना धन किसी दूसरे आदमी को ब्याज पर देदें, तो उस धन में कुछ कमी न होकर हमें उससे कुछ आमदनी होती रहेगी; इस दशा में भी हमारा धन मूलधन ही कहलायेगा, यद्यपि ब्याज पर देना उसका बहुत अच्छा उपयोग नहीं है।

भारतवर्ष में पूँजी की दशा—यहाँ जनसाधारण के पास पूँजी बहुत कम है। अधिकांश आदमी 'जो आया, सो खाया' का हिसाब रखते हैं। जैसे-तैसे निर्वाह करना भी उनके लिए बड़ा कठिन है। हाँ, कुछ आदमी ऐसे भी हैं, जो यदि चाहें, तो अपनी आय में से धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी बचत करके उसे अधिक धनोत्पादन के कार्य में लगा सकते हैं। परन्तु उनमें से बहुत-से कुछ बचाते ही नहीं। कुछ

आदमी हानि की आशंका और साहस की कमी के कारण अपनी थोड़ी बचत से कुछ काम नहीं लेते, उसे घर पर ही नक़दी, धातु या आभूषण के रूप में रखे रहते हैं। ये लोग अपनी पूँजी से अलग-अलग काम करें तो इन्हें विशेष लाभ भी न हो। परन्तु यदि बहुत-से आदमी अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी इकट्ठा करके उससे कोई बड़ा कार्य करें, तो उस पूँजी की धनोत्पादक शक्ति बढ़ सकती है। हमारे कितने ही राजा-महाराजों, जमींदारों तथा महन्तों आदि के पास खासा धन है। यदि वे इसे व्यावसायिक कार्यों में लगावें, तो देश का बड़ा हित हो; परन्तु इनमें से बहुतों को अपनी शौकीनी तथा विलास-प्रियता से ही छुटकारा नहीं। इन सब कारणों से यहाँ पूँजी बहुत कम है।

इधर कुछ वर्षों से व्यवसायों में भारतीय पूँजी की मात्रा क्रमशः बढ़ती जा रही है। मिश्रित पूँजीवाली जो कम्पनियाँ स्थापित हो रही हैं; उनकी पूँजी सब यहीं से इकट्ठा होती है। अब लोग बैंकों में रुपया जमा कराने में अधिक उत्साहित पाये जाते हैं। कई काम अब हिन्दुस्तानियों के हाथ में हैं, जैसे जीन, प्रेस, सोडावाटर या तेल की फेक्टरियाँ, चीनी के कारखाने, कपड़े और जूट की कुछ की मिलें, और कायले की कई खानें, इस्पात के कारखाने आदि। रेल, तार, डाक, डाक और नहर आदि का काम सरकार ने विदेशी पूँजी से किया है। ऊन की मिलें, खनिज पदार्थों के निकालने के काम, चाय और कहवे की खेती, चमड़े के कारखाने प्रायः योरपियनों के हाथ में हैं।

किसानों की पूँजी—हमारे देश के किसानों की नक़द पूँजी नहीं के बराबर है। ऋण के वास्ते इन्हें कड़ा सूद देना पड़ता है। तो भी देहातों में काफी रुपया नहीं मिलता, क्योंकि वहाँ के महाजन भी तो गरीब हैं। किसानों की साधारण पूँजी हल, फाल, खुरपी, कुदाली, पानी सींचने का चरसा या रहट आदि होती है। किसी-किसी किसान के पास बैल तथा बैलगाड़ी भी रहती है। फ़ुरसत

के दिनों में वह हल के बैलों को गाड़ी में जोत कर बोझ लादने का काम करता है। इन वस्तुओं में बीज, जो किसान बोता है, और खाद, जो खेतों में डालता है, इनको शामिल कर लेने से प्रायः किसानों की पूँजी का ब्योरा पूरा हो जायगा। बहुधा किसानों के पास खाने से कुछ बच ही नहीं सकता। उन्हें डेवढ़े या सवाये के करार पर महाजनों से बीज उधार लेना पड़ता है। ऐसे किसान बहुत मिलेंगे, जिनकी सब पूँजी अपनी है, और जो कामचलाऊ पूँजी के अलावा भावी आवश्यकता के लिए कुछ जमा भी रख सकें। भारतवर्ष में बीमा करने की प्रथा अपेक्षाकृत कम है; किसानों में तो यह मानो आरम्भ ही नहीं हुई। उनकी जिन्दगी का, या चारे, फसल, बैल आदि का बीमा नहीं होता। सुरक्षित पूँजी का प्रायः अभाव रहता है। हाँ, कुछ किसान अच्छी फसल होने की दशा में, अपनी अन्य आवश्यकताओं को मर्यादित रख कर कभी-कभी विशेषतया स्त्रियों के लिए थोड़े-बहुत जेवर बनवा देते हैं; पैसे के संकट या तंगी के समय इन्हीं पर उनकी नज़र पड़ती है। यही कारण है कि दुर्भिक्ष आदि के अवसर पर असंख्य किसानों की थोड़ी-थोड़ी चाँदी और कुछ दशाओं में सोना मिल कर इन धातुओं की काफी मात्रा बाजार में बिकने के लिए, तथा निर्यात के लिए आ जाती है।

पशु-पालन—अन्य उपयोगी पदार्थों की तरह पशु भी देश की बड़ी सम्पत्ति हैं। कृषि-प्रधान भारत के लिए तो इनका महत्व और भी अधिक है। बैल और भैंसे आदि से ही यहाँ खेती होती है। खेती करने के अलावा पशु बोझ ढोते और सवारी ले जाते हैं। परन्तु अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष पशु-धन में बहुत दरिद्र है। इङ्गलैण्ड, अमरीका आदि कई पश्चिमी देशों में, जो कृषि-प्रधान भी नहीं हैं, प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या अधिक है; साथ ही वहाँ के पशु अधिक बलवान, तथा नीरोग हैं, और अधिक दूध देने वाले हैं। खेद है कि यहाँ बहुत से किसान ऐसे भी हैं, जिनके पास बैल या भैंसों

की एक भी जोड़ी अपनी नहीं है। यहाँ पशुओं को प्रायः मैला-कुचैला पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा दिया जाता है, इससे उनकी आयु घट जाती है; उनके श्रम तथा रोग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता, उनके रहने की जगह अच्छी नहीं होती और उनकी नस्ल उन्नत करने का उपाय भी बहुत कम किया जाता है।

पशुओं की उन्नति के लिए दो सरकारी विभाग है। फौजवाले उन पशुओं के पालने तथा नस्ल सुधारने का काम करते हैं, जो फौजी रिसाले में लिये जाते हैं। सिविल-विभाग साधारणतः बैल, भैंस, घोड़ा, ख़च्चर आदि पशुओं की उन्नति और चिकित्सा का प्रबंध करता है। कुछ नगरों में पशु-चिकित्सा की शिक्षा दी जाती है, तथा ऐसी सरकारी प्रयोगशालाएँ हैं, जहाँ पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा का अनुसंधान होता है। ज़िला-बोर्डों की तरफ से सब-डिवीज़नों में पशु-चिकित्सक रखे जा रहे हैं। पर इससे फी सैकड़ा बहुत थोड़े ही आदमी लाभ उठा पाते हैं।

पशु-पालन से चारे का घनिष्ट सम्बन्ध है। अब बहुत से घनी बस्तीवाले स्थानों में पशुओं के चरागाह तक जोत डाले जाते हैं, और पशुओं को भरपेट चारा नहीं मिल सकता। यद्यपि प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए एक गाय रखना आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है, परन्तु वर्त्तमान अवस्था में यह कार्य बहुत ही कठिन है। बहुत-से आदमी चारे के अभाव में अपने गाय-बछड़ों को यदि कसाई हाथ नहीं बेचते, तो उसे किसी गोशाला या पिंजरापोल में छोड़कर उससे निश्चिन्त हो जाते हैं। वास्तव में पशु-पालन के लिए चरागाहों की बड़ी आवश्यकता है। जंगलों में बहुत-सी घास बरबाद हो जाती है। उसे सरकारी फ़ार्मों की तरह संचय करके रखने का प्रबन्ध होना चाहिए, तथा अन्य चारों को अधिक मात्रा में पैदा करना और उन्हें आवश्यकता के समय के लिए बचा कर रखना चाहिए।

गोवंश का भयंकर ह्रास—भारतवर्ष में गाय का बहुत मान

किया जाता है। खेती ज्यादातर गो-संतान (बैलों) पर ही निर्भर है। और खासकर हिन्दुओं के लिए कई पदार्थ घी दूध से बढ़ कर पौष्टिक नहीं है। बच्चों, रोगियों और बूढ़ों के लिए तो गाय का दूध एक नियामत ही है। प्राचीन काल में यहाँ दूध दही की ऐसी बहुतायत थी कि अनेक स्थानों में इन चीजों को बेचना अनुचित समझा जाता था। मुसलमानों के शासन में भी इन पदार्थों की विशेष कमी नहीं हुई। अंगरेजों की अमलदारी होने के बाद इनकी बहुत कमी होने लग गयी। इस समय यहाँ प्रति मनुष्य प्रति दिन औसतन तीन छटांक दूध मिलता है, इसमें से भी ५८ प्रतिशत खोया बनाने में, २७ प्रतिशत घी और १० प्रतिशत दूसरी चीजों के बनाने में खर्च हो जाता है। इस प्रकार दूध के रूप में पाने के लिए प्रति मनुष्य, प्रतिदिन तीन छटांक का प्रायः ५ प्रतिशत भाग यानी सिर्फ नौ माशे रह जाता है।

भारतवर्ष में अब गउओं की कमी के मुख्य कारण ये हैं—(१) चमड़े के लिए लाखों गायें प्रति वर्ष मारी जाती है, यहाँ से बहुत सी खालें विदेशों को भी भेजी जाती हैं। (२) फौजी गोरे गोमांस खाते हैं। इनके वास्ते डेढ़-दो लाख पशु प्रति वर्ष मारे जाते का अनुमान है (३) मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं; राष्ट्रीय जागृति होने से इसमें कमी भी होने की आशा है। (४) बहुत सी अच्छी-अच्छी गउएँ विदेशों को भेज दी जाती है। इन बातों को दूर करने की बहुत ज़रूरत है।

सरकार ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया। योरपीय महायुद्ध (१६३६-४५) में अंगरेज और अमरीकन फौजों के लिए गोबध बहुत ही अधिक हुआ। नवम्बर १६४३ में सरकार ने गाय बैंलों के बध पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये। पीछे सन् १६४४ में उसके आदेश से, पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को छोड़ कर शेष सब प्रान्तों में फौजी अधिकारियों ने नीचे लिखे पशुओं के बध पर, तथा बध के लिए बेचने पर, प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया—(१) तीन वर्ष से कम के

बछड़े बछड़ियाँ, (२) तीन से दस वर्ष तक के काम में आनेवाले, या काम के योग्य बैल तथा सांड़, (३) तीन से दस वर्ष तक की सब गायें जो दूध देने के योग्य हों, या गाभिन हों या दूध देती हों।

कुछ समय से गाय-बैल की नस्ल सुधारने के वास्ते अच्छे साँडों की व्यवस्था की जाने लगी है, परन्तु जबकि पशुओं के चरने के लिए काफी चरागाह नहीं है, तथा किसान इतने निर्धन हैं कि वे पशुओं को पौष्टिक पदार्थ तो क्या, अच्छा भोजन भी भर-पेट नहीं दे सकते, केवल साँडों की व्यवस्था से क्या लाभ हो सकता है!

उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी—अब हम यह विचार करते हैं कि उद्योग-धन्धों के वास्ते यहाँ पूँजी की कैसी स्थिति है। पहले देशी पूँजी की बात लें। हमारे देहातों और साधारण कस्बों में बैंकिंग या महाजनी की कोई संगठित व्यवस्था नहीं है। आदमी डाकखानों के सेविंग बैंकों में, तथा कुछ वर्षों से सहकारी बैंकों में, अपनी बचत का रुपया जमा करने लगे हैं। साधारणतया स्थानीय आवश्यकताओं के लिए गाँव का महाजन ही पूँजी देता है। वह अपनी पूँजी नये कामों में बहुत कम लगाता है। कहीं-कहीं स्थानीय पूँजी से कुछ कार्य आरम्भ किये गये हैं; उदाहरण के लिए आटा पीसने की चक्कियाँ (फ्लोर मिल); कपास के क्षेत्रों में जीन, प्रेस; और धान के क्षेत्रों में, धान कूट कर चावल निकालने की मिलें। जब किसानों को कुछ बचत होती है तो उनका बचत का रुपया किसी उद्योग-धन्धे में न लगकर प्रायः ज़ेवरों में खर्च होता है। सरकारी कर्मचारी तथा अन्य पेशेवाले बहुधा अपनी पूँजी ज़मीन को खरीदने या रेहन आदि में लगाना पसंद करते हैं; हाँ, कुछ समय से इन लोगों में, बैंकों में रुपया जमा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

यह तो देहातों तथा साधारण कस्बों की बात हुई; बड़े-बड़े नगरों और व्यापारिक कस्बों में उद्योग-पूँजी की दशा अपेक्षाकृत कुछ

संतोषजनक है। यहाँ बैंकों की सुविधा अधिक है, और आदमियों में अपनी बचत उद्योग तथा व्यापार में लगाने की प्रवृत्ति भी अधिक है। यहाँ जब अच्छे होशियार आदमी कोई औद्योगिक कार्य करना चाहते हैं तो बहुधा उन्हें आवश्यक पूँजी मिल सकती है। परन्तु यहाँ भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। वर्त्तमान बैंकों की पद्धति औद्योगिक दृष्टि से हितकर नहीं है। उद्योग-धंधों के वास्ते रुपया बड़ी अवधि के लिए चाहिए और उसके मिलने की संगठित व्यवस्था नहीं है। मध्य श्रेणी के आदमियों को औद्योगिक कार्यों के लिए पूँजी जुटाने में बहुत कठिनाई होती है; कारण, वे आवश्यक ज़मानत नहीं दे सकते, और ऐसे प्रसिद्ध भी नहीं होते कि उनकी यथेष्ट साख हो। सहकारी बैंक जुलाहों आदि छोटे कारीगरों के लिए ही उपयोगी होते हैं। अस्तु, उद्योग धंधों की उन्नति के लिए यथेष्ट पूँजी की व्यवस्था होने की सख़्त ज़रूरत है। प्रत्येक प्राँत में वहाँ की परिस्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार, अच्छे औद्योगिक बैंक होने चाहिएँ।

मशीनें—आजकल औद्योगिक संसार में अचल पूँजी लगाने या चल पूँजी को अचल करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।* एक काम पहले मज़दूरों द्वारा होता है। कुछ समय में उसके करने के लिए किसी मशीन का अविष्कार हो जाता है। तब मज़दूरों को दी जानेवाली चल पूँजी मशीन में बदल दी जाती है। इससे मज़दूरों की आवश्यकता कम रह जाती है; उन्हें दी जानेवाली वेतन की कुल रक़म में कमी हो जाती है, और व्यवस्थापकों को लाभ अधिक होने लगता है। अस्तु,

*जो पूँजी बहुत दिनों तक काम नहीं देती, एक ही बार के उपयोग में खर्च हो जाती है, उसे चल पूँजी कहते हैं; जैसे मज़दूरों को दिया जानेवाला वेतन, भट्टी में काम आनेवाला कोयला, खेती का बीज आदि। जो पूँजी बहुत समय तक काम देती रहती है, एक ही बार के उपयोग में व्यय नहीं हो जाती, वह अचल पूँजी कहलाती है। इसमें शिल्पशाला, यन्त्र, औजार, रेल, जहाज, खेती में काम करनेवाले बैल या घोड़े आदि की गिनती होती हैं।

इस समय भारतवर्ष में भी मशीनों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। इनसे लाभ यह है कि माल अधिक मात्रा में तथा कम खर्च में तैयार होने लगता है और वह सस्ता पड़ता है। परन्तु मशीनें वर्त्तमान अवस्था में बेकारी बढ़ाती हैं, और इनसे पूँजी और मज़दूरी के पारस्परिक झगड़े भी होते हैं। कल-कारखानों में मज़दूरों का स्वास्थ्य और चरित्र भी खराब होता है। इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है; इस सम्बंध में, अगले अध्याय में लिखा जायगा।

विदेशी पूँजी का प्रयोग—भारतवर्ष के उद्योग-धन्धों और बैंकों में जितनी स्वदेशी पूँजी लगी है, उसकी अपेक्षा विदेशी पूँजी कहीं अधिक है। फिर, सरकार ने जो रेल, डाक, तार, नहर आदि का कार्य किया है, वह अधिकतर विदेशी पूँजी से किया है; अकेले रेलों में आठ नौ अरब रुपये लगे हुए हैं। इसी से यहाँ विदेशी पूँजी के विशाल परिमाण का अनुमान हो सकता है। अस्तु, यहाँ इसके प्रयोग की समस्या विशेष विचारणीय है।

साधारणतया विदेशी पूँजी से भी धनोत्पत्ति करना लाभकारी होता है। परन्तु यहाँ भारतवर्ष में विदेशी पूँजी का प्रयोग हमारी इच्छानुसार नहीं किया जाता। उसके साथ उसे लगानेवाले विदेशी व्यवसायी भी आ जाते हैं। वे बहुधा हमारी कारीगरी को नष्ट करके अपना मनमाना कारोबार करते हैं, जिससे वे बेढब लाभ उठाते हैं। यह दिखायी देने लगता है कि (विदेशी पूँजी के सहारे) अमुक कारखाना नया खुल गया; परन्तु उस कारखाने को 'भारतीय' कहना कहाँ तक ठीक है, जिसमें भारतीयों को कुलियों की मज़दूरी छोड़कर कुछ विशेष आय नहीं होती। तात्पर्य यह है कि विदेशों से जो पूँजी आये, उसका उपयोग यहाँ वालों के हाथ से होना चाहिए। प्रायः पश्चिमी देशों में मज़दूरी यहाँ की अपेक्षा बहुत मँहगी है, तथा वहाँ कच्चे माल की भी कमी रहती है। इस बात का विचार करके, अनेक विदेशी कम्पनियों को अपना कारखाना भारतवर्ष में चलाना

लाभदायक रहता है। यहाँ लोकमत से प्रभावित होकर सरकार जो संरक्षण-कर लगाने लगी है, उसका लाभ ये कम्पनियाँ भली भाँति उठाती हैं। यदि यहाँ ऐसा नियम किया जाता है कि सुविधाएँ उन्हीं कम्पनियों को दी जायँ जो भारतीय विद्यार्थियों को अपने यहाँ शिक्षा दें, तो ये कम्पनियाँ अपना मतलब गाँठने के लिए शिक्षा देने का कुछ दिखावटी कार्य कर देती हैं।

वर्त्तमान अवस्था में विदेशी पूँजी से देश की राजनैतिक पराधीनता भी बढ़ती है। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति विलसन का कथन है कि "जितनी ही विदेशी पूँजी देश में आकर लगती रहती है, उतना ही विदेशियों का प्रभाव बढ़ता रहता है। इसलिए पूँजी की चालें विजय की चालें हैं!" भारत-सरकार पर गोरे व्यापारियों का प्रभाव प्रसिद्ध है, उसके सामने प्रायः भारतवासियों के हिताहित का विचार नहीं होने पाता। जब कभी कोई राजनैतिक सुधार होने की बात उठती है, तो विदेशी पूँजी वाले हमारे भविष्य को निर्णय करने का अधिकार माँगते और हमारे पराधीन बने रहने में सहायक होते हैं।

योरपीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद अमरीका और इंगलैंड में जो आर्थिक संधि, तथा इंगलैंड को ऋण देने की जो योजना हुई है, उससे भारतवर्ष पर अमरीका की पूंजी के हमले की बहुत आशंका है। इसे रोकने के तीन उपाय हैं—(१) विदेशी माल न खरीदना, (२) विदेशी बैंक या बीमा कम्पनी के स्थान पर भारतीय बैंक तथा भारतीय बीमा कम्पनियों से काम लेना और, (३) भारतीय उद्योग धन्धों की प्रगति के लिए भरसक प्रयत्न करना।

देश की औद्योगिक उन्नति के लिए अभी कुछ समय तक विदेशी पूँजी की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। हाँ, यह ज़रूरी है कि हम न तो उसे निर्वाध रूप में लें, और न अत्याधिक परिमाण में ही। उस पर बाधाएँ इस प्रकार सोच-विचार कर लगायी जानी चाहिएँ कि उससे लाभ अधिक-से-अधिक, और

हानि कम-से-कम हो। सरकार को ऋण कम सूद पर मिल सकता है। उसे चाहिए कि अपने नाम और अपनी ज़िम्मेवरी से रुपया उधार लेकर भारतीय व्यवसायों की सहायता करे। साथ ही, देश में जो धन हो, उसका भी यथेष्ट उपयोग किये जाने की ज़रूरत है। हमारा अन्तिम लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि देश की नयी-नयी औद्यगिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए विदेशी पूँजी न लेनी पड़े; यथा-संभव सब काम देशी पूँजी से हो सके। विदेशी पूँजी की समस्या का वास्तविक हल इसी बात में है कि देश के पूँजी सम्बन्धी अपने साधनों की यथेष्ट उन्नति की जाय।

भारत के काम में न आनेवाला धन—भारतवर्ष में कुछ धन ऐसा है, जो काम में नहीं आता; आदमी उसे ज़मीन में गाड़ कर रखते हैं, अथवा आभूषणों आदि में लगा देते हैं, उद्योग-धंधों आदि उत्पादक कार्यों में नहीं लगाते। रुपये को ज़मीन में गाड़कर रखने से वह अधिक उत्पत्ति नहीं करता, उतना-का-उतना ही बना रहता है, और ज़ेवरों में लगाने से तो वह क्रमशः कम होता जाता है। अनेक स्थानों में ऐसा हुआ है कि ज़मीन में गड़ी हुई संपत्ति का पता घर के केवल बड़े-बूढ़े को था, उसकी कहीं कुछ लिखित सूचना न थी; संयोग से घर का बड़ा-बूढ़ा ऐसी अवस्था में मर गया कि वह अपने उत्तराधिकारियों या वारिसों को उसके विषय में कुछ न बता सका। नतीजा यह हुआ कि घर में सम्पत्ति गड़ी रहने पर भी उस परिवार के आदमी बहुधा बड़े आर्थिक संकट में फंसे रहे। इस समय भी किसी-किसी देशी राज्य में पूर्वजों के समय का संचित ऐसा द्रव्य मौजूद है, जिसका स्वयं शासक को ठीक-ठीक पता नहीं। राज्य पर ऋण हो जाता है, उसका सूद देना पड़ता है; परन्तु संचित द्रव्य का उपयोग नहीं किया जाता, अथवा यों कहें कि उपयोग किया नहीं जा सकता। इसी प्रकार कुछ मन्दिरों में आरती आदि की, और मठों में धर्मादे की, कुछ सम्पत्ति ऐसी रहती है, जो किसी काम में

नहीं आती और क्रमशः बढ़ती रहती है। ऐसी सम्पत्ति ने प्राचीन काल में कभी-कभी विदेशी आक्रमणकारियों को आकर्षित किया है, तथा आज-कल भी उसके कारण कभी-कभी मन्दिरों या मठों में चोरी होने के उदाहरण सामने आते हैं। अस्तु, संचित धन को यथा-सम्भव किसी उपयोगी अर्थात् उत्पादक काम में लगाते रहना चाहिए।

भारतवर्ष में उपर्युक्त धन के अलावा और भी बहुत सा धन ऐसा है, जिसका यथेष्ट उपयोग नहीं होता। पिछले वर्षों में यहाँ के मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष (गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व) का कितने ही करोड़ रुपया इंगलैंड में रहा है, और भारत-सरकार उसका उपयोग नहीं कर सकी है। योरपीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय इंगलैंड और अमरीका आदि मित्र-राष्ट्रों को भारतवर्ष के कच्चे माल की बहुत ज़रूरत रही, और बदले में यहाँ तैयार माल काफी न आने के कारण उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सका। इस लिए भारत के रिजर्व बैंक को लन्दन में उतने मूल्य की स्टर्लिंग हुंडिया दी गयीं, और उनके आधार पर भारत में कागजी मुद्रा छापी गयी। इसके अलावा भारतवर्ष ने जो माल अमरीका भेजा, उसके मूल्य के रूप में अमरीका ने जो 'डालर' दिये, उन्हें भी ब्रिटिश सरकार ने ले कर उनके बदले में भी भारत को स्टर्लिंग हुंडियाँ दे दीं। इस प्रकार भारत के स्टर्लिंग पावने की रकम धीरे-धीरे बढ़कर लगभग चौदह सौ करोड़ रुपये हो गयी। यह रकम भारतवर्ष के काम नहीं आ रही है। इन पक्तियों के लिखे जाने के समय तक ब्रिटिश सरकार ने यह साफ तौर से तय नहीं किया कि वह इस रकम को पूर्ण रूप से, तथा भारतवासियों की इच्छानुसार चुकायेगी।

भारतीय पूँजी की वृद्धि के उपाय—पूँजी बचत का फल है। आदमी जितना धन पैदा करते हैं, यदि उस सब को खर्च कर डालें, भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, उसमें से कुछ बचा कर न रखें, तो पूँजी कहाँ से आये। अतः खर्च करने में मितव्ययिता

का विचार रहना आवश्यक है; फजूलखर्ची रोकी जानी चाहिए। असभ्यता, कुव्यवस्था या अराजकता की दशा में, मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओं के वास्ते अथवा भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग बचा कर रखना नहीं चाहते। जहाँ आदमी अधिकतर पारलौकिक विषयों का चिन्तन करते और यही सोचते रहते हैं कि न मालूम कब मर जायँ, वहाँ भी धन विशेष जुड़ने नहीं पाता। भारतवर्ष में पूँजी की वृद्धि के लिए जनता में शिक्षा के अतिरिक्त, मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिए; ब्याह-शादी, नाच-रंग और जन्म-मरण आदि सम्बन्धी फ़जूलखर्ची की विविध रीति-रस्में हटनी चाहिएँ; तथा खेती, उद्योग-धन्धों, और वणिज व्यापार आदि के ऐसे बैंकों और कम्पनियों के खोलने तथा बढ़ाने की आवश्यकता है, जिनमें आदमी, साझीदारी के नियमों से अपना धन लगाने में उत्साहित हों। इनका विशेष विवेचन आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।



पाँचवाँ अध्याय

व्यवस्था और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति



प्राक्कथन—भारतवर्ष के उत्पत्ति के तीन साधनों—भूमि, श्रम और पूंजी का विचार हो चुका। परन्तु उत्पादन-कार्य तभी सम्भव है, जब इन तीनों की समुचित व्यवस्था हो। अब तो बहुत-सा धनोत्पादन बड़ी मात्रा में, तथा कल-कारखानों द्वारा होने के कारण व्यवस्था की आवश्यकता और भी बढ़ गयी है।* इस अध्याय में व्यवस्था और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

* कुछ लेखक व्यवस्था की जगह 'संगठन' शब्द का भी व्यवहार करते हैं।

व्यवस्था में प्रबन्ध का स्थान—व्यवस्था में दो कार्य शामिल हैं—प्रबन्ध और साहस। कल-कारखानों में अलग-अलग आदमी के श्रम के स्थान पर बहुत-से आदमियों को इकट्ठे काम करना होता है। इस दशा में निरीक्षण या प्रबन्ध करनेवाले की ज़रूरत पड़ती है। प्रबन्धक सदैव यह विचारता रहता है कि उत्पादक साधनों से किस प्रकार तथा किस अनुपात में काम लिया जाय कि उत्पत्ति अधिक-से-अधिक हो। जो रीति या साधन मँहगे होंगे, उनके स्थान में वह सस्ते की खोज करके, उन्हें बदल देगा। प्रबन्धक के कार्य निम्नलिखित होते हैं:—

(१) कारखाने में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यक योग्यतावाले मनुष्यों को इकट्ठा करना और उनसे श्रम-विभाग के सिद्धान्तों के अनुसार अधिक-से-अधिक काम लेना।

(२) कारख़ाने की जायदाद की देखभाल करना और अच्छे, बढ़िया यंत्रों और औज़ारों को इस्तेमाल करना।

(३) उत्पत्ति के भेद, मात्रा तथा समय का निश्चय करना।

(४) आवश्यक कच्चे पदार्थों को समय पर तथा उचित्त मात्रा में मोल लेना, तैयार माल को अच्छे भाव से बेचने का प्रबन्ध करना।

(५) व्यापार के उतार-चढ़ाव का ज्ञान रखना और उससे समुचित लाभ उठाना।

साहस—व्यवस्था में प्रबन्ध के अतिरिक्त, दूसरा कार्य साहस होता है। धनोत्पादन के लिए कोई चीज़ बनाने या पैदा करने का विचार पहले किसी एक आदमी के मन में आता है; इस विचार को उसे कार्य-रूप में परिणत करने का साहस करना चाहिए। सम्भव है, दूसरे आदमियों को उसकी सफलता में संशय हो। साहसी को अपने उत्पादन-कार्य के लिए हानि-लाभ की जोखम उठानी पड़ती है। उसका काम पूँजी लगानेवालों के काम से भिन्न प्रकार का है।

साहसी, पूँजी उधार लेकर, अथवा कम्पनियों की सहायता से, अपना काम चला सकता है। वह उस काम के संचालन और हानि-लाभ आदि की सब ज़िम्मेदारी उठाता है। बहुत से आदमी बिना जोखम की, और निश्चित आमदनी चाहते हैं। साहस का प्रतिफल अनिश्चित और अस्थिर होता है। जब किसी चीज़ के बनाने में कुछ हानि होगी तो उसका धक्का पहले साहसी को ही लगेगा। हाँ, वह पीछे भूमि, श्रम और पूँजी की मात्रा कम करके इस धक्के को धनोत्पत्ति के अन्य साधनों तक पहुँचा देगा। यथेष्ट व्यावसायिक वृद्धि के लिए ऐसे आदमियों की ज़रूरत है, जो बड़े दिलवाले हों, कभी हानि भी सहनी पड़े तो हिम्मत न हारें; और, नये-नये कार्यों के लिए सदा साहसी रहें।

भारतवर्ष में प्रबंध और साहस—भारतवर्ष में प्रबंध और साहस की कमी है। यह कार्य ऐसे हैं, जो बहुत कुछ आदमी के व्यक्तित्व पर निर्भर होते हैं। शिक्षा से इनकी यथेष्ट योग्यता प्राप्त नहीं की सकती। हाँ, व्यावहारिक अनुभव इसके लिए बहुत उपयोगी है, और यह शिल्पकार्यालयों तथा कारखानों में मिल सकता है। आवश्यकता है, जिन आदमियों की रुचि और प्रवृत्ति इस ओर हो, उन्हें समाज तथा राज्य की ओर से समुचित सुविधाएँ दी जायँ। जो आदमी दूरदर्शी, विश्वसनीय, उत्पत्ति की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनानेवाले और औद्योगिक नेतागिरी के गुणवाले प्रतीत हों, उन्हें अपने विचारों को अमल में लाने का अवसर मिले, तो कभी-कभी विफलता होने पर भी कुल मिलाकर धनोत्पत्ति में लाभ ही होगा।

उत्पत्ति के तीन क्रम—पहले कहा गया है कि आधुनिक समय में उत्पत्ति का अधिकांश कार्य कल-कारखानों द्वारा होने के कारण, व्यवस्था अर्थात् प्रबंध तथा साहस की आवश्यकता बहुत बढ़ गयी है। हमें यह जान लेना चाहिए कि कल-कारख़ानों के जमाने से पहले धनोत्पत्ति किस तरह होती थी, अथवा अब भी जहाँ कल-कारखाने नहीं हैं, वहाँ उत्पत्ति किस तरह होती है। धनोत्पादन के प्रायः तीन

क्रम होते हैं—

(१) स्वावलंबी समुदायों का ज़माना।

(२) छोटी मात्रा की उत्पत्ति—कारीगरों का ज़माना।

(४) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति—कारख़ानों का ज़माना।

प्रारंभिक अवस्था में सभी देशों में पहला क्रम होता है। धीरे-धीरे दूसरे और तीसरे का कार्य होता है। योरप अमरीका आदि में तीसरे क्रम की बहुतायत है। भारतवर्ष में इसका अभी प्रारंभ हुआ है।

स्वावलंबी समुदाय—प्रारंभिक काल में मनुष्य प्रायः गाँवों में रहते हैं। प्रत्येक गाँव के रहनेवाले बहुधा अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ स्वयं पैदा करते हैं, वे उनके लिए बाहर के आदमियों पर निर्भर नहीं रहते। इस अवस्था में तीन श्रेणियों के मनुष्य रहते हैं—(१) किसान जो खेती करते हैं, (२) मज़दूर जो किसानों के लिए काम करते हैं, (३) कारीगर, जो रोजमर्रा काम आनेवाली वस्तुएँ बनाते और टूटी-फूटी चीजें सुधारते हैं; और नौकर जो इन सब कामों में सहायता पहुँचाते हैं। इस अवस्था में, लोगों की आवश्यकताएँ बहुत कम रहती हैं। उनका काम अधिकतर खेती से पैदा होनेवाली चीज़ों से चल जाता है। उद्योग या शिल्प की ज़रूरत कम होती है, और वे ही चीज़ें तैयार की जाती हैं, जो स्थानीय उपभोग के लिए आवश्यक हों। साथ ही उनका परिमाण भी यथा-संभव उतना ही रखा जाता है, कि वे वहाँ खप सकें। इससे स्पष्ट है कि इस दशा में उत्पत्ति छोटी मात्रा की होती है, और खासकर स्थानीय क्षेत्र की ही माँग का ध्यान रखा जाता है।

स्वावलंबी समुदायों का बहुत अच्छा उदाहरण भारतवर्ष की प्राचीन ग्राम-संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ सभी अंगों से पूर्ण तथा स्वावलंबी होती थीं। हर गाँव में कुछ पुश्तैनी कार्यकर्ता होते थे; जैसे पंडित, पुजारी, महाजन, सुनार, तेली, नाई, लुहार, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, चमार, भंगी, और बहुधा भिखारी आदि भी। जो चीज़ गाँव

में नहीं मिल सकती थी, वह बाज़ार हाट लगने के समय लेली जाती थी। ऐसी हाट सप्ताह में एक या दो बार, कई गाँवों के किसी केन्द्रीय स्थान में, लगती थी। फिर तीर्थ-स्थानों में, साल में एक-दो बार मेले लगते थे, जहाँ दूर-दूर के व्यवसायी तथा व्यापारी इकट्ठा होकर ख़रीद-फ़रोख़्त करते थे।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति, कारीगरों का ज़माना— अब धनोत्पत्ति की दूसरी अवस्था का विचार करें। इसमें भी उत्पत्ति छोटी मात्रा की ही होती है, परन्तु वह अधिकतर खेती से पैदा होने वाली चीज़ों की ही नहीं होती; कारीगरी की चीज़ों का अनुपात खासा बढ़ जाता है। यह अवस्था तब आती है, जब लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ने लगती हैं। इस दशा में प्रत्येक कारीगर या उसका परिवार स्वतंत्र रूप से अपना काम करता है। वह उसका स्वयं निरीक्षक या प्रबंधकर्त्ता होता है। वह अपनी ही पूँजी लगाता, अथवा सूद पर रुपया उधार लेकर काम चलाता है। जो वस्तु वह बनाता है, उसका वही मालिक होता है। उसे वह अपने नगर में या कुछ दूर भेजकर बेच डालता है।

भारतवर्ष में मुसलमानों के शासन-काल तक बहुत-सी दस्तकारियों की बड़ी उन्नति हुई। १८ वीं शताब्दी तक भारतवर्ष से बढ़िया-बढ़िया माल बाहर जाने के कारण वहाँ का हर एक नगर दूर-दूर के देशों में किसी-न-किसी ख़ास चीज़ के लिए प्रसिद्ध हो गया था। अब मशीनों के युग में वे बातें हवा हो गयीं, तथापि भारतवासियों के औद्योगिक जीवन में हाथ की दस्तकारियों का बड़ा स्थान है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति; कल-कारख़ानों का ज़माना— क्रमशः लोगों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ गयीं; और उत्पादन के लिए भाप, और पीछे बिजली आदि से चलनेवाले यन्त्रों का आविष्कार हो गया। साथ ही आमदरफ़्त के साधनों की वृद्धि हुई। इस अवस्था में लोगों को अपनी चीज़ें खपाने के लिए अपने नगर या देश

तक परिमित न रह कर, दूर-दूर के देशों में जाने का विचार हुआ। चीजें बहुत बड़े परिमाण में बनायी जाने लगीं। उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने लगी। कल-कारख़ानों का ज़माना आ गया; अब मज़दूर कोई वस्तु प्रायः अपने लिए नहीं बनाते; वे हजारों की संख्या में इकट्ठे होकर एक पूँजीवाले व्यक्ति या कंपनी के अधीन काम करते हैं। जो सामान बनता है, उस पर कारखाने वाले का अधिकार होता है; मज़दूरों को केवल उनके काम की मज़दूरी मिल जाती है। इस दशा में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक व्यावसायिक जगत के उन्नत देशों में कल-कारख़ानों का विस्तार बढ़ता जा रहा है, और बड़े-बड़े कारख़ानों की संख्या भी बढ़ रही है।

इस अवस्था में वस्तुओं का लागत-खर्च औसतन कम होता है, चीज़ें अपेक्षाकृत सस्ती बेचने पर भी खूब मुनाफ़ा रह सकता है। हाँ, पूँजी की आवश्यकता बड़े परिमाण में होती है। बहुत से मज़दूरों के एक ही जगह इकट्ठे काम करने से, उनके स्वास्थ्य तथा रहन-सहन आदि की समस्या उपस्थित होती है। वेतन का भी सवाल पैदा होता है। मज़दूरों के असंतुष्ट रहने की दशा में हड़ताल होती है। अथवा, कभी-कभी पूँजीपति ही अपनी शर्तें मनवाने के वास्ते, उन पर दबाव डालने के लिए उनका काम पर आना बंद कर देते हैं, इसे 'द्वारावरोध' या 'तालाबन्दी' कहते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का हित-विरोध होता है। इन प्रश्नों पर, आगे विचार किया जायगा।

मिश्रित पूँजीवाली कंपनियाँ—आज-कल बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने और कल-कारख़ानों से काम लेने में बड़ी-बड़ी पूँजी की ज़रूरत होती है, और व्यवस्थापक को इसका प्रबंध करना पड़ता है। प्रायः एक व्यक्ति अकेला ही इतनी पूँजी व्यवसाय-कार्य में नहीं लगा सकता, इसलिए बहुत-से आदमियों की थोड़ी-थोड़ी पूँजी मिलाकर 'जोयंट स्टाक' अर्थात् मिश्रित पूँजी की कंपनियाँ स्थापित की जाती हैं। भारतवर्ष में इन कंपनियों का कार्य क्रमशः बढ़ रहा है। बहुत से

योरपियन उद्योग इसी प्रणाली से आरंभ हुए थे। वे भारतवासी भी, जिन्हें नये औद्योगिक कार्य आरंभ करने या बढ़ाने होते हैं, बहुधा ऐसी ही कंपनियाँ बनाते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—परिमित देनदारी की या 'लिमिटेड', और अपरिमित देनदारी की या 'अनलिमिटेड'।

परिमित देनदारी की कंपनी के बंद होने पर उसके हिस्सेदारों की जिम्मेदारी, उसका सब ऋण चुकाने की, नहीं होती; केवल अपना-अपना हिस्सा चुका देने की होती है। अपरिमित देनदारी की दशा में प्रत्येक हिस्सेदार पर कंपनी का सब ऋण चुकाने की ज़िम्मेदारी रहती है। अपरिमित देनदारी वाली कम्पनियों की साख तो अधिक होती है, परन्तु उसमें हिस्सेदारों की हानि की बहुत सम्भावना होती है। अधिकतर कम्पनियाँ परिमित देनदारी वाली ही खुलती हैं।

कम्पनी के हिस्सेदार 'शेयरहोल्डर' कहलाते हैं; और, उनकी ओर से कार्य-सन्चालन करनेवाले व्यक्ति, डायरेक्टर या सन्चालक। सन्चालक अपने प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार प्रायः एक ऐसी कम्पनी या फ़र्म को सौंप देते हैं, जो मिश्रित-पूँजी-कम्पनी में या तो स्वयं विशेष पूँजी लगाती है, या दूसरे पूँजीपतियों को विशेष पूँजी लगाने के लिए तैयार करती है। प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार वाली इस फ़र्म को 'मेनेजिंग एजंट' कहते हैं। भारतवर्ष में ये फर्म अधिकांश में योरपियन हैं। इससे भारतवासियों को उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रोत्साहन नहीं मिलता। मेनेजिंग फ़र्म मिश्रित-पूँजी-कंपनी की कर्ता-धर्ता हो जाती है। इसके अधिकार बहुत अधिक होते हैं, यहाँ तक कि किसी मेनेजर का रहना न रहना बहुत-कुछ इसी की इच्छा पर निर्भर रहता है। मेनेजिंग एजंट बहुधा शेयरहोल्डरों के लाभ-हानि का यथेष्ट विचार नहीं करता, अतः जनता का उसके प्रति बहुत असंतोष रहता है। वर्त्तमान अवस्था में मेनेजिंग एजंट की प्रथा हटायी तो नहीं जा सकती, हाँ, उसके अधिकारों पर समुचित नियंत्रण रखा जाना चाहिए।

हर एक कंपनी को रजिस्टरी करानी होती है, और इसके लिए उसे कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। योग्यता-प्राप्त 'आडीटर, अर्थात् लेखा-परीक्षक कंपनी के वार्षिक हिसाब की नियमानुसार जाँच करता है। यह जाँच हो चुकने के बाद हिसाब सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित किया जाता है, जिससे सब आदमी कंपनी की आर्थिक स्थिति भली प्रकार जान लें; यथा-संभव किसी को उसके सम्बन्ध में धोखा न रहे।

युद्ध काल में तो अस्वाभाविक स्थिति होती है, उस समय के अंकों से साधारण स्थिति का ज्ञान नहीं होता। इस महायुद्ध से पहले (सन् १९३८-३९ ई० के अन्त में), कंपनियों के रजिस्टरी-कानून के अनुसार, यहाँ कुल मिलाकर १०,०७० कंपनियाँ ब्रिटिश भारत में, और १,०४४ देशी कंपनियाँ रियासतों में थीं। ब्रिटिश भारत की कंपनियों की प्राप्त-हिस्सा पूँजी पौने तीन सौ करोड़ रुपये, और रियासतों की कंपनियों की १५ करोड़ रुपये थी। ब्रिटिश भारत में सबसे अधिक कंपनियाँ व्यापार करने और तैयार माल बनाने वाली थीं, इनकी संख्या ४,४२१ थी। इनसे कम संख्या क्रमशः बैंकिंग और उधार देने वाली, तथा चाय और बीमा की कंपनियों की थी। प्रांतों के हिसाब से, अकेले बंगाल में ४,६३१ थीं, बम्बई में १,४००, और मदरास में १,५८१ थीं। संयुक्तप्रान्त इस विषय में बहुत पीछे है, यहाँ केवल ४६२ ही कम्पनियाँ थीं। देशी रियासतों की कंपनियों में से लगभग आधी, बैंक सम्बन्धी थीं; और ४७८ कंपनियाँ अर्थात् लगभग ४७ फी सदी अकेले त्रावंकोर राज्य में थी। अस्तु, भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी वाली कंपनियाँ अभी बहुत कम हैं, इसी-लिए यहाँ बड़े-बड़े कल-कारख़ानों की भी कमी है। इन कम्पनियों के विषय पर कुछ विचार आगे, बैंकों के सिलसिले में भी किया जायगा।

कारखानों के मजदूरों का जीवन—कारखानों में काम करनेवालों का जीवन उतना स्वतंत्र नहीं हो सकता, जितना गाँव-

वालों का, अथवा घरू उद्योग-धन्धों का काम करनेवाले, बढ़ई, लुहार आदि कारीगरों का, होता है। यद्यपि हमारे देहात प्रायः मैले-कुचैले हैं, फिर भी वहाँ खुली हवा और रोशनी का लाभ अधिक है। कारखानों में हरदम शोर मचानेवाली मशीन के पास घंटों काम करते रहने से श्रमजीवियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रमजीवियों पर, कारखानों के जीवन से, सामाजिक और नैतिक प्रभाव भी बहुत बुरा होता है, ख़ासकर इसलिए कि वहाँ औरतें भी काम करती हैं। घर पर छोड़े हुए बच्चों की देख-भाल नहीं होती।

भारतवर्ष की बहुत-सी मिलों में ठेकेदार मज़दूरों को भरती कराते हैं। इसके लिए उन्हें पुरस्कार मिलता है। इस पद्धति से मिलों के संचालक, श्रमजीवी एकत्र करने की चिंता से मुक्त रहते हैं, परन्तु श्रमजीवी प्रायः एक लोभी आदमी के अधीन हो जाते हैं। बालकों से भी काम लिया जाता है, जब कि चाहिए यह कि वे खुली हवा में स्वतंत्र जीवन व्यतीत करें; इससे नवयुवकों के शरीर का बड़ा ह्रास होता है।

कारखानों का क़ानून—कारखानों का पहला क़ानून सन् १८८१ ई० में पास हुआ। इसका संशोधन सन् १८९१ में और पुनः सन् १९११ ई० के कानून से हुआ। अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर कानफ्रेंस के मंतव्यों के अनुसार, सन् १९२२ ई० में इसमें कुछ संशोधन हुआ, तदनंतर सन् १९२३ और सन् १९२४ ई० में भी कुछ सुधार हुआ। सन् १९२९ ई० में मज़दूरों की दशा की जाँच के लिए शाही कमीशन नियत हुआ था। उसकी सिफ़ारिशों का ध्यान रखते हुए सन् १९३४ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने नया क़ानून बनाया, जिसमें पुराने क़ानून की आवश्यक बातों का समावेश कर दिया गया। यह नया क़ानून जनवरी १९३५ ई० से अमल में आने लगा।

इस क़ानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) बीस आदमियों से काम लेनेवाले कारख़ानों पर भी, अगर वहाँ मशीन से काम लिया जाता हो, यह क़ानून लागू होता है। प्रान्तीय

सरकारों को अधिकार है कि वे उन कारखानों को भी जहाँ दस या अधिक आदमी काम करते हों, इस क़ानून के अंदर ले सकती हैं।

(२) काम करने के लिए बालकों की कम-से-कम उम्र बारह वर्ष निश्चित की गयी है। पदरह वर्ष तक तो वे बालक माने ही जाते हैं। पन्दरह वर्ष से सतरह वर्ष तक के वे लड़के भी जिन्हें बालिगों का, काम करने का प्रमाणपत्र न मिला हो, बालक समझे जाते हैं। बालकों से अधिक-से-अधिक छः घंटे काम लिया जा सकता है। उन्हें औसत से हर साढ़े पाँच घंटे में आध घटे का अवकाश देना आवश्यक है, तथा उनसे लगातार चार घटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता।

(३) निरंतर साल भर चलनेवाले कारखानों में काम करने का अधिक-से-अधिक ५४ घंटे का सप्ताह नियत है, और किसी एक दिन में १० घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। किसी मौसम विशेष में काम करनेवाले (जीन, प्रेस, चाय, चीनी, रबड़ आदि के) कारखानों में काम करने के अधिक-से-अधिक घन्टे साधारणतया प्रति दिन ग्यारह, और प्रति सप्ताह साठ निर्धारित हैं।

(४) स्त्रियों को, और १८ वर्ष से कम आयु के लड़कों को, जोखम के कुछ काम करने का निषेध है।

(५) कारखाने के मालिक पर श्रम-संबंधी अपराध में ५००) तक जुरमाना हो सकता है। चोट-चपेट लगने पर जख्मी मज़दूरों की सहायता करने की, और चोट-चपेट के कारण मर जाने पर उसके कुटुंब के लिए कुछ धन देने की, व्यवस्था है। मज़दूरों के कुशल-क्षेम तथा हवा पानी आदि कुछ अन्य बातों के लिए भी नियम निर्धारित हैं।

सन् १९३५ के शासन-विधान के अनुसार अप्रेल १९३७ में 'प्रान्तीय स्वराज्य' कायम हुआ। मदरास, बम्बई, बंगाल, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, विहार, और उड़ीसा में कांग्रेस-सरकारें काम करने लगीं।

सन् १९३९ की निर्वाचन-घोषणा के अनुसार कांग्रेस की मज़दूरों सम्बन्धी नीति इस प्रकार बतायी गयी थी, (और पीछे सन् १९४५ में भी इसी आशय की घोषणा की गयी)—मज़दूरों के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने, तथा काम के समय को नियमित करने की ओर ध्यान दिया जायगा। देश की आर्थिक स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए मज़दूरों की हालत सुधारी जायगी, मालिकों और मज़दूरों के झगड़े निपटाने की कोशिश की जायगी। बुढ़ापा, बीमारी और बेकारी के खतरे से बचने का आयोजन होगा। मज़दूरों को अधिकार होगा कि वे अपना संघ बनायें और अपनी हित-रक्षा के लिए हड़ताल करें। सन् १९३७ और १९३९ के बीच में जब प्रान्तों में कांग्रेस-शासन था, प्रान्तीय सरकारों ने यथासम्भव इस नीति के अनुसार काम किया। बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त और संयुक्तप्रान्त की सरकारों ने विविध जाँच कमेटियाँ नियुक्त कीं, और यथा-सम्भव उनकी सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत किया।

सन् १९३८ में केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल ने इस आशय का कानून बनाया कि १५ वर्ष से कम आयु के बालकों से रेलों या जहाज़ों के यातायात-कार्य में मज़दूरी न करायी जाय। अगले वर्ष यह नियम किया गया कि बारह वर्ष से कम आयु के बालकों से बीड़ी बनाने; कालीन बुनने; सीमेंट बनाने; कपड़ा छापने, बुनने या रंगने; दियासलाई, आतशबाजी या विस्फोटक पदार्थ बनाने; ऊन साफ करने और अभ्रक तथा लाख (चपरा) आदि के कारखाने में काम न लिया जाय।

खानों में मज़दूरों का जीवन—भारतवर्ष में ढाई लाख से कुछ अधिक आदमी खानों में काम करते हैं, इनमें से लगभग दो-तिहाई कोयले की खानों में हैं। अधिकतर खानों में, मज़दूरों को जमीन के अंदर, तथा बहुत नीचे काम करना होता है। कोयले की खानों में आग लगने की बहुत आशंका रहती है। पिछले दिनों ऐसी दुर्घटनाएँ

विशेष हुई हैं। कुछ खानों में किनारे पर पानी निकलता है, और इससे वहाँ बहुत सील रहती है। बड़ी खानों में ताज़ी हवा जाने-आने का प्रबन्ध किया हुआ रहता है, पर छोटी खानों में यह बात नहीं होती। सूर्य का प्रकाश तो खानों में जा ही नहीं पाता। अतः इनमें मज़दूरों का स्वास्थ्य जल्दी बिगड़ने लग जाता है। फिर, मज़दूरों को शराब पीने की आदत पड़ जाती है, (दुर्भाग्य से कितने ही स्थानों में शराब, खानों के पास ही मिलने की व्यवस्था है), उससे वे अपनी कमाई— जो मामूली होती है—बहुत-कुछ उसमें उड़ा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपने भरण-पोषण के लिए भी उनके पास काफी पैसा नहीं रहता; फिर, दूध आदि की तो बात ही क्या! अधिकांश मज़दूर कर्ज़ में फंसे रहते हैं, साहूकार उनसे खूब ब्याज वसूल करता है। इससे उनकी आमदनी में और भी कमी हो जाती है। ऐसी दशा में उनके पास स्वास्थ्यप्रद मकान होने की आशा नहीं की जा सकती; प्रायः वे बहुत तंग, नमी वाले और अंधेरे स्थानों में गुज़र करते हैं, और विविध बीमारियों के शिकार बनते हैं।

खानों का कानून—इस कानून द्वारा कुछ बातों का सुधार होने में सहायता मिलती है। इस समय सन् १९३५ ई० का कानून अमल में आ रहा है, उसके पूर्व सन् १९२३ ई० के कानून के अनुसार व्यवहार होता था, जो १९०१ ई० के क़ानून का संशोधित स्वरूप था। वर्त्तमान कानून की कुछ मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) कोई मज़दूर सप्ताह में छः दिन से अधिक काम में नहीं लगाया जा सकता।

(२) श्रमजीवी ज़मीन के ऊपर एक सप्ताह में ५४ घंटे, और एक दिन में दस घंटे से अधिक काम नहीं कर सकता।

(३) जो श्रमी ज़मीन के अन्दर काम करते हैं, उनका समय, ज़मीन के अन्दर जाना आरंभ करने से, लौट कर ऊपर आने तक गिना जाता है। यह सब समय नौ घंटे से अधिक नहीं होना

चाहिए।

(४) पन्द्रह वर्ष से कम उम्र वालों से खानों में काम नहीं लिया जा सकता। स्त्रियों से जमीन के अन्दर काम लेने का निषेध है। ❀

इन मज़दूरों की उन्नति के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ वे ही बातें हैं, जो कारखानों के मज़दूरों के विषय में पहले बतायी जा चुकी हैं।

हड़तालों के कारण—बहुधा यह कहा जाता है कि 'अधिकांश औद्योगिक झगड़ों का, अथवा कम-से-कम इनके बढ़ने का, मुख्य कारण साम्यवाद, कम्यूनिज़म, वर्गवाद या बोल्शेविज़्म आदि की लहर है; नेतागिरी चाहनेवाले आदमी मज़दूरों को उनके मालिकों के विरुद्ध भड़का देते हैं, इससे वे हड़ताल करने पर उतारू हो जाते हैं; पीछे हड़ताल क्रमशः व्यापक रूप धारण लेती हैं। 'इन बातों में तर्क और सत्यता कहाँ तक है? श्रमजीवियों के वास्ते हड़ताल का अर्थ प्रायः अपनी बँधी हुई आजीविका के साधन को छोड़ना, भूखा-नंगा रहने के लिए तैयार होना, तथा अपने बाल-बच्चों को संकट में डालना है। क्या यह कार्य ऐसा सरल और मनोरंजक है कि इसे मजदूर चाहे जब, किसी के बहकाने मात्र से, कर सकते हैं? वास्तव में बात यह है कि संसार में निम्न श्रेणी के आदमियों में अब चेतनता आ रही है। वे अब तक जो कष्टप्रद जीवन व्यतीत करते आ रहे थे, उसे अब सहन नहीं कर सकते। वे सोचते हैं कि हमारे 'मालिक' अधिकाधिक सम्पत्ति के स्वामी होते जा रहे हैं, और हमें अपनी प्राण-रक्षा भी दुर्लभ है।

हड़तालों के कुछ मुख्य कारण ये हैं:—(क) जीवन निर्वाह के पदार्थों की 'मँहगायी', मज़दूरी या बोनस कम मिलना, या समय पर न मिलना। (ख) कुछ मज़दूरों को काम पर से हटा देना, और

❀ महायुद्ध (१९३९-४५] के समय स्त्रियों से ज़मीन के अन्दर खानों में काम लिया गया था; इसका जनता ने बहुत विरोध किया।

उनके संगठन को अस्वीकार करना । (ग) मजदूरों की बरख़ास्तगी तथा अन्य असुविधाएँ । (घ) अधिक समय (घन्टे) तक काम लेना । (ङ) अफ़सरों तथा फ़ोरमेनों का दुर्व्यवहार । (च) काम करने की जगह का स्वास्थ्यप्रद न होना, और रहने के स्थान का यथेष्ट प्रबन्ध न होना ।

हड़तालों के सम्बन्ध में म० गाँधी के विचार—इस विषय में म० गांधी के विचार जानने योग्य हैं । उनका कहना है—'हड़ताल सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि हड़ताली लोग हड़ताल के दिनों में जनता के दान पर निर्भर न रहें । उनका अपना एक काम ऐसा अवश्य होना चाहिए, जिसे वे संकट-काल में कर सकें । अहमदाबाद के मज़दूरों ने जब २६ दिन की हड़ताल की थी तो मैं ने रुपये दान देने के बदले उन्हें काम दिया था । दान देने से वे खराब हो जाते हैं । चर्खा कातना उनके लिए बहुत अच्छा है । हड़ताल का संगठन मिलमालिकों के प्रति विद्रोह की भावना रख कर नहीं, बल्कि अपने उचित अधिकारों की रक्षा के लिए होना चाहिए । हक और कर्तव्य दोनों साथ हैं ।'

श्रमजीवियों की उन्नति के उपाय—श्रमजीवियों के हित के लिए कई सुधारों की आवश्यकता है । वेतन के बारे में आगे लिखा जायगा । सन् १९१८ ई० से विविध प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा के अनिवार्य करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार हो चुका है, परन्तु अधिकांश स्थानों में इसके लिए यथेष्ट व्यवस्था नहीं हुई है । स्कूलों के अतिरिक्त पुस्तकालय और वाचनालय भी ज़रूरी हैं । मज़दूरों के स्वास्थ्य और, रहने के लिए, मकान आदि का उचित प्रबन्ध करना आवश्यक है । जहाँ मिलें नगर के बाहर हों और स्थान काफी हो, वहाँ उनके लिए एक मंजिल के सादे मकानों की सहज व्यवस्था हो सकती है । इस काम के लिए मिलों के निकट भूमि प्राप्त

करने में सरकार को पूँजीपतियों की सहायता करनी चाहिए, और कुछ नियमों के अनुसार श्रमजीवियों की बस्तियाँ बनाने की आज्ञा देनी चाहिए। बहुत से मजदूरों को ऋण लेने की बुरी आदत पड़जाती है। महाजन इससे अनुचित लाभ उठाते हैं। इनसे उनकी रक्षा की जाने की आवश्यकता है। कारखानों के मालिकों को चाहिए कि किसी खास महाजन को श्रमजीवियों के लिए आवश्यक और अच्छी वस्तु, साधारण दर से देने का ठेका देदें। सहकारी समितियों से उनका बड़ा उपकार हो सकता है। मजदूरों के दिल-बहलाव और खेल-कूद का, तथा उन्हें शराब और जुए आदि की बुरी आदतों से बचाये रखने का, प्रबन्ध होना चाहिए; रोगियों के लिए चिकित्सा, और बुढ़ापे के समय के वास्ते प्रोविडेंट फ़न्ड की व्यवस्था होना आवश्यक है। मजदूरों के स्वत्वों की रक्षा के लिए उनके संगठन की बड़ी जरूरत है।

हाल में मज़दूरों का बीमारी-बीमा किया जा रहा है। योजना यह है कि कुछ रकम सरकार दे, कुछ रकम कारखानों के मालिक, और कुछ स्वयं मजदूर लोग। इस प्रकार बनाये हुए कोष से मजदूरों को बीमारी के समय सहायता दी जाय, जिससे उन्हें बीमार पड़ने की हालत में आर्थिक कठिनाइयाँ विशेष न हों।

श्रमजीवी संघ—भारतवर्ष में पहले एक-एक व्यवसाय वालों की—लुहार, बढ़ई आदि एक-एक संगठित जाति थी। किन्तु अब व्यवसाय और जाति का सम्बंध शिथिल होता जा रहा है, और स्वतंत्र व्यवसाइयों की अपेक्षा कल-कारखानों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या बढ़ती जा रही है। इन्हें क्रमशः यह अनुभव होने लगा है कि यदि हम बिना संगठन के अलग-अलग रहेंगे, और कम मजदूरी स्वीकार करने के सम्बन्ध में आपस में प्रतियोगिता करेंगे, तो कारखाने का मालिक हमारी फूट से लाभ उठायेगा, और मज़दूरी कम-से-कम देगा; इसलिए हमें मिलकर काम करना चाहिए। इस विचार से अब

मजदूर अपना एक संगठित संघ बनाते हैं। संघ के सभासद नियमानुसार चंदा देकर एक कोष स्थापित कर लेते हैं। जब कोई सभासद बीमार पड़ जाता है, या किसी दुर्घटना अथवा हड़ताल आदि के कारण काम करने योग्य नहीं रहता, तो उसे इस कोष से सहायता दी जाती है। यदि किसी के व्यवसायोपयोगी औज़ार आदि नष्ट हो जाते हैं, तो वे खरीद दिये जाते हैं। यह संघ मज़दूरों के सुधार, शिक्षा, मनोरंजन और स्वास्थ्य आदि के विषय में यथा-शक्ति ध्यान देता रहता है। मजदूरी की दर ऊँची रखने के लिए कभी-कभी छोटे-छोटे श्रमजीवी-संघ इस बात की भी कोशिश करते हैं कि उनके क्षेत्र में काम करनेवालों की संख्या परिमित रहे। ये बाहर से आये हुए नये मज़दूरों को, वह काम नहीं करने देते, जिसे ये खुद करते हैं। इन संघों का बहुधा यह काम भी रहता है कि वे निर्बल मजदूरों को समर्थ पूँजीपतियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करें।

भारतवर्ष में पहला ट्रेड-यूनियन या मजदूर-संघों का सूत्रपात सन् १८६० से हुआ। पिछले महायुद्ध के पश्चात् क्रमशः इनकी वृद्धि होती गयी; बम्बई और बंगाल में विशेष प्रगति हुई; अब तो भारतवर्ष के सभी मुख्य औद्योगिक स्थानों में मजदूर-संघ कार्य कर रहे हैं। सन् १९३८-३९ में ब्रिटिश भारत में रजिस्टर्ड मजदूर-संघ, ५५५ थे। इनमें से ३९४ का हिसाब प्रकाशित हुआ; उनके लगभग चार लाख सदस्य थे, जिनमें से करीब ११ हजार स्त्रियाँ थीं। उनकी आय लगभग नौ लाख रुपये थी। अधिकतर स्थानों में उनका संगठन या आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। मजदूर-संघ-कानून सन् १९२६ में बना। संघों का प्रबन्ध प्रान्तवार है; जिस प्रान्त में किसी संघ का प्रधान कार्यालय होता है, उस में संघ के सात या अधिक सदस्य उसकी रजिस्टरी करा सकते हैं। पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के आदमी रजिस्टर्ड संघ के सदस्य नहीं हो सकते।

भारतवर्ष में अहमदाबाद आदि कुछ स्थानों में मजदूर-संघ बहुत-

कुछ म० गांधी के आदेशानुसार काम करते हैं, बम्बई में वे प्रायः कम्युनिष्ट तथा दूसरे लोगों के नेतृत्व में हैं। और, कानपुर आदि कुछ स्थानों में दोनों ही तरह के संघ हैं। जहाँ एक जगह दोनों तरह के संघ हैं, वहाँ उनमें अकसर आपस में ही विरोध और संघर्ष होता रहता है। कुछ लोगों का यह आरोप है कि म० गांधी या कांग्रेस के आदेशानुसार काम करने वाले संघ तो एक प्रकार से पूंजीपतियों की छत्र-छाया में ही काम करते हैं, वे अपने अधिकारों के लिए पूंजीपतियों से टक्कर किस प्रकार ले सकते हैं! इस विषय में महात्मा जी का कथन है कि 'मेरा पूंजीपतियों से सम्बन्ध है, और मैं उनके धन से गरीबों की सेवा करता हूँ। कांग्रेस अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई के लिए पूंजीपतियों का धन और सहयोग लेती है तो इसका यह मतलब नहीं है और न हो सकता है कि कांग्रेस पूंजीपतियों की संस्था है। कांग्रस किसी के भी विरुद्ध मज़दूरों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए प्रतिज्ञा बद्ध है।'

म० गांधी का मत है कि 'अहमदाबाद का मज़दूर-संघ एक आदर्श संस्था है। यह संसार में शायद सब से अच्छा सुसंगठित मज़-दूर-संघ है। इस संघ का अपना खैराती अस्पताल है। बच्चों के लिए स्कूल है, और संघ के ही कोष से सस्ते अनाज की दुकाने हैं। उसने कई सफल हड़तालें भी की हैं।' हड़ताल के विषय में महात्मा जी का विचार पहले दिया जा चुका है।

पूंजी और श्रम का संघर्ष—आधुनिक औद्योगिक संसार में पूंजी और श्रम का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। भारतवर्ष में, सन् १९२५ में औद्योगिक झगड़े १३४ हुए, और सन् १९३३ ई० में १४६। सन् १९३९ में तो इनकी संख्या ४०६ हो गयी। इन झगड़ों में ४ लाख ६८ हजार आदमी लगे हुए थे। और, इनके कारण इतने काम की क्षति हुई, जितना एक लाख आदमी मिल कर पचास दिन में कर सकते हैं।

संघर्ष दूर करने के उपाय—आजकल कारखानों के मालिक

यदा-कदा द्वारावरोध या तालाबन्दी करते हैं, और हड़ताल तो मामूली बात हो गयी है। द्वारावरोध हो या हड़ताल, इनसे मालिक और मजदूर दोनों का ही नुकसान है। जनता के भी दुःखों का अंत नहीं; धनोत्पत्ति में भी ये बहुत बाधक हैं। इनसे बचने के लिए पूँजी और श्रम के पारस्परिक संघर्ष को दूर किया जाना चाहिए। इसे रोकने के उपाय ये हैं:—(१) कारखाने से होनेवाले लाभ का काफ़ी अंश मजदूरों में बाँट दिया जाय (२) मज़दूर अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी इकट्ठी करके कारखानों में लगाएँ और इस प्रकार कारखाने से होने-वाले लाभ में हिस्सा लें, (३) सब मजदूर एकमात्र अपनी ही पूँजी से (और अपने ही श्रम से) कारखाने को चलाएँ; इस दशा में कार-खाना उनका ही होगा, दूसरा पक्ष होगा ही नहीं, और इस लिए विरोध की बात भी न रहेगी।

समझौते की व्यवस्था—भारत-सरकार ने सन् १९२९ ई० में एक कानून बनाया था; १९३८ में इसमें संशोधन किया गया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी है कि जब मालिक और मजदूर दोनों पार्टियाँ चाहें, तो सरकार तटस्थ आदमियों की जाँच-अदालत या समझौता-बोर्ड स्थापित करे। इसकी रिपोर्ट प्रकाशित की जाया करे। रेल, डाक, तार, टेलीफोन, ट्राम, या पानी के नल आदि सार्व-जनिक उपयोगिता के कामों में मासिक वेतन पर लगे हुए मजदूर हड़ताल करने से निर्धारित समय पूर्व सूचना दिया करें; मालिक भी पहले से सूचना देकर द्वारावरोध किया करें। जिस हड़ताल या द्वाराव-रोध का उद्देश्य औद्योगिक झगड़े को अपने निर्धारित क्षेत्र से अधिक बढ़ाने का हो, अथवा जिससे जनता को बहुत कष्ट हो, उसे गैर-कानूनी ठहराया जाता है।

प्रान्तों में, इस विषय की कानूनी व्यवस्था खासकर बम्बई में हुई। वहाँ इस विषय का पिछला कानून सन् १९३८ में बना, उसमें सन् १९४१ में संशोधन हुआ। उसके अनुसार यह आवश्यक है कि किसी

उद्योग-धन्धे का मालिक पहले ऐसे नियमों का मसविदा बनाये, जो वह मज़दूरों के सम्बन्ध में काम लाना चाहता है। इस मसविदे पर 'लेबर कमिश्नर' मज़दूरों की दृष्टि से भी भली भाँति विचार करके, उसका निश्चय करे। मालिक या मज़दूर, जिस पक्ष को कुछ शिकायत रहे, वह औद्योगिक न्यायालय में अपील कर सकता है, जिसकी स्थापना कानून के अनुसार होती है। वेतन, काम के घन्टे, और काम करने की शर्तों सम्बन्धी निश्चित किये हुए नियमों को मालिक या मज़दूर बदल नहीं सकते, जब तक कि एक पक्ष दूसरे को इसकी सूचना न दे; और, दोनों पक्ष विचार-विनिमय करके सहमत न हो जायँ। यदि दोनों पक्ष सहमत न हों तो सूचना देनेवाला अपना पूरा वक्तव्य 'कौंसिलिएटर' (समझौता करानेवाले) और रजिस्ट्रार आदि अधिकारियों के पास भेजे, जो निर्धारित विधि से समझौता कराने का प्रयत्न करें। आवश्यकता होने पर समझौता-बोर्ड स्थापित किया जा सकता है, जो इस विषय की गवाहियाँ ले और कागज़ात की जाँच करे। यदि किसी औद्योगिक झगड़े से बहुत से आदमियों को कठिनाई या कष्ट हो तो सरकार दोनों पक्ष को समझौता करने लिए बाध्य कर सकती है। जिन हड़तालों या द्वारावरोधों के सम्बन्ध में समझौते की यथेष्ट कार्रवाई न की गयी हो, वे गैर-कानूनी ठहराये जायँगे।

साधारणतया मजदूर समझौता सम्बन्धी उपर्युक्त कानूनी व्यवस्था से असंतुष्ट हैं। उनको शिकायत है कि कानून में मजदूरों के हितों का यथेष्ट संरक्षण नहीं किया गया है।

विशेष वक्तव्य—अन्य औद्योगिक देशों की तुलना में, भारतवर्ष में मज़दूरों के संगठन बहुत कम हैं। यहाँ जो-कुछ संगठन है, वह प्रायः शहरों में रहनेवाले, तथा कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों का है। परन्तु यहाँ मजदूरों में खासी बड़ी संख्या उन लोगों की भी है, जो खेती पर काम करते हैं, और गाँवों में रहते हैं। इनका मजदूर-संघ आदि के रूप में कोई संगठन नहीं है। इनकी जातिगत पंचायतें

अवश्य हैं, पर वे केवल सामाजिक विषयों का विचार करती है, और जिन्हें अपराधी समझती है, उन्हें दण्ड देती हैं। वे मजदूरों की आर्थिक दशा सुधारने की ओर ध्यान नहीं देतीं। इन मजदूरों की भिन्न-भिन्न जातियों की पंचायतों में परस्पर में कोई सहयोग नहीं होता। इस प्रकार देहाती मजदूरों की शिकायतें दूर करने का संगठित प्रयत्न प्रायः कुछ भी नहीं हो रहा है। इस ओर बहुत ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

स्मरण रहे कि मजदूरों के संगठन जितने शक्तिशाली होंगे, उतने ही उनके विरुद्ध पूँजीपतियों के भी प्रबल संगठन होंगे। इन स्पर्द्धा-पूर्ण संगठनों से यह धारणा हो जाती है कि पूँजीपतियों और श्रमजीवियों की भलाई में आवश्यक और अनिवार्य विरोध है। प्रत्येक को यह चिन्ता बनी रहती है कि कहीं विरोधी पक्ष का पलड़ा अधिक भारी न हो जाय। इसलिए हम इन संघों की स्थापना को एक सामयिक युक्तिमात्र समझते हैं; यह हमारा आदर्श नहीं। परमात्मा करे, औद्योगिक संसार के लिए वह समय शीघ्र आ जाय, जब एक दूसरे के विरुद्ध दलबन्दी करने की जरूरत ही न रहे; दोनों पक्ष पारस्परिक हितों का यथेष्ट ध्यान रखें।



छठा अध्याय

खेती



उत्पत्ति के विविध साधनों—भूमि, श्रम पूँजी, और व्यवस्था—का भारतीय दृष्टि से विचार कर चुकने पर अब यहाँ की खेती और उद्योग-धंधों पर विचार करना है। इस अध्याय में खेती का विषय लेते हैं।

हमारी खेती की उपज—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ब्रिटिश भारत में २१ करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है। यहाँ के भिन्न-भिन्न भागों की जल-वायु, उष्णता, तथा तरी आदि विविध प्रकार की होने से, यहाँ प्रायः सब प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अन्नों में यहाँ चावल, गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, जौ, मकई, आदि मुख्य हैं। दालों में मूँग, उड़द, अरहर, मटर, मसूर, आदि पैदा होती हैं। तेलहन में तिल, सरसों, अलसी आदि प्रधान हैं। अन्य खाद्य पदार्थों में गन्ना, तथा विविध फल, सब्ज़ी, मसाले और मेवा आदि होती हैं। अखाद्य पदार्थों की पैदावार में कपास, सन (जूट), नील, अफ़ीम, कहवा, चाय, तमाखू और पशुओं का चारा विशेष उल्लेखनीय है। खेती से उत्पन्न पदार्थों की मात्रा की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में तीसरा नम्बर है। सब देशों की सन की माँग यही पूरी करता है। गेहूँ, कपास, चावल आदि की पैदावार में भी, यह अच्छा स्थान रखता है। परंतु देश-निवासियों की आवश्यकताओं को देखते हुए यहाँ की उपज कम है। तुलना करने पर मालूम हुआ है कि यहाँ फी एकड़ गेहूँ, जौ, कपास, गन्ने आदि की उत्पत्ति, कई देशों से कम होती है। इसका यह मतलब नहीं कि हमारी भूमि दूसरे देशों की ज़मीन से कम उजाऊ है, क्योंकि कृषि-विभाग के अफ़सर इसी ज़मीन पर नये तरीकों से खेती करके उपज दूनी-तिगुनी कर लेते हैं। बंबई-प्रांत के कृषि-विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर श्री० कीटिङ्ग का कहना है कि भारत में नये तरीकों के उपयोग से अस्सी फी सैकड़ा उपज आसानी से बढ़ायी जा सकती है। परन्तु इसके लिए हमें किसानों की असुविधाएँ दूर करने की आवश्यकता है।

बाधाएँ—भारतवर्ष में कृषि संबंधी मुख्य-मुख्य बाधाएँ ये हैं—

१—किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। उन्हें ब्याज बहुत देना होता है। गैर-मौरूसी, और शिकमी-दर-शिकमी काश्तकारों से लगान

बहुत लिया जाता है।

२—उनकी ज़मीन बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है, जो बहुधा दूर-दूर भी है।

३—कुछ जमीन ऐसी है कि उसमें खेती करना लाभदायक नहीं है।

४—बहुत सी ज़मीन ऐसी हैं, जिसमें खेती सम्भव है, पर की नहीं जाती।

५—बहुत सी भूमि परती छोड़ दी जाती है।

६—देश के कई भागों में सिचाई के साधन नहीं हैं।

७—उत्तम बैल, बीज, खाद और औजारों की कमी है।

८—यहाँ बढ़िया और नयी किस्म की चीज़ें पैदा नहीं की जातीं।

किसानों की निर्धनता और निरक्षरता—किसानों की निर्धनता कितनी अधिक है, यह पहले बताया जा चुका है। उनकी आय का बड़ा भाग लगान और सूद में चला जाता है। इन दोनों मदों में कमी की जानी चाहिए। इस विषय में विशेष आगे प्रसंगानुसार लिखा जायगा। इसके अतिरिक्त, वर्त्तमान अवस्था में किसान अपनी शेष आय का खासा भाग मुकदमेबाज़ी, या विवाहशादी और मृतक-भोज आदि सामाजिक कार्यों में खर्च कर डालते हैं, इसे भी कम करने की आवश्यकता है। इसमें विशेष सफलता, किसानों में ज्ञान का प्रसार होने पर मिलेगी। उनकी शिक्षा कैसी हो, यह पहले बताया जा चुका है।

खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर होने को रोकने के उपाय—भारतवर्ष में बहुत से खेतों का क्षेत्रफल एक-एक दो-दो एकड़ भी नहीं है। कितने ही खेतों का विस्तार तो केवल आधा-आधा एकड़, अथवा इससे भी कम है। इसके अतिरिक्त अनेक किसानों के पास एक से अधिक खेत हैं, जो प्रायः एक-दूसरे से दूर-दूर हैं। इससे

काश्तकारों को बहुत नुकसान होता है। आने-जाने में उनका बहुत सा समय नष्ट हो जाता है, उन्हें वैज्ञानिक यंत्र इत्यादि का उपयोग करने में बहुत असुविधा होती है, तथा वे उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। रखवाली करने में बहुत दिक्कत होती है। उन खेतों के मेंड़ तथा उनमें जाने के लिए रास्ता बनाने में, और उनमें नहर से पानी ले जाने में, बड़ी अड़चन पड़ती है, और काश्तकारों का पारस्परिक झगड़ा भी बढ़ता है। इन हानियों को हटाना आवश्यक है, और उसका एक-मात्र उपाय यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान में—एक चक में—हो जायँ, और भविष्य में उनका छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना कानून से रोक दिया जाय। इसका तरीका यह है कि जिस गाँव के किसान चकबंदी के लाभ समझ जाते हैं, वहाँ एक सहकारी समिति सब किसानों से प्रायः चार वर्ष तक के लिए उनकी जमीन का त्याग-पत्र लिखा लेती है, और, सब जमीन के चक बनाकर उन्हें किसानों में उचित परिमाण में इस तरह बाँट देती है कि प्रत्येक किसान की भूमि एक ही स्थान में हो जाय, और, हर एक किसान को दी जानेवाली भूमि का मूल्य उतना ही हो, जितना पहले उस किसान की जमीन के विविध टुकड़ों का था। ज़मीन के इस बँटवारे में सहकारी समिति के दो-तिहाई सदस्यों का सहमत होना आवश्यक है। चार वर्ष के बाद, यदि किसी किसान का विरोध न हो (और, प्रायः विरोध नहीं होता) तो जमीन के बँटवारे की यह व्यवस्था स्थायी कर दी जाती है।

आजकल खेतों के बँटवारे का मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानों का दाय-विभाग-कानून है। इस कानून में ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी हकदार को खेत के उतने भाग से कम मिलना नाजायज समझा जाय, जितने से उसके परिवार का निर्वाह हो सके। और, जब कोई ऐसा प्रसंग आये, तो पूरा खेत सब हकदारों में ही नीलाम कर दिया जाय। जो कोई उसके लिए सबसे ज्यादह रुपये देने को तैयार हो, उसी को वह खेत मिले; दूसरे हकदारों को उनके हिस्से

के अनुसार रुपया दिला दिया जाय। हम सारी जमीन बड़े लड़के को दिये जाने के पक्ष में नहीं हैं, ऐसा करना हिन्दू और मुसलमान, दोनों के धर्मशास्त्रों के सिद्धांत के विरुद्ध होगा। उपर्युक्त थोड़े-से परिवर्तन से ही उद्देश्य सिद्ध हो सकता है।

बेमुनाफे की खेती—ऊपर खेतों की चकबन्दी की बात कही गयी है। लेकिन चकबन्दी होने पर भी बहुत से खेत इतने छोटे-छोटे रहेंगे कि उनमें अलग-अलग खेती करने से कोई लाभ न होगा; यहाँ तक कि किसानों को अपनी मेहनत का उचित पारिश्रमिक भी न मिलेगा, और उनका गुजारा न होगा। इसे दूर करने के लिए आवश्यकता है कि यहाँ राज्य की ओर से रूस की तरह सामूहिक खेती की व्यवस्था की जाय। कई-कई गांवों के, और कम-से-कम एक गांव के सारे किसानों की भूमि में इकट्ठी खेती की जाय; सब किसानों का उसमें सहयोग हो; बीज, बैल, औजारों तथा अन्य पूँजी के लिए इकट्ठा प्रबन्ध हो। फसल पैदा करने से लेकर उसकी बिक्री और वितरण तक के सभी कामों में सहकारिता हो। हरेक किसान को आमदनी उसकी साधारण आवश्यकताओं के अनुसार तो अवश्य ही हो; जिन किसानों की भूमि अधिक हो, या जो अधिक मेहनत करें, उन्हें अपने जीवन निर्वाह कर सकने से अधिक आमदनी होती रहे।

ऐसी भूमि जिसमें खेती सम्भव है, पर की नहीं जाती—ब्रिटिश भारत में फी सैकड़े लगभग १८ भूमि ऐसी है, जिसमें फसल पैदा होना सम्भव है, पर की नहीं जाती। विदेशी तथा दूसरे ऐसे आदमी जो यहाँ की वास्तविक परिस्थिति को नहीं जानते, भारतवर्ष में इतनी अधिक भूमि के बेकार बने रहने पर आश्चर्य किया करते हैं। बात यह है कि इस भूमि में खेती करने में कई तरह की बाधाएँ हैं। कहीं तो कांस नाम का घास उगा रहता है, जिसकी जड़ें जमीन के अन्दर बहुत गहराई तक गयी हुई होती हैं। इस घास को

निकालना, और इस भूमि में हल चलाना या बीज बोना नहीं हो सकता। कुछ ज़मीन दलदल वाली है, इसलिए उसमें खेती नहीं की जा सकती। कहीं कहीं की आबहवा स्वास्थ्य के लिए बहुत खराब है। कुछ जगहों में घना जंगल है, पर ऐसा नहीं, जिसे जंगल के रूप में उपयोग किया जाय। कुछ जगह ऐसी है, जहाँ जाने आने के लिए रास्ते न होने से वहाँ आसानी से पहुँचा नहीं जाना। सड़कें बन जाने से इस भूमि का खेती के लिए उपयोग हो सकता है। उपर जिक्र की हुई दूसरी ज़मीन को भी कोशिश करके ऐसा बनाया जा सकता है कि वहाँ खेती हो सके। बहुत से स्थानों को, जहाँ पहले बीमारी बहुत होती थी, अब विज्ञान के सहायता से स्वस्थ और रहने योग्य बनाया गया है। इसी तरह कहीं-कहीं दलदल वाली जमीन भी सुधारी गयी है, और अब उसमें खेती भली भांति हो सकती है। अवश्य ही ऐसे कामों में खर्च बहुत होता है, इसलिए ये जनता के बश के नहीं। इन्हें सरकार ही कर सक़ती है, और उसे ये कार्य करने चाहिएँ; कारण, इनसे देश की आय बढ़ती है, और अनाज की कमी दूर होने में सहायता मिलती है।

कुछ भूमि में खेती न करने का कारण यह होता है कि वह बंजर होती है। विज्ञान की सहायता से इस भूमि की समस्या बहुत-कुछ हल हो सकती है। इसके लिए पहले मिट्टी का परीक्षण और विश्लेषण करके यह मालूम किया जाता है कि इसमें कौन-कौन से तत्व किस परिमाण में विद्यमान हैं, कृषि की दृष्टि से कौनसा तत्व अधिक है, और कौनसा कम। पश्चात् उसमें ऐसा कृत्रिम तथा रासायनिक खाद दिया जाता है, जिससे विविध तत्वों का अनुपात ऐसी मात्रा में हो जाय कि उस मिट्टी में कोई उपयोगी फसल भली भाँति पैदा हो सके। जर्मनी आदि देशों में, यह कार्य बहुत सफलता पूर्वक किया गया है। भारतवर्ष में भी इसके प्रयोग की बहुत आवश्यकता है। यहाँ कुछ स्थानों में यह अनुभव किया गया है, कि जिस भूमि में खार अधिक हो, उसमें गुड़ के शीरे का खाद देने से वह

काफी उपजाऊ हो सकती है।

परती भूमि का उपयोग—यहाँ प्रति वर्ष लगभग १० फी सैकड़े भूमि ऐसी होती है, जिस पर एक फसल बोकर बाद में उसे परती छोड़ दिया जाता है, जिससे वह आराम करले। और उसके जो-जो तत्व फसल बोने से चले गये हैं, वे वायु-मंडल द्वारा उसमें आ जायँ। विचार-पूर्वक फसलों को हेर-फेर से बोने का सिद्धान्त काम में लाने से परती भूमि पर खेती की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि में एक फसल के बाद दूसरी ऐसी फसल बोयी जाय, जो उन तत्वों को लेने वाली हो, जो पहली फसल के तैयार होने के बाद शेष रहे हों। इस बीच में वायु-मंडल द्वारा अन्य तत्वों की पूर्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ नील या सन के बाद गेहूँ; मकई या ज्वार के बाद चना, मसूर या मटर; कपास के बाद मकई; जूट के बाद चावल; और, ज्वार-बाजरे या गेहूँ के साथ-साथ दालें बोयी जा सकती हैं। इस प्रकार भूमि बारहों महीने जोती जा सकती है, और बेकार परती छोड़नी नहीं पड़ती।

सिंचाई—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष के कुछ भाग ऐसे है, जिनमें वर्षा बहुत कम होती है, तथा कुछ भागों में वर्षा काफी होने पर भी अनिश्चित रहती है। फिर, चावल और गन्ने आदि की कुछ फसलें ऐसी हैं, जिन्हें जल काफी और नियमित रूप में मिलना चाहिए; वर्षा से बहुत कम स्थानों में ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या की वृद्धि के कारण साल में दूसरी फसल की आवश्यकता होती है; अधिकांश जनसंख्या की आजीविका का मुख्य आधार कृषि ही है। इन सब कारणों से यहाँ सिंचाई की आवश्यकता स्पष्ट है।

सिंचाई के लिए यहाँ कुएँ और तालाब तो प्राचीन काल से हैं, परन्तु नहरों का उल्लेख विशेषतया मुसलमानों के समय से ही मिलता

है। संयुक्तप्रान्त, पंजाब, मदरास, बम्बई और बिहार में नहरों से भी बहुत काम लिया जाता है। मैसूर, हैदराबाद, पूर्वी मदरास, राजपूताना, और गुजरात में तालाब सिंचाई के काम आते हैं; मदरास के पूर्वी भाग में कुछ तालाबों का घेरा कई-कई मील है। कुएँ प्रायः किसानों के बनवाये हुए हैं, कहीं-कहीं धनी-मानी या परोपकारी सज्जनों ने बनवा दिये हैं; सरकार ने भी कुछ दशाओं में उनके लिए सहायता दी है। तालाब जनता तथा सरकार दोनों के ही द्वारा बनावाये गये हैं। नहरों का बनवाना साधारण आदमियों के वश की बात नहीं, इन्हें तो राजामहाराजा अथवा सरकार ही बनवा सकती है।

भारतवर्ष में सरकारी नहरों के दो भेद हैं :—(१) उत्पादक; जिनसे इतनी आय हो जाय कि उनकी व्यवस्था का खर्च तथा उनमें लगी हुई पूँजी का सूद आदि निकल सके और कुछ लाभ भी हो जाय। (२) रक्षात्मक; जिनसे ऐसी आय नहीं होती कि आवश्यक खर्च निकलने के बाद, उनमें लगी हुई पूँजी का सूद निकल सके। ये दुर्भिक्ष-निवारण के लिए बनायी जाती हैं। भारतवर्ष में नहरों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान इसी शताब्दी में दिया गया है। सन् १९०३ ई० के आबपाशी-कमीशन की रिपोर्ट के बाद सरकार ने कई नहरें बनवायी हैं। पंजाब में नहरें निकालने से कई जगह अच्छी सुन्दर नहरी बस्तियाँ या उपनिवेश (कालोनी) हो गये हैं। सिंचाई के साधनों की दृष्टि से, पंजाब के बाद दूसरा स्थान मदरास प्रान्त का है। संयुक्तप्रान्त में शारदा नहर निकाली गयी है, इससे कई लाख एकड़ भूमि में आबपाशी होती है। सिन्ध में सक्खर बाँध बनाया गया है, जिससे सिन्ध की लाखों एकड़ बंजर भूमि हरी-भरी और खूब उपजाऊ हो गयी है।

सन् १९३८-३९ में ब्रिटिश भारत में सरकारी नहरों से २४४ लाख एकड़ भूमि सींची गयी, निजी नहरों से ३५ लाख, तालाबों से ५९ लाख, कुओं से १३२ लाख, और अन्य साधनों से ६७ लाख एकड़। इस प्रकार सब साधनों में कुल मिलाकर ५३७ लाख एकड़

भूमि सींची गयी थी, जब कि जोती हुई सम्पूर्ण भूमि का क्षेत्रफल १,०६३ लाख एकड़ था। अब २४८० एकड़ भूमि जोती है, और उसमें से ५६० एकड़ भूमि में सिंचाई होती है। यह स्पष्ट है कि अधिकांश भूमि की खेती का आधार केवल वर्षा है। यह ठीक नहीं। नहरों की वृद्धि की यहाँ बहुत आवश्यकता है। विशेषतया दक्षिण मालवा, गुजरात, मध्यप्रान्त, सिन्ध और राजपूताने के अनिश्चित वर्षावाले इलाकों में। समुद्र के निकटवर्ती तथा अन्य जिन प्रान्तों में हवा निरन्तर चलती है, वहाँ हवा से चलनेवाले रहँट द्वारा कुओं से जल निकालने की विधि बहुत लाभकारी हो सकती है। संयुक्तप्रान्त आदि कुछ प्रान्तों में 'टयूब वेल' नामक कुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है; इन्हें 'पाताल-फोड़' कुएँ कहते हैं। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है; इन से पानी का अनन्त श्रोत मिलता है। जल निकालने का काम विद्युत शक्ति से लिया जाता है, जिसके विषय में अन्यत्र लिखा गया है।

श्री० डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि आजकल कई उन्नत देशों में बिना सिंचाई की खेती ('ड्राई फार्मिङ्ग') का कार्य बढ़ रहा है। अमरीका में जल की कमी से फसलें नहीं मर सकतीं, क्योंकि किसान लोग वर्षा ऋतु में ही अपने खेतों को ऐसा तैयार कर लेते हैं कि उनके नीचे काफी जल रहता है जिस भूमि पर बारह इंच की वर्षा होती हो, वह लहलाहते खेतों में परिवर्तित की जा सकती है। भारतवर्ष में इस रीति के प्रचार का विचार होना चाहिए। यहाँ राजपूताना, सिन्ध आदि प्रदेश बहुत खुश्क हैं।

खेती के पशुओं आदि का सुधार—भारतवर्ष में खेती पशुओं से, और खासकर बैलों से, की जाती है। यहाँ इनकी दशा कैसी है, यह पहले बताया जा चुका है। इनकी नस्ल सुधारने की, इनके लिए चरागाहों का प्रबन्ध की, और स्वयं किसानों की आर्थिक दशा ऐसी होने की आवश्यकता है कि वे उन्हें पेट-भर और पौष्टिक भोजन दे सकें, स्वास्थ्यप्रद स्थान में रख सकें और आवश्यकता होने पर

उनकी चिकित्सा आदि की समुचित व्यवस्था कर सकें। वर्त्तमान अवस्था में बहुत कम किसान अच्छे बढ़िया बीज, खाद और औजारों का उपयोग करते हैं। सहकारी समितियों, तथा सरकारी कृषि-विभाग से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलनी चाहिए।

बढ़िया तथा नयी किस्म की चीजों की उत्पत्ति— हमारे किसान जैसे-तैसे पैदावार का परिमाण बढ़ाने की तो फिक्र करते हैं, परन्तु उसे बढ़िया प्रकार का करने का प्रयत्न नहीं करते। अन्य अनेक देशों में कई पदार्थों का रूप रंग और आकार आदि बदल कर उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ा दी गयी है, और दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध में ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है। भारतवर्ष में ऐसा सफल प्रयत्न विशेषतया रूई में हुआ है। अब यहाँ मिस्र की तरह की रूई पैदा की जाने लगी है, जिसका सूत बहुत महीन होता है। सरकारी फार्मों में कुछ अन्य पदार्थों के प्रयोग हुए हैं, पर अभी जनता में उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ। कुछ समय से ग्राम-उद्योग-सङ्घ, जिसके सम्बन्ध में अगले अध्याय में लिखा जायगा, ऐसे प्रयोग कर रहा है। पिछले दिनों उसने 'सोयाबीन' के गुणों की परीक्षा की, और किसानों को उसकी खेती के लिए प्रोत्साहित किया। इस दिशा में कार्य करने के वास्ते बहुत क्षेत्र पड़ा है। उत्साही आदमियों को मिल-जुल कर उद्योग करना चाहिए।

प्रायः खेती की पैदावार बिकने की यथेष्ट व्यवस्था नहीं है। बहुधा उसके अच्छे दाम नहीं उठते। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों में बेमुनाफे की खेती होती है। किसान को अपनी मेहनत का यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिल पाता। इसमें सुधार होने की आवश्यकता है। इसका विशेष विचार आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

खेती और सरकार—भारतवर्ष में यह बात अति प्राचीन काल से मानी जाती है कि राज्य को खेती और किसानों की उन्नति में यथेष्ट भाग लेना चाहिए। हिन्दू राजा तो इस ओर अपना महान

कर्त्तव्य पालन करते ही थे, मुसलमान शासकों ने भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए इस दिशा में समुचित प्रयत्न किया। अंगरेजी शासन में एक विशेष सरकारी विभाग द्वारा कृषि की उन्नति करने का विचार सर्व-प्रथम सन् १८६६ में, उड़ीसा में अकाल पड़ने के अवसर पर, हुआ। सन् १८८० के अकाल-कमीशन ने भी इस विषय की सिफारिश की।* फल-स्वरूप विविध प्रान्तों में कृषि-विभाग स्थापित किये गये, परन्तु बहुत समय तक इनसे विशेष कार्य न हुआ। सन् १९०५ ई० में इन विभागों के संगठन तथा आर्थिक स्थिति में सुधार किया गया, और एक केन्द्रीय कृषि-विभाग (बोर्ड) स्थापित किया गया। इस विभाग के प्रयत्नों से, विशेषतया भिन्न-भिन्न प्रकार की जमीनों में उचित खादों के उपयोग, अच्छे बीज, पौधों के रोग और उनके निवारण, नयी तरह के औजारों के उपयोग, पशु-चिकित्सा और नये तरीकों से खेती करने के सम्बन्ध में कई उत्तम बातों का ज्ञान प्राप्त होता है; परन्तु उस ज्ञान का सर्वसाधारण में यथेष्ट प्रचार करने के लिए कुछ सन्तोषजनक प्रयत्न नहीं किया जाता। पूसा (विहार) में एक केन्द्रीय अनुसन्धान संस्था (इम्पीरियल रिसर्च इन्स्टीच्यूट) स्थापित की गयी थी; सन् १९३६ से वह देहली में है। कुछ खास-खास नगरों में चीनी, दूध, मक्खन, रूई, गन्ना आदि के लिए भी अनुसन्धान-संस्थाएँ हैं। इनके सम्बन्ध में भी उपर्युक्त बात ही लागू होती है।

सन् १९२६ ई० में यहाँ एक शाही कृषि कमीशन नियत हुआ था। उसने अपनी रिपोर्ट से कृषि-सम्बन्धी उन्नति, अनुसन्धानों, भूमि-विभाजन, कृषि-प्रदर्शनियों (नुमायशों), पशु-चिकित्सा, आबपाशी, देहाती जीवन, कृषि-शिक्षा, सरकारी-साख-समितियों और कृषि सम्बन्धी नौकरियों पर अपने विचार प्रकट किये थे। इस रिपोर्ट के आधार पर

---

* लंकाशायर के कपड़े के कारखाने वाले भी बहुत चाहते थे कि भारतवर्ष में लम्बे रेशेवाले रूई पैदा की जाय: उन्होंने इस उद्देश्य से सरकार का ध्यान कृषि सम्बंधी उन्नति की ओर दिलाया।

एक कृषि-कौंसिल बनायी गयी है, जिसका कार्य खेती की उन्नति का विचार करना है। १६३५ ई० से भारत-सरकार ग्रामोन्नति के लिए कुछ कार्य करने लगी है, उसका उल्लेख अन्यत्र किया जायगा। यहाँ दूसरी बातों का विचार करना है।

सन् १६३५ के शासन-विधान से पहले बर्मा भारतवर्ष का ही अंग था, इस लिए बर्मा में पैदा होनेवाला चावल इसी देश की पैदावार माना जाता था। उस दशा में यहाँ खासकर गेहूँ की कमी होती थी। गेहूँ आस्ट्रेलिया और कनाडा से मंगाकर वह कमी पूरी की जाती थी। जब बर्मा भारत से अलग कर दिया गया तो बर्मा-रहित भारतवर्ष में चावल की कमी होने लगी। सन् १६३६ से दूसरा योरपीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के समय बाहर से अन्न आदि आना बहुत कठिन होता ही है। इसके अलावा भारतवर्ष में उस समय सरकारी प्रबन्ध भी बहुत खराब रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि बंगाल में, सन् १६४३ में बहुत भयंकर अकाल पड़ा। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इसमें १५ लाख, और दूसरे हिसाब लगाने वालों के मत से इसमें ३५ लाख आदमी मर गये। जो आदमी इस अकाल में रोग-ग्रस्त होकर कष्ट पाते रहे, उनकी संख्या रही अलग। इस अकाल की जांच करनेवाले वुडहेड कमीशन ने अकाल के जो कारण बताये हैं, उनमें से कुछ ये हैं—(१) बर्मा का चावल न आना, (२) बंगाल-सरकार प्रान्त में अनाज का संग्रह और वितरण करने में असफल रही (३) जनता का बंगाल की सरकार में विश्वास नहीं रहा था। (४) भारत-सरकार ने अपनी अनाज-नीति निर्धारित करने में गलती की। (५) बंगाल में अनाज की कमी होते हुए भी चावल बाहर भेजा गया। (६) चोर-बाजार (ब्लेक मार्केट), और घूसखोरी का जोर रहा; सरकार ज़रूरत के समय जनता को अनाज न दे सकी, इससे अनाज की कीमत छः गुनी बढ़ गयी। (७) जापानी आक्रमण के भय से नावों आदि पर सरकारी कब्जा हो जाने से भीतरी व्यापार चौपट हो गया। (८)

सन् १९४२ की 'अमन की' फसल अच्छी न थी।

आवश्यकता है कि देश में खाद्य पदार्थों की उपज बढ़ायी जाय, और जनता भोजन के सम्बन्ध में स्वावलम्बी हो। वर्तमान युद्ध के समय सरकार ने किसानों को कहा कि 'खाद्य सामग्री अधिक उपजाओ।' परन्तु ऐसा कहने मात्र से क्या लाभ, जब तक कोई सुसंगठित योजना साथ में न हो। किसानों को कुछ सुविधाएँ दी जानी आवश्यक थीं। यह ज़रूरी था कि सरकार ऐसी व्यवस्था करे कि किसानों को खेती के लिए अच्छा बीज और काफी पानी मिले; और जो किसान अधिक अन्न पैदा करे, उसे आबपाशी और लगान अपेक्षाकृत कम देना पड़े; और, अनाज के उचित दाम मिलें। सरकार द्वारा ऐसा प्रोत्साहन मिलने पर ही, खेती द्वारा उत्पन्न होने वाले पदार्थों की कमी का संकट दूर हो सकता था। भारतवर्ष में सरकार द्वारा इस दिशा में कुछ संतोषजनक कार्य नहीं किया गया। कुछ योजनाएँ बनी हैं, पर उन्हें अभी अमल में नहीं लाया गया।

जनवरी सन् १९४६ ई० में भारत-सरकार ने एक अखिल भारतीय कृषि और खाद्य नीति की घोषणा की है। नीति का उद्देश्य यह है कि जनता के रहनसहन के स्तर को ऊँचा उठाया जाय, उसे भोजन-सामग्री अधिक मात्रा में और अच्छी प्रकार की मिले। देखना है कि इस नीति के अनुसार कहाँ तक काम होता है।

सातवाँ अध्याय

उद्योग धन्धे

केवल खेती से पैदा होनेवाली वस्तुओं से ही हमारा काम नहीं चल जाता; हमें अनेक प्रकार के तैयार माल की भी जरूरत होती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति की जाती है। दस्तकारियों और उद्योग-धन्धों

का, खेती से गहरा सम्बन्ध है; कारण कि इनके लिए जो कच्चा माल आवश्यक होता है, वह खेती से ही मिलता है। खेती सम्बन्धी विचार कर चुकने पर अब हम उद्योग-धन्धों पर विचार करते हैं।

भारतवर्ष का औद्योगिक विभाजन—भारतवर्ष की भूमि उद्योग-धंधों से उत्पन्न द्रव्यों और उनके व्यापार के नाते चार भागों में बाँटी जा सकती है * :—

(१) आसाम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा। यहाँ रबर, तेलहन, तेल, लाख, नील, जूट, कागज़, चमड़ा, रेशम, अफीम, तम्बाकू, चाय, चीनी, चावल, कोयला, लोहा, शोरा, अभ्रक आदि द्रव्य पैदा होते या पाये जाते हैं। दस्तकारी में हाथीदाँत का काम, छाता बनाना, सीप, शंख का काम, ढाके की मलमल, ज़रदोजी, या बेल-बूटों का काम, और चटाई बुनने का काम मशहूर है।

(२) उत्तर-भारत, जिससे संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, राजपूताना, मध्यभारत, पंजाब, सीमाप्रान्त और कशमीर शामिल हैं। यहाँ राल, धूप, लाख, तेलहन, इत्र, साबुन, मोमबत्ती, कत्था, हर्रा, बहेड़ा, रुई, ऊन, तैयार चमड़ा, दरी, गेहूँ, बिस्कुट, अफीम, चाय, चीनी, शराब, रेशम, शीशम, देवदारु की लकड़ी, जस्ता, नमक, शोरा, सोहागा, खारी मिट्टी आदि पदार्थ पाये जाते या पैदा होते हैं। दस्तकारी में टीन के सामान, लाख से रँगे धातु के सामान, इनामिल, सोने, चाँदी, ताँबे पीतल और फौलाद के सामान, पत्थर खोदने और काटने का काम, मिट्टी का काम, लकड़ी, हाथीदांत तथा चमड़े का काम, रँगने-छापने का काम, रुई, रेशम तथा ऊन के कपड़े, शाल-दुशाला, दरी, जाजम, गलीचे आदि के काम मशहूर हैं।

(३) पश्चिम-भारत (बम्बई प्रान्त, बरार और बिलोचिस्तान)। यहाँ गोंद, तेलहन, रुई, ऊन, चमड़ा, जड़ी-बूटी, नमक और गेहूँ,

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' से।

पैदा होता है। सोने-चांदी के सामान, लकड़ी, सींग, चमड़े, रुई, ऊन, तथा जरदाज़ी से सम्बन्ध रखनेवाली दस्तकारियां मशहूर हैं।

(४) दक्षिण-भारत (मदरास प्रान्त, हैदराबाद, मैसूर और कुर्ग)। यहाँ तेलहन, घी, चर्बी, नील, रुई, नारियल के छिलके के सामान, हाथीदाँत, चमड़ा, चाय, काफी, सिगार, मिर्च, दालचीनी, शराब, चावल, चंदन की लकड़ी, मोती, मैंगनीज, सीसा, सीमेंट आदि द्रव्य पाये जाते हैं। दस्तकारी में सोने, चाँदी, तांबे, पीतल का सामान, पत्थर, लकड़ी और हाथीदाँत का काम, कपड़ा रँगना-छापना, रेशमी कपड़ा बुनना, और चिकन का काम मशहूर है।

इस प्रकार बंगाल और बिहार में कृषि से उत्पन्न द्रव्यों की प्रचुरता है, पर दस्तकारी की कमी। पश्चिमी भारत में द्रव्यों तथा कारीगरियों दोनों की कमी है; दक्षिण-भारत में इनकी बहुतायत है। उत्तर-भारत में कारीगरियों की कमी नहीं है।

भारतवर्ष में छोटी दस्तकारियों की विशेषता— भारतवासी अधिकांश तैयार पदार्थ अब विदेशों से मँगाते हैं। वह ज़माना गया, जब यहाँ की बनी चीजें दूर-दूर तक आदर, आश्चर्य और ईर्षा की दृष्टि से देखी जाती थीं। किस प्रकार कम्पनी के समय में हमारे उद्योग-धन्धों का ह्रास हुआ, और हमारी जगत-विख्यात कारीगरियाँ नष्ट की गयीं, उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यहाँ की औद्योगिक जागृति को किस प्रकार रोका गया, ये बातें हम अपनी 'भारतीय जागृति' पुस्तक में बता चुके हैं। अस्तु, धीरे-धीरे अनेक बाधाओं का सामना करते हुए, यहाँ कुछ बड़े-बड़े कल-कारखाने खुले हैं; परन्तु अधिकांश भागों में छोटी दस्तकारियों की ही बहुतायत है। इसके कुछ विशेष कारण ये हैं—

(१) जति-प्रथा के कारण जुलाहे, कुम्हार आदि अपने पूर्वजों के ही काम करते हैं। आजीविका के नये साधन प्राप्त करने से उन्हें बहुधा जाति से बाहर रहना पड़ता है।

(२) बहुधा मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार काम करने की आदत पड़ी हुई है; वे कारखानों में निश्चित घंटे काम करना, अथवा अन्य कायदे-कानून के बन्धन में रहना पसन्द नहीं करते।

(३) कुछ खास-खास केन्द्रीय स्थानों को छोड़ कर कारखानों में मिलनेवाली मजदूरी इतनी अधिक नहीं हुई कि गाँव के लोग सहसा नगर में रहने की असुविधाएँ और खर्च सहन करने लगें।

(४) अधिकतर आदमी अपने गाँव या कस्बे में ही रहना पसन्द करते हैं। स्थान-परिवर्तन उन्हें रुचिकर नहीं होता; वे भूखे रहने या कर्ज़दार होने पर ही लाचार होकर, घर या कुटुम्ब का मोह छोड़ते हैं।

(५) परदे की प्रथा के कारण अनेक औरतें बाहर जाकर काम नहीं कर सकतीं; वे घरू धंधों में ही भाग ले सकती हैं।

(६) किसानों को साल में प्रायः चार महीने से छः महीने तक बेकार रहना पड़ता है; और बाकी महीनों में उनकी आय से जैसे-तैसे काम ही चलता है, बेकारी के समय के लिए वे कुछ बचा कर नहीं रख सकते। अतः उन्हें ऐसे उद्योग-धन्धे के कार्य की आवश्यकता होती है, जिसे वे अपने गाँव में ही कर सकें। इसका अभिप्राय यह है कि देश की दो-तिहाई जनता के लिए घरू उद्योग-धन्धों का बड़ा महत्व है।

किसानों के लिए उपयोगी सहायक धन्धे—हमने ऊपर कहा है कि वर्त्तमान अवस्था में एकमात्र खेती के आसरे रहने से किसानों का बारहों महीने काम नहीं चल सकता। अपने निर्वाह के लिए उन्हें उसके साथ दूसरे कार्य भी करने चाहिएँ। अवश्य ही ये कार्य ऐसे होने चाहिएँ कि इनसे खेती में कोई बाधा न हो; ये यथासंभव उसमें सहायक ही हों। इस दृष्टि से किसानों के लिए एक मुख्य उद्योग पशु-पालन का है। दूध देनेवाले पशु के रखने से किसान को दूध या घी की बिक्री से आय हो सकती है, और उसके बच्चों को यदि

दूध नहीं, तो मट्ठा तो मिल ही सकता है। गाय के बछड़ों का अच्छी तरह पालन-पोषण होने पर वे अच्छे बैल बन सकते हैं, जो खेती के बहुत काम आते हैं। गोबर से खाद का बड़ा लाभ है।

खेती के साथ एक छोटा-सा बगीचा मामूली खर्च से सहज ही लगाया जा सकता है, जिसमें स्थानीय परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार भाँति-भाँति के फूल, सब्जी (तरकारी), या फल लगाये जायँ। इसमें यह विचार रखा जाय कि प्रत्येक ऋतु में उसके अनुकूल पदार्थ उत्पन्न किये जायेँ, जिससे बारहों महीने कुछ-न-कुछ आमदनी होती रहे। अगर फल आदि के बेचने की व्यवस्था किसान खुद न कर सके तो बगीचा ठेके पर उठाया जा सकता है। जो जमीन खेती के योग्य न हो, उस पर पेड़ लगा देने से बढ़िया लकड़ी बेचने के, और मामूली लकड़ी जलाने के, काम में आ सकती है। किसान रस्से बटने, टोकरी बनाने, रंगने, छापने आदि का काम भी बखूबी कर सकते हैं।

हाथ की कताई-बुनाई—किसानों के लिए सबसे महत्वपूर्ण धंधा हाथ की कताई-बुनाई का है; कारण, भोजन के अलावा कपड़े की ज़रूरत सब को होती है। राष्ट्रीय जागृति में इस धन्धे की उन्नति की ओर नेताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक था। इसका विशेष संगठित प्रयत्न सन् १९२५ ई० से हुआ, जब कि महात्मा गांधी की प्रेरणा से यहाँ अखिल भारतवर्षीय चर्खा-संघ की स्थापना हुई। स्थान-स्थान पर इसके सैकड़ों खादी-केंद्र है।

इस धन्धे के बारे में दूसरे महायुद्ध से पहले की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं—इस धन्धे से कम-से-कम बीस लाख जुलाहों और कई लाख कत्तिनों (कातनेवालों) को भोजन-वस्त्र मिलता है। सारे हिन्दुस्तान में कुल पांच सौ करोड़ गज कपड़े की खपत है। हाथ की खड्डियाँ हर साल १४० करोड़ गज कपड़ा तैयार करती हैं, जो बगैर किसी सरकारी अथवा जनता की सहायता के बिक जाता है। यह कपड़ा मिल के सूत

और हाथ के सूत दोनों का होता है। कुछ कपड़ा तो केवल मिल के ही सूत का होता है, कुछ मिलावटी सूत का, और कुछ बिलकुल हाथ के ही कते सूत का होता है। अगर इस धन्धे को अपनी खोई हुई बपौती फिर से प्राप्त करनी है, तो इसे मशीनों के सूत पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। मिल का सूत यद्यपि पूरा इकसार होता है तो भी हाथ के सूत के मुकाबले में मजबूत नहीं होता। पिछले सालों में चर्खा-संघ ने सूत में बहुत-कुछ सुधार किया है। संघ हर साल लगभग ३५ लाख की खादी तैयार करता है; और ढाई लाख कत्तिनों और दस हजार बुनकरों को काम देता है। अगर हाथ की खड्डियाँ, मिल के सूत की जगह, केवल हाथ का कता सूत काम में लावें, तो दरिद्र किसानों की दरिद्रता बहुत हद तक कम हो सकती है।

अगस्त १६४२ में देश में, राष्ट्रीय आन्दोलन का जो भयंकर दमन हुआ, उससे कई प्रान्तों में चर्खा-संघ पर कठोर प्रहार हुए। छोटे-बड़े बहुत से कार्यकर्ता जेलों में बन्द रहे, इसलिए संघ का काम व्यवस्थित रूप से न चल सका। और, उसकी पूरी जानकारी भी प्राप्त नहीं हो सकी। केन्द्रीय कार्यालय जो जानकारी संग्रह कर सका है, उसके आधार पर उसने जुलाई १६४२ से जून १६४४ तक का कार्य-विवरण प्रकाशित किया है। उससे मालूम होता है कि सन् १६४३-४४ में संघ की शाखाओं और संघ द्वारा प्रमाणित संस्थाओं में कुल १३० लाख रु० की खादी तैयार हुई; इसका परिमाण ११२ लाख वर्ग गज था, और यह वज़न में ३४,८५,४६६ पौंड थी। उक्त वर्ष में चर्खा-संघ की शाखाएँ ८,१५२, और उसके द्वारा प्रमाणित संस्थाएँ १,३५४ थीं। इनमें कुल कत्तिनें २,३६,३३२, बुनकर २१,०४१, और अन्य काम करनेवाले ३,५०६ थे।

अन्य उद्योग-धंधे; ग्राम-उद्योग।—हाथ का कताई बुनाई एक महान उद्योग है। परन्तु, देश में दूसरे भी ऐसे उद्योग-धंधे हैं, जो

वहाँ के लाखों करोड़ों आदमियों के लिए जीवन-स्वरूप हैं, और जिनके संगठन की प्रबल आवश्यकता है। इसके वास्ते पहले जरूरत इस बात की होती है कि प्रत्येक उद्योग-धंधे के बारे में यथेष्ट जानकारी हासिल की जाय, और इस जानकारी को ऐसे आदमियों के पास पहुँचाया जाय, जो वैसे ही उद्योग-धंधों में लगे हुए हों। कांग्रेस ने आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के बाद अक्तूबर सन् १९३४ ई० में औद्योगिक उन्नति के कार्य को आगे बढ़ाने का निश्चय किया।

इस वर्ष के अंत में वर्धा (मध्यप्रांत) में 'अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ' की स्थापना, एक स्वतंत्र संस्था के रूप में, हुई। इसका उद्देश्य है—ग्रामों का पुनःसंगठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करना, उनमें आवश्यक सुधार करना; और, ग्राम-निवासी जनता की नैतिक और शारीरिक उन्नति करने की चेष्टा करना। संघ का संचालन एक मंडल के अधीन है, जो समय-समय पर ग्राम-सुधार अथवा ग्राम-रचना संबंधी अपना कार्यक्रम निर्धारित करता है; भिन्न-भिन्न केन्द्रों में जिन पद्धतियों अथवा नीति से काम लिया जायगा, उनका समन्वय और सुधार करता है; ग्रामवासियों की आर्थिक, नैतिक और शारीरिक अवस्था संबंधी, एवं ग्रामों के पिछड़े हुए तथा विकासशील उद्योग-धंधों की वास्तविक स्थिति संबंधी खबरें, कार्यकर्ताओं और प्रतिनिधियों से प्राप्त कर, उनका वर्गीकरण कर, उन्हें सर्वत्र फैलाता है; विशेषज्ञों की सहायता से खोज का काम करता है; तथा स्थानीय ग्रामवासियों की जरूरतों को पूरी करने के बाद बचे हुए तैयार माल के लिए बाजार ढूंढता है, या पैदा करता है।

इस संघ की संरक्षता में निम्नलिखित ग्रामोद्योग या उनके प्रयोग चल रहे हैं:—१—धान से चावल निकालना, २—आटा पीसना, ३—गुड़ बनाना, ४—तेल निकालना, ५—मूँगफली छीलना, ६—शहद की मक्खियाँ पालना, ७—मछली पालना, ८—दूध-शाला, ९—नमक बनाना, १०—कपास लुढ़ाई, ११—कम्बल बनाना, १२—

रेशम और टसर का माल बनाना, १३—सन की कताई और बुनाई, १४—कालीन बनाना, १५—कागज बनाना, १६—चटाई बुनना, कंघियाँ बनाना, १८—चाकू कैंची आदि बनाना, १९—साबुन बनाना, २०—पत्थर की कारीगरी, २१—मरे हुए जानवरों की लाशों का उपयोग करना, और चमड़ा तैयार करके उसकी विविध वस्तुएँ बनाना।

आशा है, संघ उत्तरोत्तर उन्नति करेगा। कार्य करने के लिए क्षेत्र विशाल है। आवश्यकता इस बात की है कि सब देश-प्रेमी सज्जन अपनी शक्ति भर इसको सहयोग प्रदान करें।*

घरू उद्योग-धंधों की उन्नति के उपाय—घरू उद्योग-धंधों को जीवित रखने तथा उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए कई बातों की आवश्यकता है। पहले तो लोगों के मन में से यह गलत धारणा निकल जानी चाहिए कि हाथ का काम नीचे दर्जे का काम है। नागरिकों के मन में बचपन से ही शारीरिक श्रम का गौरव बैठाया जाना चाहिए। इसके लिए औद्योगिक शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए; इसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। गाँवों की प्रारम्भिक पाठशालाओं में, छोटी-छोटी कारीगरी के लिए उपयोगी, अच्छे औजार काम में लाने आदि की शिक्षा, और भिन्न-भिन्न रोजगार सम्बन्धी विविध जानकारी, मिलने का यथेष्ट प्रबन्ध होना चाहिए। सहकारी-समितियों को भी बहुत बढ़ाने और संगठित करने की ज़रूरत है, जिससे आवश्यक कच्चा माल खरीदने और तैयार माल बेचने में अधिक लाभ और सुभीता हो। इन समितियों के सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा।

घरू उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए संचालन-शक्ति की ऐसी

* इस विषय में विशेष जानने के लिए पाठक ग्राम-उद्योग-संघ, वर्धा, का विवरण तथा संघ द्वारा प्रकाशित साहित्य अवलोकन करें।

व्यवस्था होनी चाहिए कि आदमी अपने-अपने गाँव में ही नहीं, अपने-अपने घर में उसका उपयोग कर सकें। बहुत से उद्योग-धन्धे ऐसे हैं कि उनमें कड़े परिश्रम की आवश्यकता होती है। यदि लोगों को अपने-अपने स्थान में बिजली की शक्ति मिल सके तो वे उन उद्योग-धन्धों का काम आसानी से कर सकें, तथा उनका परिमाण भी बढ़ा सकें। संचालन-शक्ति के बारे में विशेष आगे लिखा जायगा।

इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर हाथ की बनी स्वदेशी वस्तुओं की प्रदर्शनियों (नुमायशों) तथा विज्ञापन की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे सर्वसाधारण यह जान सकें कि कैसी-कैसी चीजें कहाँ-कहाँ बनती हैं, और, उत्साही सज्जनों को वैसी चीजें बनाने तथा उनमें सुधार करने की प्रेरणा हो। साथ ही प्रत्येक केन्द्रीय ग्राम या कस्बे में स्थानीय आवश्यकता की वस्तुओं का एक स्वदेशी भंडार रहना चाहिए, जहाँ आदमी अपने लिए जरूरी वस्तुएँ खरीद सकें। लोगों को चाहिए कि वे आस-पास की ही वस्तुओं से काम चलावें, और इस प्रकार अपने कारीगर भाइयों की सहायता करें। देश-प्रेम सम्बन्धी यह एक आवश्यक कर्त्तव्य है, जिसकी किसी व्यक्ति को अवहेलना न करनी चाहिए।

सरकार द्वारा भी उद्योग-धन्धों की वृद्धि में बहुत सहायता मिल सकती है। ऊपर औद्योगिक शिक्षा के प्रचार तथा सहकारी समितियों की स्थापना की बात कही गयी है, यह कार्य विशेषतया सरकारी सहायता से ही करने का है। सरकार द्वारा उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता भी दी जा सकती है। यहाँ ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रान्त में एक औद्योगिक विभाग है, वह उद्योग-धन्धों के विषय में विचार करता है। उसके द्वारा विविध प्रकार का कार्य होता है। पर उसे अक्सर धन की कमी की शिकायत बनी रहती है, और प्रायः अधिकारी कार्यकर्त्ता जनता के सम्पर्क में नहीं आते। इसलिए जैसा चाहिए, वैसा काम नहीं होता। यदि सरकार का समुचित सहयोग

प्राप्त हो तो उद्योग-धन्धों की उन्नति विलक्षण रूप से हो सकती है। अन्यान्य बातों में सरकार अपने विविध विभागों के लिए यहाँ हाथ से तैयार किया हुआ माल खरीद कर इस दिशा में बहुत सहायक हो सकती है।

घरू उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक है कि उनसे तैयार होने वाले माल को न सिर्फ़ विदेशी माल की प्रतियोगिता से बचाया जाय, वरन् देश के कारखानों के माल के मुकाबले से भी उसकी रक्षा की जाय। उसके लिए पहले उन खास-खास घरू उद्योगों को छाँट लिया जाना चाहिए, जिनकी रक्षा करना अभीष्ट हो। फिर कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था की जाय कि उस तरह का माल देश के कारखानों में भी न बने, विदेशों से उसका आना तो संरक्षण-करों द्वारा रोक ही दिया जाय। उदाहरण के लिए खादी की बात लीजिए। इस समय बहुत से आदमी इसे मंहगी होने पर भी, भावना-वश इस्तेमाल करते हैं; परन्तु इस तरह कब तक चलेगा! जब देशी मिलें बढ़ जायँगी और देश के लिए यहाँ काफी कपड़ा बनने लगेगा, तब अगर मिलें ही मोटा कपड़ा भी तैयार करने लगीं, तो साधारणतया ग्राहक उनके सस्ते कपड़े को ही खरीदेंगे, और हाथ की कती और बुनी खादी को न पूछेंगे। इसका उपाय यही है कि कानून द्वारा मिलों को एक खास हद से अधिक मोटा कपड़ा न बनाने दिया जाय। तभी खादी का घरू उद्योग-धन्धा टिक सकेगा। इसी तरह दूसरे उद्योग-धन्धों के बारे में विचार किया जा सकता है।

बड़े-बड़े कारखाने—छोटे-छोटे उद्योग धंधों का विचार करके अब हम बड़े-बड़े उद्योग-धंधों का विषय लेते हैं। सन् १६३६ ई० में ब्रिटिश भारत में कुल मिला कर १०,४६६ कारखाने थे, जिसमें से कुछ निरंतर साल-भर चलने वाले थे, और कुछ मौसमी, अर्थात् किसी ऋतु विशेष में चलनेवाले। कुल कारखानों में प्रतिदिन औसतन साढ़े

सतरह लाख आदमी काम करते थे। प्रान्तों की दृष्टि से सब से अधिक कारखाने क्रमशः बंबई, मदरास और बंगाल में थे; इन प्रांतों के कारखानों की संख्या ३१२०, १८११, और १७२५ थी, अर्थात् तीनों को मिलाकर ६६५६ थी। इस प्रकार देश भर के कुल कारखानों के आधे से अधिक इन्हीं तीन प्रांतों में थे। इन तीनों प्रान्तों के श्रमजीवियों की संख्या साढे बारह लाख (कुल श्रमजीवियों की संख्या की सत्तर फी-सैकड़े) थी। संयुक्तप्रांत में कारखाने ५४६ थे, और उनमें कार्य करनेवाले श्रमियों की संख्या १,५६,७३८ थी। इन कारखानों में कुछ सरकारी तथा स्थानीय-स्वराज्य-संस्थाओं के भी थे। कारखाने विशेषतया खाद्य पदार्थों, रूई (कातने-बुनने), कागज, जूट, इंजिनियरिंग, खानिज द्रव्यों रासायनिक द्रव्यों, और रंगों, जीन, प्रेस, चमड़े, शीशे, लकड़ी और पत्थर के थे।

देशी रियासतों में सन् १६३८ई० में कुल १७१७ कारलाने थे। इनमें प्रति दिन औसतन लगभग तीन लाख आदमी काम करते थे। इस वर्ष ब्रिटिश भारत के कारखानों में काम करनेवालों की संख्या १७ लाख ३८ हजार थी। इस प्रकार महायुद्ध से पहले ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों में, कुल कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या लगभग साढ़े बीस लाख थी।

सन् १६४२ में ब्रिटिश भारत के कुल कारखाने १२,५२७ थे, और उनमें प्रतिदिन औसतन २१,८१,५२३ आदमी काम करते थे। इस वृद्धि का कारण कुछ अंश में युद्ध-काल की परिस्थिति भी है।

खनिज पदार्थों का व्यवसाय—भारतवर्ष में खानों से जो पदार्थ निकाले जाते हैं, उन्हें या तो मामूली तौर से साफ करके यहीं काम में ले आते हैं, जैसे कोयला, पेट्रालियम, नमक आदि; अथवा, उन्हें विदेश भेज देते हैं, जैसे अभ्रक या मैंगनीज; वहाँ वाले उनमें मिली हुई चीज़ों को वैज्ञानिक पद्धति से जुदा-जुदा करके काम में लाते

हैं, या अगर जरूरत से ज्यादा समझा, तो वह शुद्ध किया हुआ माल भारतवर्ष को अधिक दामों पर भेज देते हैं। भारतवासियों का ध्यान वैसे मिश्रित खनिज द्रव्यों के उपयोग की ओर नहीं गया है, जिनसे निकले हुए द्रव्यों का व्यवहार रासायनिक पदार्थों के बनाने या अन्य किसी खनिज द्रव्य के शुद्ध करने में होता है। इससे बहुत हानि होती है। उदाहरण के लिए खानों में ताँबा प्रायः गंधक के साथ मिला हुआ रहता है। यदि देश में सिर्फ ताँबे की माँग हो, तो कच्ची धातु से ताँबा तो साफ करके निकाल लिया जायगा, और गंधक यों ही पड़ा रहेगा। यह ताँबा महँगा पड़ेगा। यदि साथ में गंधक निकालने और काम में लाने का भी प्रबन्ध हो, तो ताँबा और गंधक दोनों सस्ते पड़ें। पर गंधक की माँग तभी हो सकती है, जब कि देश में गंधक के तेजाब के, और उससे सम्बन्ध रखनेवाले खनिज तेल, सज्जी, साबुन, काँच, रंग आदि विविध प्रकार के रासायनिक व्यवसायों के कारखाने स्थापित हों। जब तक देश में व्यावहारिक रसायन-शास्त्र का प्रचार न होगा, तब तक ताँबे की तरह मिश्रित रूप में मिलनेवाली धातुओं का यथेष्ट उपयोग नहीं हो सकता। यहाँ के लोगों को या तो घाटा सहकर अपनी चीज़ें खान से निकालकर विदेश भेजनी पड़ेंगी, या उन्हें यों ही छोड़ना पड़ेगा, तथा रासायनिक प्रयोग से बननेवाली दूसरी चीज़ें विदेश से मंगानी पड़ेंगी।* सन् १९३९ ई० में भारतवर्ष में ऐसी खानें, जिनपर खानों का कानून लगता था, १८६४ थीं; और उनमें तीन लाख एक हजार आदमी काम करते थे। सन् १९४१ में, खानों में काम करने वालों की संख्या ३,४७,०१८ थी।

संचालन-शक्ति—आधुनिक उद्योग-धंधों और कल-कारखानों की जान कोयला है। भारतवर्ष में संचालन-शक्ति के लिए इसका ही उपयोग बहुत किया जाता है, और यह यहाँ खासी मात्रा में है भी; तथापि यह चिंता तो है ही कि यह भंडार धीरे-धीरे घटता जा रहा है।

---

* 'भारत की साम्पत्तिक अवस्था' के आधार पर।

इसलिए दूसरे साधनों से काम लिया जाना चाहिए। भारतवर्ष में तेलों का भी बहुत उपयोग हो सकता है। परन्तु उसकी एक सीमा है। भविष्य में हाइड्रोइलेक्ट्रिक अर्थात् जल से पैदा होनेवाली बिजली की योजनाओं के अधिकाधिक प्रयोग होने की सम्भावना है। यह बिजली सस्ती और अच्छी होती है। इसमें कष्टप्रद धुआँ भी नहीं होता। भारतवर्ष में सबसे पहले मैसूर-दरबार ने इस शक्ति से काम लेना शुरू किया था। आजकल इससे कोलार की सोने की खानों का काम चलता है। कश्मीर राज्य ने बारामूला के पास झेलम नदी से जल-प्रपात द्वारा बिजली निकाली है। उससे श्रीनगर में रोशनी की गयी है, और रेशम का सरकारी कारखाना चलाया जा रहा है। दक्षिण में कावेरी-वर्क्स और टाटा वर्क्स में इसी प्रकार बिजली निकाली जा रही है।

गत पन्द्रह वर्षों में, संयुक्तप्रान्त में बिजली की खासी उन्नति हुई है। इस प्रान्त के पश्चिमी भाग में, बिजली केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नहीं, कुछ छोटे नगरों में भी पहुँच गयी है। बिजली जितनी अधिक पैदा की जाती है, उतनी ही वह सस्ती पड़ती है। उपयुक्त स्थानों में उसकी दर सस्ती होने का कारण यही है कि वहाँ सिंचाई के लिए नदियों और 'ट्यूब वेल' से काफी पानी निकालने के लिए बिजली बहुत पैदा की जाती है। अब इस प्रान्त के पूर्वी जिलों में, और बिहार में, बिजली की योजना को सफल करने का प्रयत्न हो रहा है। भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में भी नदी और जल-प्रपात बहुत हैं। उनका उपयोग किया जाना चाहिए।

सन् १९४५ में एटम बम का आविष्कार किया जाकर उसका उपयोग जापान के दो नगरों को नष्ट करने और जापान को युद्ध में परास्त करने में किया गया। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि परमाणुओं की अपरिमित शक्ति को काबू में लाकर मनुष्य-हित के कामों में लगाया जा सकेगा। सुना है अमरीका में परमाणु-शक्ति से चलनेवाला

एंजिन बनाने में कुछ सफलता मिली है; आगे इस शक्ति से विविध कल-कारखाने चलाये जाने की आशा है।

सूर्य के तेज के उपयोग का विचार हो रहा है। अभी इसमें खर्च बहुत पड़ता है। क्रमशः वैज्ञानिक उन्नति होने पर उसके सस्ते होने की सम्भावना है। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि किसी समय संसार के कल-कारखानों का संचालन सूर्य की शक्ति से ही होने लगे। फिर तो, भारत-जैसे गर्म देशों की खूब बन आयेगी।

औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता—कुछ वर्षों से भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति हो रही है, परन्तु यह उन्नति, इस देश की जनसंख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए जैसी होनी चाहिए थी, नहीं हुई है। यहाँ इसकी बहुत आवश्यकता है।* इससे कई लाभ होंगे—

(१) कृषि पर निर्वाह करनेवालों की संख्या घटेगी, और फसल खराब होने की दशा में आर्थिक संकट बहुत अधिक न होगा। (२) राष्ट्रीय आय की वृद्धि होगी, और लोगों का रहनसहन का दर्जा ऊँचा होगा। इससे उनकी कार्यक्षमता और उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पुनः जनता की आय बढ़ेगी। इस प्रकार लाभ बढ़ता रहेगा। (३) सरकार तथा म्युनिसपेलटियों आदि स्थानीय संस्थाओं की आय बढ़ेगी और वे सार्वजनिक उपयोगिता के अधिकाधिक कार्य कर सकेंगी। (४) अनेक आदमियों को रोजगार मिलेगा, और उनकी बेकारी दूर होने में सहायता मिलेगी। (५) देश स्वावलम्बी होगा। आवश्यक वस्तुएँ यहाँ ही बनायी जा सकेंगी, उनके लिए विदेशों को रुपया भेजना, तथा भारतवर्ष को उनके आश्रित रहना न होगा। (६)

---

*श्री० जवाहरलाल जी नेहरू के सभापतित्व में राष्ट्रीय आर्थिक निर्माण योजना समिति ('नेशनल पलेनिंग कमेटी') काम कर रही है। इसकी लगभग तीस उपसमितियाँ हैं। प्रत्येक उपसमिति के अधीन देश की एक महत्वपूर्ण आर्थिक समस्या है।

लोगों की, धन गाड़ कर रखने, या उसे ज़ेवर आदि अनुत्पादक कार्यों में लगाने, की प्रवृत्ति में सुधार होगा। मिश्रित पूंजी की व्यवस्था से लोगों की बचत की छोटी-छोटी रकमों का भी उपयोग हो सकता है, जो बेकार पड़ी रहती हैं। (७) लोगों के विचारों की संकीर्णता दूर होगी, उनका दृष्टिकोण उदार होगा। वे परम्परा के अंध-भक्त न रहेंगे, हानिकर रूढ़ियों को तोड़ते हुए समाजसुधार के कार्यों में आगे बढ़ेंगे। (८) कृषि को भी लाभ होगा। देश में धन अधिक होने से, उसकी उन्नति के लिए आवश्यक पूँजी मिलना आसान होगा। उद्योग-धंधों में कुछ अधिक श्रमियों के लग जाने से कृषि-श्रमियों के वेतन में वृद्धि होगी, और उनका रहनसहन तथा कार्यक्षमता बढ़ेगी।

एक समस्या और उसका हल—विदेशी व्यवसायी अपने सस्ते पदार्थों से हमारा धन खींचे ले जा रहे हैं। आर्थिक संग्राम में अपने आपको सुदृढ़ बनाये रखने के लिए हमें स्वदेशी सामान की उत्पत्ति खूब बढ़ानी चाहिए; परंतु इसमें पाश्चात्य देशों से मुकाबला करने के लिए उनके ढंग (मशीनों का बहुत अधिक उपयोग) इख्तियार करना हमारे वास्ते कहाँ तक हितकर होगा? ऐसी धनवृद्धि भी किस काम की, जो जनता का ह्रास करने लगे! इसपर हमारे सामने यह सवाल आता है कि यदि हम मशीनों का काफ़ी उपयोग न करेंगे, तो विदेशी माल हमारे बाज़ारों में आकर सस्ता पड़ता रहेगा, स्वदेशी माल की खपत कम होगी, हमारे उद्योग-धंधों का और भी ह्रास होगा, और हम कृषि पर अधिकाधिक आश्रित रहेंगे। इसका उपाय क्या है? यह एक बड़ी विकट समस्या है। इसे हल किस प्रकार किया जाय?

प्रथम तो मिलों और मशीनों का इस्तेमाल खासकर उन कार्यों के लिए किया जाय, जो उनके बिना हो नहीं सकते, और जिनके बिना देश का काम नहीं चल सकता। मिलों से जो हानियाँ वर्त्तमान समय में नजर आती हैं, उन्हें रोकने का भी भरसक प्रयत्न किया जाय।

मिलों के मालिक केवल धन पैदा करने की ओर ही लक्ष्य न रखकर इस बात की ओर भी ध्यान दें कि हजारों-लाखों आदमी अपेक्षाकृत अच्छी आमदनी के लालच में फंस कर अपना जीवन बर्बाद न करें। श्रमजीवियों की शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन और विकास के लिए समुचित साधनों की व्यवस्था होनी चाहिए; इस विषय की कुछ बातें पहले व्यवस्था के प्रसंग में कही जा चुकी हैं। दूसरा उपाय यह है कि बिजली आदि की संचालन-शक्ति की यथेष्ट व्यवस्था की जाय, जिससे वह काफी सस्ती हो, और उसका उपयोग करते हुए श्रमी अपने घर में, अपने परिवार के आदमियों के साथ रहते हुए स्वतंत्रता-पूर्वक उद्योग-धंधे का काम कर सकें; मिलों और कारखानों की बुराइयों से बचे रहें। तीसरा उपाय यह है कि ऐसा प्रयत्न किया जाय कि विदेशों का सस्ता माल यहाँ न खप सके, और वह हमारे स्वतंत्र व्यवसायों को चौपट न कर सके। यह कैसे? सरकारी सहायता तथा संरक्षण-करों से।

उद्योग-धंधों के लिए सरकारी सहायता—छोटे उद्योग-धंधों संबंधी सरकारी सहायता के विषय में जो बातें पहले लिखी जा चुकी हैं, उनमें से कुछ, बड़े उद्योग-धंधों की उन्नति के वास्ते भी उपयोगी होती हैं। बड़े उद्योग-धंधे में एक मुख्य प्रश्न पूँजी का रहता है। कभी-कभी सरकार उसके लिए बाजार-दर से कम ब्याज पर रुपया उधार देती है, या कुछ ऐसा रुपया प्रदान करती है जिसे वह वापिस नहीं लेती, या उसके बदले, एक खास परिमाण में, उपत्न वस्तु लेती है। सरकारी सहायता का एक रूप यह भी हो सकता है कि सरकार कुछ मशीनें उत्पादकों को किराये पर दे; एक निर्धारित अवधि तक किराया दे चुकने पर मशीनें उत्पादकों की ही हो जायँ। सरकार किसी आदमी या संस्था को, किसी वस्तु की उत्पत्ति का एकाधिकार देकर भी उद्योग धन्धे की सहायता कर सकती है। उदाहरण के लिए बिजली आदि का ठेका किसी खास कम्पनी को दिया जाता है, इससे वह कम्पनी

नगर भर के लिए बिजली का प्रबन्ध करती है, और उसकी दर काफी सस्ती रखती है। अगर दो या अधिक कम्पनियाँ अलग-अलग इस काम को करें, तो ग्राहकों के बँट जाने से प्रत्येक कम्पनी को बिजली कम पैदा करनी हो, फल-स्वरूप बिजली की दर ऊँची रहे, और इस धन्धे की वैसी उन्नति न हो।

उद्योग-धन्धों का संरक्षण—सरकारी सहायता का एक व्यापक रूप उद्योग-धन्धों का संरक्षण है। सरकार जिस नये उद्योग-धन्धे का संरक्षण करना चाहती है, उसकी विदेशी आयात (विदेशों से आनेवाले माल) पर काफी भारी कर लगाकर उसे मँहगा कर देती है। इससे देश में स्वदेशी वस्तु की बिक्री को सहायता मिलती है। कुछ समय के बाद यह वस्तु यहाँ सस्ती पड़ने लगती है, और विदेशी वस्तु की प्रतियोगिता में ठहरने योग्य हो जाती है। भारतवर्ष में सरकार ने पिछले महायुद्ध से पहले उद्योग-धन्धों का संरक्षण नहीं किया। उस महायुद्ध के समय, तथा उसके बाद उसकी नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। सन् १९१६ ई० में यहाँ की औद्योगिक परिस्थिति की जाँच करने के लिए कमीशन बैठाया गया। पश्चात् सन् १९२१ ई० में एक आर्थिक जाँच-समिति नियुक्त हुई। इसने सिफारिश की कि भारतीय उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिए बाहर से आनेवाले माल पर विशेष कर लगना चाहिए। उसके बाद यहाँ 'टेरिफबोर्ड' कायम किया गया, और उसकी सिफारिश के अनुसार विदेशी लोहे, फौलाद के सामान, कागज, कपड़े, सीमेंट और चीनी की आयात पर क्रमशः ऐसा कर लगाया गया कि वे यहाँ की बनी उन चीजों से कुछ मँहगी हो गयीं। इससे इन वस्तुओं के स्वदेशी उद्योग-धन्धे को प्रोत्साहन मिला। अस्तु, संरक्षण नीति से स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति होती है। परन्तु यह कोई स्थाई या एकमात्र उपाय नहीं है। अतः इससे पूर्व जो बातें कही गयी हैं, उनका भी समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए।

युद्ध और उद्योग-धन्धे—युद्ध का उद्योग-धन्धों पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ता है। शान्ति-काल में हम बहुत-सा तैयार माल विदेशों का काम में लाते हैं; युद्ध के समय उसका आना बन्द हो जाता है, और जनता स्वदेश में बने हुए माल से काम चलाने पर वाध्य होती है। कुछ आदमी अपनी आवश्यकताएँ नियंत्रित करते हैं, तो भी देश में उत्पादन-कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। देशी माल विदेशी की अपेक्षा कुछ मँहगा होने पर भी उसकी खूब माँग रहती है। सरकार कुछ पदार्थों की कीमत नियंत्रित करती है, तथापि कल-कारखाने वालों को काफी लाभ हो जाता है। उन्हें सरकार भी माल बनाने के लिए आर्डर देती है, उदाहरण के तौर पर सैनिकों की वर्दी का कपड़ा, कम्बल, थैले, बोरे, तम्बू आदि बनाने का आदेश किया जाता है। इस प्रकार उन्हें खूब काम रहता है, और उनके पास पहले से कहीं अधिक मजदूर काम करने लगते हैं। वे पहले की अपेक्षा बड़े पैमाने पर काम करते हैं, इससे उनके लाभ का परिमाण बढ़ना स्वाभाविक ही है।

युद्ध के कारण उद्योग-धन्धों में एक बाधा भी होती है। विदेशों से आवश्यक मशीनें नहीं आ सकतीं; यदि आती भी हैं तो उनकी कीमत बढ़ी हुई होती है; फिर, उनका मार्ग-व्यय तथा बीमा-खर्च आदि अधिक देना होता है। मशीनों सम्बन्धी इस बाधा से कोई नया कारखाना खोलना या किसी काम को बहुत अधिक बढ़ाना कठिन होता है।

युद्ध-काल में कई नये उद्योग-धन्धों की आवश्यकता होती है; जैसे शस्त्रास्त्र, यांत्रिक गाड़ियाँ, वायुयान, जहाज और अन्य युद्ध-सामग्री। यदि सरकार की नीति अनुकूल हो तो ये चीजें विदेशों से न मँगाकर स्वदेश में बनायी जा सकती हैं। परन्तु भारत-सरकार ने तो इस ओर घोर उपेक्षा की है। भारतीय व्यवसाय के विशेषज्ञ श्री० विश्वेश्वरैया ने बताया है कि (१) जहाजी यात्रा की जोखिम उठाकर भी भारत से कच्चा लोहा इङ्गलैंड इसलिए भेजा गया कि उसको

फौलाद बनायी जाकर भारत मँगायी जाय। (२) भारतवर्ष के लिए जहाज यहाँ न बनवा कर आस्ट्रेलिया बनवाये गये। (३) भारत-सरकार ने यहाँ की मोटर कम्पनी को किसी प्रकार की मदद देने से इनकार किया; उसने यह भी स्वीकार न किया कि अपनी जरूरत तथा फौज के लिए इस कारखाने की मोटरें खरीदे, और इस कारखाने के प्रयत्नों को युद्ध-प्रयत्नों में शामिल करे।

अमरीका से एक औद्योगिक कमीशन भारतवर्ष आया था। उसने युद्ध सम्बन्धी उद्योगों के लिए विविध सिफारिशें कीं। भारत-सरकार ने उनके अनुसार कुछ कार्य किया, पर वह काफी नहीं रहा। इन बातों के कारण युद्ध-काल में भी भारतीय उद्योग धन्धों की विशेष उन्नति न हो सकी; सरकार की इस विषय सम्बन्धी नीति बहुत खेद-जनक रही। देश में राष्ट्रीय सरकार होने पर ऐसा न होगा।



आठवाँ अध्याय

उत्पत्ति की वृद्धि और आदर्श



पिछले अध्यायों में भारतवर्ष में होनेवाली उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध बातों का विचार किया जा चुका है। अब हमें यह सोचना है कि क्या यहाँ उत्पत्ति बढ़ाने की आवश्यकता है, तथा उत्पत्ति के विषय में हमारा आदर्श क्या रहना चाहिए। आदर्श-हीन तो कोई कार्य उचित नहीं है।

उत्पत्ति की वृद्धि, स्वावलम्बन की आवश्यकता—हम पहले बता चुके हैं कि भारतवर्ष में यहाँ की जनसंख्या को देखते हुए उत्पत्ति का परिमाण बहुत कम है, और इसलिए लोगों की आर्थिक

अवस्था अच्छी नहीं है। उपज की मात्रा कम होने के कारणों पर प्रसंगानुसार विचार किया जा चुका है। एक मुख्य कारण यह है कि अनेक आदमी यहाँ ऐसे हैं, जो उत्पादन में भाग नहीं लेते। जब कि प्रत्येक व्यक्ति भोजन-वस्त्र आदि की विविध वस्तुओं का उपभोग करता है, अथवा अपने-बच्चों को खिलाता पहनाता है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी सामर्थ्य और सुविधानुसार उन चीजों की वृद्धि करे। किसी व्यक्ति का निठल्ला या निरुद्यमी रहना अनुचित है; यह एक अपराध है, पाप है। इस दृष्टि से वे सब आदमी दोषी हैं, जो समर्थ होते हुए भी दूसरों की कमाई खाते हैं, या बड़े सेठ-साहुकार, पूँजीपति, जमींदार आदि होकर कुछ काम नहीं करते, और ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं। फिर, उन आदमियों के दोषी होने में तो कोई सन्देह ही नहीं है, जो समाज के लिए कुछ भी सेवा या उपकार न करते हुए भिक्षा, या दान-वृत्ति आदि से अपनी गुजर करते हैं। जनता की श्रद्धा या धार्मिक भावनाओं का इस प्रकार लाभ उठाया जाना निन्द्य है। हाँ, जो व्यक्ति अपने किसी शारीरिक या मानसिक विकार के कारण कुछ उत्पादन-कार्य नहीं कर सकते, उनका दूसरों के आश्रित रहना बुरा नहीं। बच्चों, लंगड़े-लूले अपाहिजों, या रोगियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था करना उनके परिवारवालों तथा समाज का कर्त्तव्य है। अस्तु, यदि इन बातों का ध्यान रखा जाय, और श्रम करने योग्य हरेक आदमी स्वावलंबी हो तो देश में उत्पत्ति यथेष्ट हो जाय, कुछ कमी न रहे, यह स्पष्ट ही है।

कैसी चीजों की उत्पत्ति की जानी चाहिए?—अच्छा, क्या ऐसी प्रत्येक चीज बना ली जाया करे, जो विनिमय-साध्य हो! हम पहले बता चुके हैं कि कई प्रकार की वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनके बनाने का श्रम व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक माना जाने पर भी सामाजिक दृष्टि से उत्पादक नहीं होता। उदाहरण के तौर पर एक आदमी ऐसी मादक वस्तुएँ बनाता है, या उन्हें ऐसे परिमाण में बनाता है कि उनका

औषधियों आदि में उपयोग न होकर नशे के वास्ते सेवन किया जाता है। अथवा, कोई आदमी आतिशबाजी या विलासिता की चीज़ें बनाता है। यह ठीक है कि समाज की मौजूदा हालत में उस आदमी को उन चीज़ों का मूल्य मिल जाता है, और वह अपने आपको उत्पादक कह सकता है। परन्तु उसके समय या शक्ति से समाज की कुछ भलाई न होकर, हानि ही होती है। यदि यह आदमी अन्न-वस्त्र आदि बनाता, कृषि के लिए उपयोगी औजार बनाता, दूध देनेवाले पशुओं के भरण-पोषण का काम करता, अथवा किसी उद्योग-धंधे में लगता तो उसको लाभ होने के साथ-साथ उससे समाज का भी बहुत हित-साधन होता। इसलिए हमें ऐसी ही चीजों की उत्पत्ति करनी चाहिए, जो केवल हमारे लिए कुछ आमदनी का साधन न हों, वरन् उनसे समाज की भी भलाई हो।

यही नहीं, समाज की सुरक्षा और विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि कुछ आदमी अपने निजी स्वार्थ को त्याग कर अपने श्रम का लाभ जाति और देश को पहुँचाएँ, वे ऐसी चीजें बनाएँ, ऐसे आविष्कार या अनुसंधान करें, जिनसे समाज की मौजूदा समस्याओं का हल हो। वे ऐसी सेवाएँ करें, जिनसे चाहे उन्हें विशेष आमदनी न हो पर समाज का हित अवश्य हो। भारतवर्ष में बहुत से साधु-संत, महात्मा, कथावाचक, लेखक, कवि, चिकित्सक आदि समय-समय पर अपना जीवन समाज के लिए अर्पण करते रहे हैं। इस समय भी स्वार्थ-त्याग करनेवाले परोपकारी नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का अभाव नहीं है। हाँ, राष्ट्र की वर्त्तमान अवस्था में ऐसे आदमी काफ़ी अधिक संख्या में होने चाहिएँ।

उत्पत्ति का आदर्श; पूँजीवाद !—आज-कल पूंजीवाद के के भावों का प्रचार बहुत है। अनेक आदमी उसी वस्तु की उत्पत्ति करते हैं, जिससे उन्हें नफा हो। वे किसी वस्तु की उत्पत्ति उस सीमा तक करते हैं, जहाँ तक करने से उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ होता

हो। उनका मुख्य लक्ष्य अपने मुनाफे का रहता है।* उनके कार्य से समाज का हित होता है, या नहीं, अथवा उनकी उत्पादन-विधि में श्रमजीवियों के कुशल-क्षेम की रक्षा और वृद्धि होती है या नहीं, यह बात पूँजीपतियों के लिए गौण रहती है; वे इस पर उतना ही ध्यान देते हैं, जिसमें वे कानून की पकड़ में न आवें। आधुनिक उत्पादन में पूँजी और मजदूरी के झगड़े नित्य बने रहते हैं, द्वारावरोध और हड़तालों की आशंका रहती है। इनके निवारण के लिए कानून की व्यवस्था की जाती है, परन्तु वह पर्याप्त नहीं होती। प्रायः पूँजीपतियों और सरकार का बहुत-कुछ सहयोग होता है। अधिकांश पूँजीपति शासनपद्धति को प्रजातंत्रमूलक होने देने में यथा-संभव बाधक ही रहते हैं। वे एक प्रकार से तानाशाही, तथा एकतंत्रवाद के समर्थक, और साम्राज्य के आधारस्तंभ होते हैं; और, पराधीन देश की स्वतंत्रता में, रोड़े अटकाया करते हैं। फिर, असंख्य श्रमजीवियों के निर्धन, अशिक्षित तथा रोगी होने, और उनके निवास-स्थान और रहनसहन बहुत निकृष्ट होने का परिणाम पूँजीतियों के लिए भी हानिकर होता है। दूषित वातावरण में किसी को सुख-शांति नहीं मिल सकती। इस प्रकार, पराधीन देश का विविध प्रकार से अनिष्ट होता है।

पूँजीवादी, जिस देश में उसका माल खपने की सम्भावना हो, उसी पर (सभ्यता-प्रचार की आड़ में) 'आर्थिक आक्रमण' करने को तैयार रहता है। अपने इस कार्य में उसे अपने देश की सरकार की सहानुभूति और सहयोग मिल जाता है। निर्बल और असंगठित देशों पर, इन पूजीपतियों को ललचायी हुई आखें लगी रहती हैं। इस तरह पूँजीवाद से संसार में महायुद्ध की आशंका हर दम बनी रहती है।

* अमरीका आदि के पूँजीपति जब यह देखते हैं कि उत्पत्ति का परिमाण इतना अधिक हो गया है कि वस्तु की दर गिरने, और उन्हें लाभ कम होने की संभवना है, तो हजारों-लाखों आदमियों के, उस वस्तु के लिए, तरसते हुए भी, वे उस वस्तु को समुद्र या अग्नि की भेंट करने में संकोच नहीं करते।

परमार्थवाद और मध्यम मार्ग—इससे यह साफ जाहिर है कि पूँजीवाद या स्वार्थवाद, उत्पत्ति के आदर्श की दृष्टि से, अनुचित और हानिकारक है। इसमें वह सुख और शान्ति कहाँ, जो परमार्थवाद में है! भारतीय इतिहास ऐसे अनेक सज्जनों के चरित्रों से भरा पड़ा है, जिन्होंने अपने श्रम का बहुमूल्य प्रतिफल देश और जाति की सेवा में अर्पण करके, विलक्षण सुख और संतोष का अनुभव किया। पर ऐसा आदर्श रखने का सौभाग्य कुछ थोड़े से ही आदमियों को मिलता है। सर्वसाधारण के लिए उत्पत्ति सम्बन्धी व्यावहारिक आदर्श मध्यम मार्ग है; वह यह कि उत्पत्ति से उत्पादक को लाभ हो, पर कष्ट या हानि किसी की न हो। हमारे कार्य से दूसरों की, समाज की, भी भलाई हो।

विशेष वक्तव्य—कुछ आदमी बहुत-कुछ कल्पना-जगत में रहते हुए यह उपदेश किया करते हैं कि धन बहुत बुरी चीज़ है, इसकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं करनी चाहिए। यह उपदेश कहाँ तक समाज-हितकर है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस उपदेश के अनुसार व्यवहार करने से मनुष्यों का जीवन धारण तथा विकास ही किस प्रकार हो सकता है? इसलिए दूरदर्शी आचार्यों या शास्त्रकारों ने यही आदेश किया है कि धन की उत्पत्ति करो; चाहे जितना धन उत्पन्न करो, पर इस बात का ध्यान रखो कि यह कार्य धर्मपूर्वक हो, किसी को कष्ट या हानि पहुँचा कर नहीं। दूसरों के स्वार्थ का भी ऐसा ही ध्यान रखो, जैसा स्वयं अपने स्वार्थ का। धर्मपूर्वक पैदा किये हुए धन से ही व्यक्ति का, देश का, और मानव समाज का वास्तविक हित-साधन होता है।



तीसरा भाग

उपभोग

नवाँ अध्याय

उपभोग और आवश्यकताएँ

किसी पदार्थ की उत्पत्ति, उसके उपभोग किये जाने के लिए ही की जाती है। इस विचार से हम यह कह सकते हैं कि उपभोग और उत्पत्ति का, कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्यों को विविध प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। वे उन पदार्थों को खर्च या उपभोग करना चाहते हैं। इसीलिए संसार में तरह-तरह के काम-धंधे दिखलाई पड़ते हैं। यदि हमारी आवश्यकताएँ कुछ भी न रहें, तो बहुत-से कार्य बन्द कर दिये जायँ। फिर, जो पुरुष यथेष्ट पदार्थ खाये-पियेगा ही नहीं, उसकी उत्पादन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। इस दृष्टि से भी उत्पत्ति का उपभोग से घनिष्ट सम्बन्ध है।

उपभोग में विचार की आवश्यकता—धन की उत्पत्ति बहुधा बहुत कठिन समझी जाती है, और उसे बढ़ाने के नये-नये ढङ्ग निकालने के लिए बड़े-बड़े दिमाग़ काम करते हैं। परन्तु उपभोग की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जैसा कि श्री० एफ. ए. वाकर ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है, लोग बिना पढ़े-लिखे ही अपने आप को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र के सिद्धांतों पर ध्यान देने से मालूम होता है कि असल में प्रति सैकड़ा ९९ मनुष्यों

के सिर अपव्ययी होने का दोष मढ़ा जा सकता है। इस बात की सचाई की जाँच के लिए आप जुदा-जुदा आदमियों के एक महीने के खर्च पर सूक्ष्म विचार करें। आपको विदित हो जायगा कि प्रायः हरेक आदमी ने कुछ-न-कुछ खर्च ऐसा अवश्य किया है, जो उसे न करना चाहिए था, अथवा उसने जिस वस्तु को खरीदने में खर्च किया है, उसकी अपेक्षा कोई अन्य वस्तु उसके लिए अधिक उपयोगी है। इसका कारण यह है कि कोई मनुष्य यह अच्छी तरह नहीं जानता कि किसी वस्तु के उपभोग में वास्तविक उपयोगिता कितनी होगी। कभी-कभी जब हम बाज़ार से चीज़ें ले आते है तो पीछे ऐसा मालूम होता है कि उन चीज़ों में एक-दो ऐसी हैं, जो वास्तव में उतनी उपयोगी नहीं हैं, जितनी हम उन्हें समझते थे; और, कोई दूसरी चीज़ जिसे हम खरीद कर नहीं लाये हैं, हमारे लिए अधिक उपयोगी थी। ऐसी बातों से यह स्पष्ट है कि उपभोग के विषय का विचार करने की कितनी आवश्यकता है।

उपभोग का महत्व केवल उपभोक्ता की ही दृष्टि से नहीं है। उत्पादकों को भी इसके विचार की अत्यन्त आवश्यकता है। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि जिन वस्तुओं को हम उत्पन्न करें, वे ऐसी हों, जिनका उपभोग होता है। पर इसका यह आशय नहीं कि हम अपने लाभ के वास्ते ऐसी वस्तुओं का भी उत्पादन करें, जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हों; इस संबंध में पहले लिखा जा चुका है।

विचार न करने से हानि—यदि कोई आदमी उपभोग के बारे में अच्छी तरह विचार नहीं करता तो उसका जीवन बहुत कष्टमय हो जाता है। भोजन के ही विषय को लें। हमारा मन चाहता है कि जो चीज़ें स्वाद हों, खूब खट्टी-मीठी या चटपटी हों, उनका उपभोग करें। प्रायः हम उनका उपभोग करते भी हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा पैसा व्यर्थ जाता है, उसकी हानि तो होती ही है; स्वास्थ्य की भी हानि होती है। फिर, किसी आदमी या परिवार की आय की

एक सीमा होती है। यदि वह किसी के बहकाये में, या विज्ञापनबाजों के धोखे में आकर, बहुत-सा पैसा कम उपयोगी वस्तुओं को खरीदने में खर्च कर डालता है, तो उसे अपने जीवन-निर्वाह में कठिनाई उपस्थित होगी। यह कोई कल्पित बात नहीं है। हम रोज देखते हैं, बहुत से मज़दूर अपने वेतन का खासा भाग मादक वस्तुओं के उपभोग में खर्च कर डालते हैं; और, कितने ही युवक 'टाकी', चल-चित्र, सिनेमा या नाटक आदि में बहुत-सा पैसा उड़ा देते हैं। वे थोड़ी देर का आनंद लेते हैं, पर पीछे उन्हें कष्ट भी बहुत उठाना पड़ता है। अपनी अन्य आवश्यकताओं का पूर्ति के लिए उनके पास धन नहीं रहता, वे सारी उम्र ऋणी या कर्जदार रहते हैं।

जब किन्हीं दो परिवारों की आमदनी बराबर हो, और दोनों के आदमी भी संख्या में समान हों, एवं उनकी आवश्यकताएँ भी बहुत-कुछ एक-सी हों, तब यदि एक परिवार अपना निर्वाह अच्छी तरह कर रहा हो, और दूसरा बड़े कष्ट में हो तो समझना चाहिए कि उनके इस अंतर का एक प्रधान कारण यह है कि पहले परिवार का उपभोग-कार्य विचार-पूर्वक है, और दूसरे का ऐसा नहीं है।

बहुधा स्त्रियों को घर में तरह-तरह की चीज़ें रखने का शौक होता है। वे बाजार या मेले-तमाशे में जाती हैं तो सजी हुई दुकानों को देखकर उनका मन अनेक चीज़ों की तरफ चला जाता है, और वे बहुत-सी चटक-मटक की, या अनावश्यक वस्तुएँ खरीद लेती हैं; अथवा, उन्हें प्रसन्न करने के लिए आदमी ही वैसी चीज़ें खरीद लाते हैं। इससे बहुधा, खासी अच्छी आयवाले परिवार की भी आर्थिक हालत खराब रहती है।

हम किसी वस्तु का उपभोग इसलिए करते हैं कि हमें उस वस्तु के उपभोग की आवश्यकता प्रतीत होती है, और हम अपनी उस आवश्यकता को पूरी करना चाहते हैं। इस प्रकार उपभोग का मूल है, आवश्यकताएँ। उनके विषय में कुछ जरूरी बातें जान लेनी चाहिएँ।

आवश्यकताएँ—मनुष्यों की विविध आवश्यकताओं के दो भेद किये जा सकते हैं :—(१) वे आवश्यकताएँ, जो धन या सम्पत्ति द्वारा पूरी हो सकती है; जैसे भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी के लिए भोजन, और वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। ये पदार्थ धन या सम्पत्ति द्वारा मिल सकते हैं। (२) वे आवश्यकताएँ जो धन या सम्पत्ति द्वारा पूरी नहीं हो सकतीं; जैसे कुटुम्ब का प्रेम आदि। अर्थशास्त्र में इन दूसरी प्रकार की आवश्यकताओं का विचार नहीं किया जाता। यह शास्त्र उन्हीं आवश्यकताओं का विवेचन करता है, जो धन या सम्पत्ति द्वारा पूरी हो सकती है। इन्हें 'आर्थिक आवश्यकताएँ' कहते हैं।

आर्थिक आवश्यकताओं के लक्षण—आदमियों की आवश्यकताओं के मुख्य लक्षण ये हैं—

(१) उनकी संख्या अनन्त है। आम तौर से मनुष्य को भाँति-भाँति के भोजन, तरह-तरह के वस्त्र, नयी-नयी पुस्तकों और दूसरी चीजों की इच्छा बनी रहती है। सभ्यता के साथ-साथ ये आवश्यकताएँ अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं, तथा मानसिक शक्ति बढ़ने से नयी-नयी इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं।

(२) यथेष्ट साधन होने पर मनुष्य की प्रत्येक आर्थिक आवश्यकता अलग-अलग पूरी सकती है; परन्तु ज्यों ही एक आवश्यकता पूरी होती है, त्योंही दूसरी आ खड़ी होती है। इस प्रकार नयी-नयी जरूरतें पैदा होते रहने से साधारण मनुष्य की सब-की सब आवश्यकताओं की पूर्ति होना कठिन है। फिर, प्राकृतिक, प्रारम्भिक या शारीरिक आवश्ककताओं की पूर्ति अधिक सरल और सम्भव है, परन्तु कृत्रिम आवश्यकताओं के सम्बन्ध में यह बात नहीं होती। उदाहरण के लिए यह तो अनुमान किया जा सकता है कि एक आदमी कितना भोजन करेगा ; लेकिन यह सहसा नहीं कहा जा सकता कि कितने द्रव्य, धन, या आभूषणों आदि से कोई पुरुष या स्त्री सन्तुष्ट होगी।

(३) एक ही प्रकार की आवश्यकताओं में बहुधा प्रतियोगिता रहती है। एक आवश्यकता उसी प्रकार की दूसरी आवश्यकता को हटाकर उसकी जगह लेने का प्रयत्न करती है। दूध पीनेवाले बहुत-से आदमियों को दूध महँगा होने की दशा में चाय या कहवे का अभ्यास हो जाता है। सवारी के लिए भारतवर्ष में रथ या बैलगाड़ी की आवश्यकता का स्थान अब इक्का-बग्घी की आवश्यकता ने ले लिया है; अधिक समर्थ आदमी तो मोटर की अभिलाषा रखते हैं। गेहूँ खानेवाले अकाल के समय ज्वार, बेझर या मकई आदि से, और इनके भी अभाव में शाक-भाजी या वृक्षों की पत्तियों तक से निर्वाह करते हैं।

(४) आवश्यकताएँ एक दूसरे की पूरक या पूरी करनेवाली होती हैं। बहुधा किसी वस्तु की पृथक् आवश्यकता कम होती है; उसके साथ अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है; जैसे शाक-भाजी के साथ मसाले, ईंधन और बर्तनों की आवश्यकता होती है। हाँ, उसका इक्के के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु इक्के के साथ घोड़े और साज आदि की आवश्यकता होगी। इस प्रकार आदमियों की आवश्यकताओं के कई समूह हैं। एक समूह की एक वस्तु का, उसी समूह की अन्य वस्तुओं से, परस्पर सम्बन्ध होता है।

(५) आवश्यकताओं की प्रवृत्ति आदत बनने की रहती है। जब एक चीज किसी देश में बराबर एक-दो पीढ़ी तक बरती जाती है, तब वहाँ वालों को उसकी आदत पड़ जाती है। इस प्रकार कृत्रिम आवश्यकताएँ प्राकृतिक आवश्यकता का स्वरूप धारण कर लेती हैं। योरप के देशों में नेकटाई या कालर, वस्त्र का एक प्रधान अंग माना जाता है। अनेक मजदूरों के लिए शराब एक आवश्यक वस्तु है। इस प्रकार आवश्यकताओं के बदलने या घटने-बढ़ने से समय-समय पर रहनसहन का दर्जा बदलता रहता है।

(६) आवश्यकताएँ एक सीमा तक रोकी जा सकती हैं—उनका

नियंत्रण हो सकता है। प्रायः इस बात को आदमी भूल जाते हैं; अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में भी इसका बहुत कम विचार किया जाता है। इस पर कुछ विशेष प्रकाश आगे बारहवें अध्याय में डाला जायगा।

दसवाँ अध्याय

उपभोग के पदार्थ

मनुष्य जिन अनेक पदार्थों का उपभोग करते हैं, उनके साधारणतया पाँच भेद किये जा सकते हैं:—(१) जीवन-रक्षक पदार्थ, (२) निपुणता-दायक पदार्थ, (३) कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ, (४) आराम के पदार्थ, और (५) विलासिता के पदार्थ।

जीवन-रक्षक पदार्थ—वे पदार्थ जो प्राणधारण करने के लिए आवश्यक हैं; जैसे साधारण अन्न, साधारण वस्त्र, साधारण मकान आदि। इन पदार्थों की माँग कम लोचदार होती है;* जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इन पदार्थों पर होनेवाला कुल खर्च बढ़ता जाता है।

निपुणतादायक पदार्थ—निपुणतादायक पदार्थ वे पदार्थ हैं, जिनके उपयोग से मनुष्यों की कार्य-कुशलता बढ़ती है, और उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसका मूल्य इन पदार्थों के मूल्य से अधिक होता है, जैसे पुष्टिकारक भोजन, स्वच्छ वस्त्र, अच्छे हवादार मकान आदि। इनकी भी माँग कम लोचदार होती है; जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इन पर होनेवाला कुल खर्च भी बढ़ता है।

* कीमत के अल्प परिवर्तन से किसी वस्तु की माँग के बढ़ने या घटने के गुण को 'माँग की लोच' कहते हैं। जब किसी चीज़ की माँग, कीमत में थोड़ा-सा परिवर्तन होने से ही, बहुत घट-बढ़ जाती है, तो यह कहा जाता है कि उसकी माँग लोचदार है।

कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ—जो पदार्थ असल में आवश्यक नहीं होते, परन्तु रीति-रस्म, आचार-व्यवहार और आदतों के कारण आवश्यक समझे जाने लगते हैं, उन्हें कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ कहते हैं। बहुधा इनके लिए बहुत-से आदमी अपने जीवन-रक्षक या निपुणतादायक पदार्थों में भी कुछ कमी कर देते हैं—जैसे शराब, गाँजा, भाँग, तम्बाकू, अफ़ीम, विवाह-शादियों में या जन्म-मरण के समय उपभोग किये जाने वाले कई अनावश्यक पदार्थ। इनकी भी माँग कम लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती जाती है, इन पर होनेवाला कुल खर्च भी बढ़ता जाता है।

आराम के पदार्थ—आराम के पदार्थ वे कहे जाते हैं, जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य-कुशलता बढ़ती है, वह अधिक उत्पत्ति करने लगता है; परन्तु उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसका मूल्य उपभोग के पदार्थों के मूल्य की अपेक्षा कम रहता है। उदाहरण के लिए मामूली मज़दूर के लिए साइकल, बढ़िया कपड़े, कीमती मकान आदि। इनकी माँग साधारणतया लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती या घटती है, माँग भी प्रायः उसी अनुपात में घटती-बढ़ती है; इससे उन पर किया जानेवाला कुल खर्च प्रायः एकसा रहता है।

विलासिता के पदार्थ—विलासिता वे पदार्थ के होते हैं, जिनके उपभोग से कार्य-कुशलता बहुत ही कम बढ़ती है, या नहीं भी बढ़ती, और, कुछ दशाओं में तो उसके घटने की संभावना रहती है; जैसे; एक मामूली मजदूर के लिए बहुत ही बढ़िया कपड़े, चश्मा, मोटर आदि। इनकी माँग बहुत लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इसकी कीमत बढ़ती जाती है, इन पर होनेवाला खर्च, बढ़ी हुई कीमत के अनुपात से, कम होता जाता है।

याद रहे कि जो पदार्थ एक मनुष्य के लिए आराम या विलासिता का पदार्थ है, वही दूसरे के लिए निपुणतादायक भी हो सकता है।

एक ही आदमी के लिए भी पदार्थ की कीमत बढ़ जाने पर, अथवा उस व्यक्ति के निर्धन हो जाने पर, निपुणतादायक पदार्थ आराम या विलासिता का पदार्थ हो सकता है।

अधिकतम तृप्ति—विविध पदार्थों का उपभोग इसलिए किया जाता है कि तृप्ति मिले। अब प्रश्न यह है कि किसी आदमी को अपनी आय किस प्रकार खर्च करनी चाहिए कि उसे अधिक-से अधिक तृप्ति हो। इसके वास्ते उसे चाहिए कि वह विलासिता के पदार्थों का उपभोग छोड़ दे, और आराम के पदार्थों का उपभोग यथा-शक्ति कम करे। कृत्रिम आवश्यकताओं का खर्च मनुष्यों की आदतों और रीति-रस्मों पर निर्भर रहता है, और ये सहसा नहीं बदलतीं। इसलिए इन पर किया जानेवाला खर्च एकदम घटाया नहीं जा सकता; परन्तु धीरे-धीरे प्रयत्न करने से, कुछ समय में, थोड़ी-बहुत सफलता मिल सकती है। इस प्रकार इन मदों से अपने खर्च की बचत करके मनुष्य को उसे निपुणतादायक पदार्थों के उपभोग में लगाना चाहिए। इससे अंत में उसे अधिक तृप्ति होगी। यह बात पहले-पहल ठीक न जँचेगी। बहुधा आदमी जल्दी मिलनेवाली तृप्ति की ओर ध्यान देकर, अपनी आय उसकी प्राप्ति के लिए खर्च करना अच्छा समझते हैं। परन्तु यदि वे दूरदर्शिता से काम लें, और अपने उपभोग में उपर्युक्त परिवर्तन करें, तो उन्हें अपनी भावी आवश्यकताओं के लिए चिन्ता करने का अवसर ही न मिले। ऐसा करने से उनकी कार्यकुशलता, उत्पादन-शक्ति एवं आय बढ़ेगी। फिर, इस बढ़ी हुई आय का भी उसी प्रकार उपभोग करने पर वे अधिक लाभ का, एवं भविष्य में तृप्ति बढ़ाने का, प्रबन्ध कर सकेंगे।

कुछ पदार्थों के उपभोग का विचार; (१) अन्न—अब कुछ पदार्थों के उपभोग का विचार करें। पहले अन्न का विषय लेते हैं। समय-समय पर कुछ लेखकों ने यह हिसाब लगाया है कि

यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न की, कई वर्ष की औसत पैदावार कुल मिला कर कितनी हुई, उसमें से कितना अन्न विदेश गया, और शेष कितना यहाँ रहा। (यदि हिसाब के वर्षों में कुछ अन्न विदेशों से आया है, तो वह जोड़ लिया गया।) इस अन्न का परिमाण प्रति व्यक्ति कितना रहा, यह मालूम किया गया है। इस हिसाब से यह सिद्ध हुआ है कि हमारे बहुत-से आदमी गेहूँ चावल आदि बढ़िया अन्न को खरीदने की शक्ति न रखने के कारण, इनका यथेष्ट उपभोग नहीं कर सकते। बहुत से आदमी घटिया अन्नों का उपभोग करते हैं। ज्वार, बाजरा, मकई, चना आदि घटिया अन्नों की जितनी पैदावार होती है, उसमें से कुछ तो पशुओं—गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि—के लिए खर्च होती ही है। यदि उसका हिसाब न लगाया जाय, तो भी प्रति मनुष्य अन्न के दैनिक उपभोग का औसत यहाँ, योरप अमरीका आदि के निवासियों की अपेक्षा, कम बैठता है।

योरप अमरीका के आदमी मांस खानेवाले हैं, उनके भोजन में औसतन मांस का काफ़ी परिमाण होता है। इसके विपरीत, भारत-वासी प्रायः शाक-भोजी हैं, यहाँ प्रति मनुष्य के भोजन में औसतन मांस का परिमाण बहुत कम होता है। इससे सिद्ध है कि यहाँ घटिया अन्न मिला कर भी सब लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिलता। नयी फसल तैयार होने से पहले, अथवा दुर्भिक्ष के समय का तो यह साधारण अनुभव है कि असंख्य व्यक्ति बेर, महुआ, इमली, गूलर आदि फलों को सुखाकर तथा पीसकर आटे में मिलाकर खाते हैं, या गाजर, शलजम, प्याज, ककड़ी आदि से, अथवा मुलतानी मिट्टी मिली हुई चीज़ों से अपनी भूख मिटाने की चेष्टा करते हैं।

(२) नमक—यह एक जीवन-रक्षक पदार्थ है; भारतवर्ष में यह काफी पैदा होता है, और इसकी उत्पत्ति सहज ही बहुत बढ़ायी भी जा सकती है। तथापि जनता को इसकी कीमत बहुत देनी पड़ती है। इसका कारण इस पदार्थ पर लगनेवाला सरकारी कर है, जो यहाँ

समय समय पर फ़ी-मन आठ आने से, ढाई रुपये मन तक रहा है। यह कर लोगों को बहुत अखरता है, और इसका यहाँ के नेताओं ने हमेशा विरोध किया है। यहाँ आदमी बहुत गरीब हैं। इसलिए इस पदार्थ के जीवन-रक्षक होने पर भी, कीमत बढ़ते ही इसके उपभोग के कम हो जाने की संभावना हो जाती है। अन्य देशों में नमक के उपभोग का प्रति मनुष्य वार्षिक औसत भारत से बहुत अधिक है। इसकी आवश्यकता आदमियों के लिए ही नहीं, पशुओं के लिए भी होती है। परन्तु मँहगी के समय भारत के पशुओं की कौन कहे, आदमियों को भी नमक काफी नहीं मिलता।

घी-दूध—जबकि जीवन-रक्षक पदार्थों—अन्न और नमक—के उपभोग की यह दशा है तो घी-दूध आदि पौष्टिक पदार्थों के उपभोग की कमी का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। भारतवर्ष में गाय भैंसों की संख्या, जनसंख्या की दृष्टि से बहुत कम है। फिर, अधिकतर गाय-भैंस रखनेवाले किसान लोग हैं, जिनकी दरिद्रता सब जानते ही हैं। इनकी गाय भैंसे जो दूध देती हैं, वह या तो पास के नगरों में बिकने चला जाता है, या उसका घी निकाल कर बेचा जाता है। किसानों तथा इनके बच्चों को मट्ठा या छाछ मिल जाय, यही बहुत है; घी-दूध की चीज़ें तो किसी त्योहार या सामाजिक भोज के अवसर पर नसीब होती हैं। भारतवर्ष में एक समय था, जब घर-घर गाय-भैंस, और खासकर गाय होने से किसी को दूध, दही या घी आदि खरीदने की आवश्यकता नहीं होती थी। आज दिन वह है कि दाम देकर भी यह चीज़ें, विशेषतया शहरों में, मिलना कठिन होता है। फिर, दाम देकर खरीदने की सामर्थ्य ही यहाँ प्रतिशत या प्रति सहस्र कितने आदमियों को है!

बच्चों के भरण-पोषण के लिए, रोगियों की चिकित्सा के लिए और बूढ़ों की शक्ति की रक्षा के लिए गाय का दूध अमृत है। पर सर्व साधारण के लिए दूध है कहाँ। नतीजा यह है कि भारतवासियं

की शक्ति का ह्रास हो रहा है और उनकी कार्य-कुशलता बहुत कम होती है। यही नहीं, वे निर्बल और रोगी होने के साथ, संसार के अनेक देशों के आदमियों की अपेक्षा, अल्पायु होते हैं—जल्दी मर जाते हैं।

(४) खाँड़ और गुड़—मांस न खाने वाले ग़रीब मनुष्यों के लिए खाद्य पदार्थों में खाँड़ ही एक विलास-सामग्री है। यह मिठाइयों में बहुत खर्च होती है, जिन्हें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और योरपियन भी जन्मोत्सव, ब्याह-शादी, मृतक-संस्कार अथवा अन्य त्योहारों या दावतों में बहुत खाते हैं। नगरों में बहुत-से विद्यार्थी तथा अन्य पेशेवाले बहुधा मिठाई का नाश्ता करते हैं। सन् १९३२ ई० पूर्व यहाँ विदेशी खाँड़ की खपत बहुत होती थी। उस वर्ष सरकार ने विदेशी खाँड़ पर काफी कर लगा कर स्वदेशी खाँड़ के व्यवसाय को संरक्षण दिया, तब से यहाँ स्वदेशी खाँड़ अधिक तैयार होने लगी। अब यह पहले की अपेक्षा काफ़ी अधिक खपती है। तो भी बहुत से आदमियों को यह महँगी मालूम होती है, इसलिए वे इसका उपभोग नहीं कर सकते। यदि इसके तैयार करने की लागत में कमी हो जाय और इसकी कीमत कम हो जाय तो यहाँ इसकी खपत और भी बढ़ सकती है।

अस्तु, अभी यहाँ जन-साधारण में गुड़ का ही उपभोग अधिक है। जैसा कि अा० भा० ग्राम-उद्योग संघ, द्वारा प्रकाशित सूचना में कहा गया है, स्वास्थ्य की दृष्टि से खाँड़ की अपेक्षा गुड़ कहीं ज्यादा फायदेमन्द है; गुड़ में शरीर के लिए बहुत ज़रूरी कुछ ऐसे पोषक द्रव्य और जीवन-तत्व रहते हैं, जो खाँड़ में बिलकुल नहीं रह जाते। गुड़ जल्दी हजम हो जाता है और अकेला भी पेट का आधार हो सकता है, पर खाँड़ अकेली नहीं खायी जाती। गुड़ खाँड़ से सस्ता भी है।

गुड़ का उद्योग बना रहने से उसका पैसा गाँवों में ही रहेगा,

और शहरों में भी गुड का प्रचार होने से खाँड़ पर खर्च होनेवाला बहुत-सा पैसा गरीब गाँववालों को मिलेगा, जिससे उन्हें बहुत सहायता मिलेगी। जो लोग खाँड़ खाना न छोड़ सकें, उन्हें हाथ की बनी शक्कर को इस्तेमाल करके गरीबों की सहायता करनी चाहिए। सरकारी कृषि-रसायन-विशेषज्ञ रायबहादुर डी० एल० सहस्रबुद्धे का मत है कि हिन्दुस्तान में हर साल लगभग तीस लाख टन गुड़ बनता है; यदि उसकी खाँड़ बनायी जाय तो सिर्फ साढ़े इक्कीस लाख टन ही होगी। कोई कारण नहीं है कि साढ़े आठ लाख टन स्वास्थ्यप्रद बढ़िया खाद्य पदार्थ का इस तरह नुकसान किया जाय। हाँ, गुड़ बहुत शुद्ध और साफ बनाया जाना चाहिए।

(५) कपड़ा—भारतवर्ष में विशेषतया चार प्रकार का कपड़ा इस्तेमाल होता है—(क) विदेशी, (ख) भारतीय मिलों के सूत का, मिलों में ही बुना हुआ (ग) भारतीय मिलों के सूत का, जुलाहों द्वारा हाथ से बुना हुआ, और (घ) हाथ से कते सूत का, हाथ से बुना हुआ।

यह सब मिलाकर भी यहाँ बहुत से आदमियों को आवश्यकतानुसार कपड़ा नहीं मिल पाता। इस बात का जीता-जगता प्रमाण हर घड़ी हमारे सामने रहता है। यह ठीक है कि विवाह-शादी अथवा मेले-तमाशों में कुछ आदमी तरह-तरह के चटकीले-भड़कीले और कुछ बढ़िया वस्त्र पहनकर निकलते हैं, एवं सरकारी नौकर अथवा उच्च श्रेणी के कुछ आदमी कपड़ों में फैशन का बहुत ध्यान रखते हैं, परन्तु इससे वास्तविक दशा को अच्छा समझना भ्रम है। उसे जानने के वास्ते तो हमें साधारण आदमियों को साधारण परिस्थिति में देखना चाहिए। भारतीय जनता का वास्तविक प्रतिनिधि यदि कोई हो सकता है, तो वह किसान है। और, वह क्या पहनता है? गर्मियों के दिनों में वह प्रायः 'अर्द्ध-नग्न' रहता है। एक छोटी-सी, घुटनों से भी ऊपर तक रहनेवाली धोती, और सिर पर एक मामूली पगड़ी होती है।

उसके बच्चे बहुधा नंगे फिरा करते हैं। बड़ी-बड़ी लड़कियाँ भी बहुधा लंगोटी लगाकर अपनी लज्जा निवारण करती हैं। जाड़े के दिनों में बहुत से किसानों या कृषि-श्रमजीवियों के बदन पर केवल एक सूती मिर्ज़ई या अंगरखा होता है, जिसके बदलने का अवसर प्रायः उसके फटजाने पर ही आता है। ऊनी वस्त्रों का तो अभाव ही रहता है। रात्रि में ओढ़ने के लिए एक मामूली रजाई, और बिछाने को पयाल या फूस मिल जाय तो गनीमत है। बहुत-से आदमियों को खेतों पर पहरा देते समय एक फटी-पुरानी चादर में रात काटनी पड़ती है।

यदि किसान और कृषि-श्रमजीवी अपने अवकाश के समय (जो बहुत काफी होता है) कपास ओट लें, और रुई का सूत कातकर कपड़ा बुनवालें तो वह इन्हें मुफ़्त-सरीखा पड़ सकता है। इसमें स्त्रियों के श्रम का भी बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। किसानों के अतिरिक्त, गाँवों तथा नगरों के अन्य आदमियों को भी चाहिए कि यथा-संभव खद्दर का ही इस्तेमाल करें, जिससे कपास पैदा करनेवाले, ओटनेवाले, सूत कातनेवाले और कपड़ा बुननेवाले—इन सब गरीब भाई-बहिनों को सहायता मिले। अस्तु, यदि सर्व-साधारण के लिए कपड़े की समस्या का कुछ हल हो सकता है तो विशेष आशा खद्दर के धंधे की उन्नति से ही हो सकती है। इसके सम्बन्ध में आवश्यक बातें पहले लिखी जा चुकी हैं।

(६) चाय—इस पदार्थ का उपभोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, गत वर्षों में इसमें विलक्षण वृद्धि हुई है। इसका शौक पहले उच्च दर्जे के रहनसहन वाले ही करते थे। धीरे-धीरे युवकों और विद्यार्थियों ने इसे अपना लिया। अब तो साधारण मज़दूरों तक में इसका प्रचार खूब जोर से हो रहा है। इसका कारण बहुत-कुछ चाय की कम्पनियों की व्यापार-कुशलता और विज्ञापनबाज़ी है। जगह-जगह इनके एजन्ट घूमते हैं, और ग्रामोफोन के गीत सुनाकर, सिनेमा आदि के

चित्र दिखाकर, जहाँ-तहाँ दीवारों पर, स्टेशनों और चौराहों पर सुन्दर बढ़िया रंगीन चित्रवाले विज्ञापन चिपकाकर, एवं भिन्न-भिन्न भाषा के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराकर, सर्व-साधारण के मन में यह बात बैठायी जाती है कि चाय हरेक आदमी के लिए प्रत्येक ऋतु में स्वास्थ्य-बर्द्धक है; यह गरमी में ठंढक पहुँचाती है, और सर्दी में बदन गरम रखती है। निर्धन भारतीवासियों को अब गाय का दूध दुर्लभ होता जा रहा है, और वे इस नये हानिकर पदार्थ का शौक करके संतोष प्राप्त करते हैं। अनेक स्थानों में अब यह स्वागत-सत्कार की चीज बन गयी है। कितने ही आदमी तो प्रति दिन कई-कई प्याले उड़ा जाते हैं।

कई डाक्टरों की सम्मति है कि चाय एक हल्का उत्तेजक पदार्थ है, जो मनुष्य की शक्ति को उसी प्रकार बढ़ाता है, जैसे दुर्बल घोड़े की शक्ति को चाबुक या हंटर बढ़ाता है। लोगों को चाहिए कि वे मिथ्या या अत्युक्ति-पूर्ण विज्ञापनों के धोखे में न आवें। यदि उन्हें अपनी शक्ति वास्तव में बढ़ानी है, तो दूध, घी, फल, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन करें, न कि चाय जैसे उत्तेजक पदार्थों का।

(७) **तम्बाकू**—बहुत से लोगों के लिए तम्बाकू एक आवश्यक पदार्थ हो गया है। नवयुवकों अथवा शौकीनों को हुक्का अच्छा नहीं लगता; वे सिगरेट या बीड़ी पीते हैं, यद्यपि उसका धुआँ हुक्के के धुएँ से अधिक हानिकारक है। मिलों में काम करनेवाले तथा अन्य नीचे दर्जे के मजदूर अपने वेतन से चाहे जीवन-रक्षक पदार्थ यथेष्ट मात्रा में न पा सकें, परन्तु इस शौक के लिए तो पैसे निकाल ही लेते हैं। बहुतेरे आदमी तम्बाकू पीते नहीं, तो सूँघते या खाते ही हैं। निदान, बहुत कम आदमी ऐसे मिलेंगे, जो इसका बिलकुल ही व्यवहार नहीं करते। परन्तु बड़े-बड़े वैद्यों और डाक्टरों का यह मत है कि तम्बाकू खाने, पीने या सूँघने से इन विकारों के होने का भय रहता है—मंद-दृष्टि, मुर्च्छा, मुँह में बदबू, कलेजे में जलन, छाती में

कफ बढ़ना, दाँतों की कमजोरी, पित्त की वृद्धि, और शरीर की कमजोरी आदि। संभव है, कुछ आदमी तम्बाकू का सेवन किन्हीं विशेष अवस्थाओं में, कोई खास बीमारी दूर करने के लिए औषधि-रूप में, करते हों, परन्तु इनकी संख्या मुश्किल से एक फी-सदी होगी। अधिकांश आदमी देखा-देखी, शौक के लिए, इसका खुद इस्तेमाल, और यार-दोस्तों में प्रचार करते हैं।

देश के जो आदमी इसका सेवन करते हैं, उनके एक दिन के इस उपभोग का औसत यदि एक पैसा माना जाय, तो पाठक अनुमान कर सकते हैं कि देश का कुल कितने करोड़ रुपया प्रति वर्ष इस मद में खर्च हो जाता है। एक लेखक ने तो हिसाब लगाकर दिखाया है कि इससे प्रति वर्ष कम-से-कम दो अरब रुपये व्यर्थ जाते हैं; स्वास्थ्य-हानि रही अलग। सिगरेट बीड़ी पीनेवालों ने देश में दियासलाई का भी खर्च बेहद बढ़ा दिया है।

(८) मादक द्रव्य—बहुत से आदमी भाँग, गाँजा, चरस और अफीम आदि का सेवन करते हैं। पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से यहाँ शराबखोरी का प्रचार बढ़ता ही जा रहा है। ऊँची श्रेणी के वे मनुष्य, जो विलायती ढङ्ग से रहने लगे हैं, मद्य-पान से परहेज नहीं करते। मजदूर, विशेषतया कल-कारखानों में काम करने वाले, एक-दूसरे की देखादेखी अपनी बहुत सी गाढ़ी कमाई इसमें खर्च कर डालते हैं।

कुछ सज्जन मादक वस्तु-प्रचार-निरोध ('टेंप्रेंस') सभाएँ कायम करके मद्यपान आदि के विरुद्ध लोकमत तैयार कर रहे हैं; परन्तु कई स्थानों में, अधिकारियों का यथेष्ट सहयोग न मिलने और विरोध होने के कारण, उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिलती।

सरकार मादक पदार्थों के उपभोग को नियंत्रित करती है। परन्तु खेद है कि वह इनसे होने वाली आय की वृद्धि को बुरा नहीं समझती। अनेक स्थानों में मादक पदार्थ खुले आम बाजार के बीच

बेचे जाते हैं, कोई तीर्थ-स्थान भी इनसे बचा नहीं। मजदूरों के लिए बहुधा कारखानों और खानों के पास ही शराब की दुकानों की व्यवस्था रहती है। इससे वे अभागे अकसर अपनी साप्ताहिक वेतन लेकर, घर पहुँचने से भी पहले अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे मदिरा देवी की ही भेंट कर देते हैं। सन् १६३७-३६ में, जब अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे, अनेक स्थानों में सरकार मादक-वस्तु-निषेध की नीति अमल में लायी थी। वह नीति व्यापक और स्थायी होनी चाहिए।

भोजन-वस्त्रादि के उपभोग की विधि—उपभोग की वस्तुओं के अतिरिक्त, उपभोग की विधि की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। बहुत से आदमी बढ़िया अन्न तो खाते हैं, पर उनका खाने का तरीका ऐसा है कि उससे अन्न के कई आवश्यक तत्व नष्ट हो जाते हैं, शरीर को उनका यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचता। उदाहरण के लिए आज कल शहरों में ही नहीं, अनेक कस्बों में, और कहीं-कहीं तो गाँवों तक में, आटा पीसने के लिए मिलें लग गयी हैं। और, साधारण श्रेणी के आदमी भी अपने लिए आटा स्वयं न पीस कर, वहाँ पिसवा लाते हैं। मशीन की चक्की की गरमी से आटे के जीवन-तत्व कम हो जाते हैं, और आटा महीन हो जाने से पचने में भारी, तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर, हो जाता है। अतः आटा हाथ की चक्की का ही पिसा हुआ इस्तेमाल करना चाहिए,* तथा उसे छानस या चोकर सहित खाना चाहिए, जिससे वह जल्दी हजम हो सके और शरीर को उसके सब पोषक तत्वों का लाभ मिले। बेसन या मैदा बहुत हानिकर वस्तु है।

चावल भी 'पूरा' खाया जाना चाहिए, जो धान का केवल छिलका

---

* जो आदमी आटा स्वयं पीसेंगे, उनके पिसाई के पैसे बचेंगे, तथा व्यायाम का लाभ होगा। यह व्यायाम विशेषतः स्त्रियों के लिए बहुत उपयोगी है। और, जो व्यक्ति आटा दूसरों से पिसाएँगे, वे पीसनेवालों की सहज ही आर्थिक सहायता कर सकेंगे।

निकाल देने के बाद शेष रहता है। परंतु प्रायः इस चावल को घिस कर इसके ऊपर का कुछ हिस्सा घटा दिया जाता है, जिससे चावल बहुत सफेद हो जाय और उसमें चमक आ जाय। प्रायः मध्य तथा ऊँची श्रेणी के आदमी एवं शौकीन लोग इस 'घटाये हुए' चावल का उपभोग करते हैं; इससे बहुत सा पोषक तत्व निकल जाता है। यह स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं होता। यही बात दालों के विषय में है। आजकल धोई हुई दाल का प्रचार अधिक हो गया है। छिलके-वाली दाल को, जिसे 'काली दाल' कहते हैं, आदमी कम पसंद करते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से छिलके सहित दाल का सेवन करना अधिक उपयोगी है।

तिल या सरसों का तेल ऐसा इस्तेमाल किया जाना चाहिए, जो कोल्हू या घानी में निकाला गया हो। मिल से निकले हुए तेल में मूंगफली आदि का अन्य सस्ता तेल मिला रहता है; तथा, वह अधिक समय तक पड़ा रहने से खराब न हो जाय, इस आशंका से उसमें कुछ रासायनिक द्रव्य डाले जाते हैं। यह स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। घानी या कोल्हू से निकाला हुआ तेल बारीकी से न छाने जाने के कारण उतना साफ नहीं होता, पर उसमें जो चीज रहती है, वह उन दानों का ही अंश होता है, जिनसे तेल निकला है, अतः स्वास्थ्य के वास्ते हानिकर नहीं है।*

तली हुई चीज़ें, अथवा जिनमें खटाई मिर्च मसाले बहुत हों, शरीर के लिए हानिकर होती हैं। इनका इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। शौक या जिह्वा के स्वाद के वास्ते स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाना ठीक नहीं।

वस्त्र के विषय में भी इस प्रकार का विचार रखना आवश्यक है।

* मिल की खल निस्सत्व होती है, पर घानी या कोल्हू की खली पशुओं के लिए बहुत अच्छा पौष्टिक भोजन है; इस प्रकार घानी के तेल से यह भी लाभ है। इसके धंधे से गरीब आदमियों को रोजी तो मिलती ही है

हम खद्दर पहनने के आर्थिक लाभ बता चुके हैं। उसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारे कपड़ों के रंग बहुत चटकीले-भड़कीले न होने चाहिएँ; ये आँखों के लिए हानिकारक हैं। वास्तव में हमारे भोजन-वस्त्र आदि का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, और सात्विक रहनसहन का मानसिक उन्नति से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि 'सादा जीवन और उच्च विचार', एक कहावत ही हो गयी है।

उपभोग के पदार्थों के शुद्ध होने की आवश्यकता—आजकल हम बहुत-सी ऐसी वस्तुओं का उपभोग करते हैं, जो बाजार से मोल लायी जाती हैं; घर पर नहीं बनायी जातीं। शहरों में पूरी-कचौरी और मिठाई आदि का ही कितना खर्च हो जाता है! हमारे उपभोग की कितनी वस्तुएँ तो दूर-दूर के नगरों से ही नहीं, अन्य देशों से आती हैं। और, अनेक आदमी अपने लाभ के लिए बहुत पुरानी, घटिया या मिलावट वाली चीजों को अच्छी, ताजी और बढ़िया कह कर बेचते हैं। मिलावटवाले तेल, और चमकाये हुए चावल का जिक्र पहले किया गया है। अनेक स्थानों में हल्दी, सोंठ, इलायची और दाल आदि को खास तरह से रंग कर बेचा जाता है। कई मिठाइयों में भी रंग डाला जाता है। बाजारों में शुद्ध घी-दूध मिलना तो कठिन ही होता है। गेहूँ के आटे में अन्य घटिया आटा मिला होना साधारण बात है। कहाँ तक गिनावें, करीब-करीब सभी चीजों में मिलावट की आशंका होने लगी है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यों को, किसी वस्तु के उपभोग से जितना लाभ या सुख मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता। बहुत आवश्यकता है कि उपभोक्ता प्रत्येक वस्तु को, खूब जाँच करने के बाद लें; बाजार की चीज़ों का इस्तेमाल ही कम हो। और, कानून से, तथा नागरिकता की शिक्षा द्वारा, उपभोक्ताओं के हित की समुचित व्यवस्था की जाय।

भारतवासियों के मकान—भारतवर्ष में औसतन प्रति पाँच मनुष्यों पीछे एक घर है। कस्बों तथा देहातों में, एवं ब्रिटिश भारत

या देशी रियासतों में यह औसत लगभग समान ही है। यह ठीक है कि बम्बई, कलकत्ता और देहली आदि में कितने ही मकान शाही महलों की भाँति भव्य और विशाल है, कुछ देशी राज्यों की राजधानियों में भी स्वयं राजाओं तथा उनके उच्च कर्मचारियों या कृपापात्रों आदि के मकान साधारण दर्शक को चकित करने वाले हैं। परन्तु सब मिलाकर, ये भारतवर्ष के कुल मकानों में प्रति सहस्र या प्रति लाख कितने हैं! नगरों में कुछ थोड़े-से सौभाग्यशाली व्यक्तियों को छोड़ कर, सर्व-साधारण को मकान की कितनी असुविधा हैं, यह सब जानते हैं। मकानों की संख्या कम, उनका किराया बहुत अधिक, और अधिकतर आदमियों की आय बहुत मामूली! इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से आदमी तंग, और अंधकार वाली गलियों के छोटे-छोटे मकानों में रहते हैं; एक कमरे में कई-कई आदमियों को रहना पड़ता है; अथवा एक ही कमरे में एक से अधिक परिवारों को गुजर करनी पड़ती है। बड़े-बड़े शहरों में मिलों और कारखानों ने श्रमियों के लिए मकानों की अलग ही समस्या उपस्थित कर रखी है। इसमें कुछ सुधार हो रहा है, पर अभी तो वह, दाल में नमक के समान भी नहीं।

अब तनिक देहातों के मकानों की बात लें; भारतवर्ष अधिकांश में देहातों का ही देश है। यहाँ कुछ जमींदारों या महाजनों के घर कुछ बड़े, दुमंजिले और पक्के हैं, मध्य श्रेणी के आदमी भी क्रमशः पक्के मकान बनवा रहे हैं। यह होते हुए भी सर्वसाधारण के मकानों की क्या दशा है। बहुत से मकान कच्चे हैं, जिनकी प्रति वर्ष, बरसात से पहले मरम्मत करने की जरूरत होती है, अन्यथा वे टपकते हैं, और दो-तीन साल बाद तो गिरने ही लगते हैं। अधिकांश घरों में रसोई के लिए अलग कोठरी नहीं होती; पशु भी वहाँ ही रहते हैं। इससे होने वाली असुविधा एवं स्वास्थ्य-हानि स्पष्ट है।

हमारे अनेक बन्धु तो फूस की झोपड़ियों में ही जैसे-तैसे गुज़र

करते हैं, जहाँ धूप, सर्दी और वर्षा सभी सहनी पड़ती है। इन झोपड़ियों के भीतर जाते समय तथा इनसे निकलते हुए आदमियों को सिर नवाना और कमर झुकानी पड़ती है; दुर्भाग्य से इनमें रहनेवालों का सिर समाज में सदैव ही नीचा रहा है। फिर, शहरों और गाँवों में अनेक आदमी ऐसे हैं जिनका अपना कोई घर या झोपड़ी नहीं, जो जहाँ तहाँ फिरते रहते हैं, और रात में सड़कों के किनारे पड़े रह कर अपना समय काटते हैं।

घरों का समान—हमने घरों की स्थिति देख ली, अब यह भी जान लें कि घरों में सामान कैसा रहता है। कुछ राजा-महाराजाओं, या पूँजीपतियों, सेठ-साहूकारों या जमींदारों, ताल्लुकेदारों, वकीलों या उच्च सरकारी नौकरों के घरों के सामान की सूची अवश्य कुछ लम्बी होती है। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, इनकी संख्या कुल भारतीय जनता के हिसाब से बहुत ही कम है। मध्य श्रेणी के भी कुछ आदमियों को अपने घरों में 'फरनिचर' बढ़ाने की फिक्र होती है। बहुत से आधुनिक शिक्षा-प्राप्त युवकों के यहाँ मेज, कुर्सी आदि होना साधारण बात है। रसोई के साधारण बरतनों के अतिरिक्त 'कुकर', 'स्टोव' (जिसमें मिट्टी के तेल की आँच से खाना पकाया जाता है), 'टिफन-केरियर,' (भोजन रखने का बरतन) भी होते हैं। कपड़े रखने के लिए सन्दूकों की जगह बड़े-बड़े ट्रन्क, आलमारी, 'हैंड-बेग' तथा सोने के वास्ते साधारण चारपाइयों की जगह लोहे के स्प्रिंगदार बढ़िया 'कोच' (पलंग) होते हैं। रोशनी के लिए लालटैन या तरह-तरह के लैंपों का प्रचार हो रहा है, और अब तो बिजली की व्यवस्था हो जाने से, उसके 'बल्ब' रखे जाते हैं। मनोरंजन के लिए बड़े-बड़े रंगीन चित्र, तथा ग्रामोफोन या हारमोनियम आदि का उपयोग होता है। फुटकर सामान—आइना, हजामत का सामान, चायदानी, तश्तरी, प्लेट, प्याले या 'कप', कुछ पुस्तकें, पूजा का सामान आदि भी क्रमशः अधिक परिमाण में रहने लगा है। परन्तु अधिकतर

आदमियों के साधन परिमित होते हैं, और उनका बहुतसा सामान ज्यादहतर दिखावट के लिए होता है।

भारतीय जनता का अधिकांश भाग गाँवों में रहनेवाले कृषक हैं। इनके यहाँ खेतों के औजार के अतिरिक्त, साधारण कीमत की कुछ इगीगिनी वस्तुएँ—चक्की, चर्खा, सूप, चारपाई, या चटाई, और कुछ मिट्टी के घड़े होते हैं, जिनमें अनाज या आटा दाल आदि होता है। भोजन पकाने और खाने के लिए ये कुछ मिट्टी के बरतन, अथवा कुछ दशाओं में पीतल आदि के मामूली बरतन रखते हैं। पानी के वास्ते एक लोहे या टीन का डोल या बाल्टी, कुछ मिट्टी के घड़े, और कहीं-कहीं एकाध पीतल की टोकनी या हन्डा होता है। आज-कल कुछ आदमी लैंप या लालटेन का इस्तेमाल करते जा रहे हैं; अब से कुछ समय पहले तक अधिकांश आदमी मिट्टी के दीये से ही काम चलाते थे, जिसमें सरसों का तेल जलता है। अब, कुछ सस्ता होने के कारण, मिट्टी के तेल का प्रचार बढ़ रहा है, जिसका धुआँ बहुत हानिकारक होता है। कितने ही घरों में तो किसी भी प्रकार रोशनी करने का साधन नहीं होता। अनेक आदमियों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि महीने में कुछ पैसों का तेल जला सकें। फिर, देश में इनसे भी तो अधिक निर्धन बन्धु रहते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक ने धनी और सम्पन्न गिने जानेवाले बम्बई कलकत्ता, देहली और इन्दौर आदि नगरों में भव्य विशाल भवनों के बरांडों में, या छज्जों के नीचे प्रातःकाल अनेक ऐसे घर-हीन दरिद्र व्यक्तियों को देखा है, जिनका कुल सामान एक फटे पुराने कपड़े की छोटी-सी पोटली में लिपटा होता है। इस सामान के परिमाण या प्रकार का पाठक स्वयं अनुमान करलें।

सामूहिक उपभोग के पदार्थ—अब सामूहिक रूप से उपभोग किये जाने वाले पदार्थों के विषय में विचार करें। कुछ इने-गिने

बड़े-बड़े शहरों को छोड़ कर, जिनकी कुल जनसंख्या बहुत कम है, हमारे कितने कस्बों या ग्रामों में सरकारी या गैर-सरकारी वाचनालय और पुस्तकालय हैं ! यह ठीक है कि देश में शिक्षा-प्रचार कम है, पर उसके बढ़ाने का भी तो एक उपाय यही है कि स्थान-स्थान पर ये संस्थाएँ कायम की जायँ। अच्छा; उसकी बात रहने दें। उद्यान (पार्क), व्यायाम-शाला, क्रीड़ा-शालाएँ आदि कितने स्थानों में हैं ! शहरों में चल-चित्र और वाक्-पट ('टाकी') बढ़ रहे हैं, पर उनका मुख्य लक्ष्य जनता का द्रव्य खेंचना है। और लीजिए, हमारे सात लाख गाँवों और कस्बों में से कितनों में चिकित्सालय, दवाखाने या औषधालय हैं। यात्रियों को समुचित आश्रय मिलने की व्यवस्था कितने स्थानों में हैं ! यह ठीक है कि विशेषतया तीर्थ-स्थानों में कुछ धर्मशालाएँ बनी हुई हैं; पर इन स्थानों में भी उत्सवों या पर्वों के समय सहस्रों आदमी खुले मैदान में डेरा डाले हुए देखे जाते हैं। इन बातों से इस विषय की कुछ जानकारी हो सकती है कि हम कैसे पदार्थों का, और कहाँ तक व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से उपभोग करते हैं।

युद्ध, और उपभोग का नियंत्रण—नशीली चीजों के नियंत्रण का उल्लेख पहले किया गया है। कभी-कभी, विशेषतया युद्ध-काल में, सरकार कुछ अन्य पदार्थों के उपभोग को भी नियंत्रित करती है। बात यह है कि युद्ध के समय सरकार को सेना और सैनिकों की आवश्यकता का विशेष ध्यान रहता है, और उसके द्वारा कितनी ही चीज़े बहुत अधिक परिमाण में खरीद कर सुरक्षित रख लिये जाने के कारण, जनता के वास्ते उन चीजों का कम रह जाना सम्भव है। यह देख कर धनी लोग या स्टोरिये उन चीजों को अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक संचय करने की सोचते हैं। इसे नियंत्रण करना होता है। नियंत्रण की योजना का उद्देश्य यह होता है कि कोई आदमी उन चीजों का अपनी ज़रूरत से अधिक संग्रह न

करे, और बेजा मुनाफेखोरी न हो। इस योजना के अनुसार पदार्थों के वितरण के लिए साधारण तौर से परिवार को ही इकाई माना जाता है। यह निश्चय कर लिया जाता है कि किस परिवार को कोई पदार्थ कितने परिमाण में मिले। इस हिसाब से भिन्न-भिन्न परिवारों को प्राय: साप्ताहिक 'कूपन' (सर्टीफिकट) दिये जाते हैं, जिसमें उपर्युक्त विषय की सूचना रहती है। 'कूपन' पाने वाला व्यक्ति उसे दिखाकर निर्धारित परिमाण में वह वस्तु निर्दिष्ट दुकान से ले सकता है, जो या तो सरकारी ही होती है, अथवा सरकार द्वारा नियंत्रित। इस व्यवस्था को 'राशनिंग' कहते हैं। भारतवर्ष में, दूसरे महायुद्ध के समय विशेषतया गेहूँ, चावल, चीनी, मिट्टी के तेल मालगाड़ी के डिब्बों और पेट्रोल तथा कागज के लिए यह व्यवस्था की गयी थी। महायुद्ध समाप्त हो जाने पर भी इस समय (फरवरी १९४६) कुछ अंश में यह व्यवस्था जारी है।

राशनिंग की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि माल अच्छा हो, वह दुकानों पर समय पर और निर्धारित मात्रा में पहुँचता रहे, और उसके वितरण की ठीक व्यवस्था हो। भारतवर्ष में अनेक बार दुकानों पर खासकर आटा बहुत खराब मिला, और ग्राहकों को गेहूँ न देकर वह आटा लेने के लिए ही बाध्य किया गया। चीनी तो कई बार दुकानों पर रही ही नहीं। और, मिट्टी के तेल की तो आधी-आधी बोतल के लिए आदमियों को घंटों परेशान होना पड़ा है, और फिर भी कुछ दशाओं में वे निराश होकर घर लौटे हैं। इससे स्पष्ट है कि उचित व्यवस्था न होने से राशनिंग से जितनी सहूलियत नहीं होती, उससे अधिक कठिनाई हो जाती है। भारतवर्ष में यथेष्ट व्यवस्था न होने का एक खास कारण यह था कि यहाँ उस समय राष्ट्रीय सरकार न थी, और सरकारी अधिकारियों ने सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त न किया था।

ग्यारहवाँ अध्याय

रहनसहन और पारिवारिक आय-व्यय



पिछले अध्याय में उपभोग के पदार्थों का विचार हो चुकने पर, अब यहाँ के आदमियों के रहनसहन का अनुमान अच्छी तरह हो सकता है। लोगों के रहनसहन पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है।

रहनसहन पर प्रभाव डालनेवाली बातें—किसी आदमी के रहन-सहन का अनुमान करने, और उसकी दूसरे आदमी के रहनसहन से तुलना करने के वास्ते यह विचार करना होता है कि उनमें से प्रत्येक ने अपने उपभोग के पदार्थों में कितना रुपया व्यय किया। परन्तु इस सम्बन्ध में रुपये की क्रय-शक्ति का भी ख्याल रखना आवश्यक है, कारण कि जुदा-जुदा समय और स्थान में, इसमें अन्तर होता है; एक समय या एक जगह वस्तुएँ, दूसरे समय या स्थान की अपेक्षा महँगी या सस्ती होती हैं। अस्तु, इसके अतिरिक्त कुछ और भी बातों का रहन-सहन पर असर पड़ता है।* किसी आदमी के लखपति अथवा करोड़पति होने पर भी संभव है कि उसका रहनसहन निपुणता-दायक तथा सुख देनेवाला न हो; उसके शरीर की अवस्था, स्वास्थ्य और हाज़मा इतना खराब हो कि वह उपभोग की कई वस्तुओं से कुछ भी आनन्द न प्राप्त कर सके। इसके विपरीत, एक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट परन्तु गरीब मनुष्य उपभोग के साधारण पदार्थों से ही बहुत आनन्द प्राप्त कर सकता है। असल में आनन्द, उपभोग के पदार्थों में नहीं, स्वयं उपभोक्ता की मानसिक तथा शारीरिक स्थिति में होता है। आँख,

* श्री० दुबे और जोशी की 'सम्पत्ति का उपभोग' नाम की पुस्तक से।

कान, त्वचा, आंत इत्यादि में खराबी होने अथवा अन्य रोगों से पीड़ित रहने का मनुष्यों के रहनसहन पर बहुत असर पड़ता है। वे उपभोग की वस्तुओं से पर्याप्त तृप्ति और आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते।

बहुत से आदमी थोड़ी आमदनी से भी बराबर अथवा उससे अधिक आमदनी वाले लोगों की अपेक्षा अच्छी तरह रहते हैं। ५०) रु० मासिक आय वाले एक क्लर्क का रहनसहन ७०) रु० या इससे भी अधिक आय वाले क्लर्क से ऊँचा हो सकता है। इसका कारण यह है कि सब लोगों में उपभोग की वस्तुओं पर विचारपूर्वक द्रव्य खर्च करने की, तथा उन वस्तुओं के ठीक उपभोग की योग्यता एकसी नहीं होती।

भारतवासियों का रहनसहन—प्रत्येक समाज में निर्धन, साधारण, और धनवान, सब प्रकार के आदमी पाये जाते हैं। अभी तक अच्छी तरह से जाँच कर, यह जानने का प्रयत्न बहुत कम लोगों ने किया है कि भारतवर्ष में फी सैकड़ा कितने-कितने आदमियों का रहनसहन कैसा-कैसा है। हाँ, कहीं-कहीं पारिवारिक आय-व्यय के सम्बन्ध में कुछ जाँच अवश्य हुई है। किन्तु उससे संपूर्ण देश के संबंध में कुछ खास ब्योरेवार परिणाम नहीं निकाले जा सकते। इस विषय पर विचार आगे किया जायगा। अस्तु, वर्त्तमान परिस्थिति में हमें अप्रत्यक्ष आधारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। निम्नलिखित कारणों से मालूम होता है कि यहाँ बहुत नीचे दर्जे के रहनसहन वालों की संख्या बहुत अधिक, संभवतः तीन-चौथाई से भी अधिक, है—

(१) आमदनी का बहुत कम होना। पहले कहा जा चुका है कि यहाँ के निवासियों की साधारण दैनिक औसत आय भिन्न-भिन्न लेखकों के अनुसार छः पैसे से तेरह पैसे तक है। यह औसत आय है, अर्थात् इसमें राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों, पूँजीपतियों तथा उँची वेतन पानेवाले सरकारी या गैर-सरकारी पदाधिकारियोंकी आय भी सम्मिलित

है; इसका आशय यह है कि अनेक आदमियों की आय इस औसत आय से भी बहुत कम है। जो पुरुष ऐसी निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं, उनका रहनसहन नीचे दर्जे का होना स्वाभाविक ही है।

(२) हम पहले बता आये हैं कि यहाँ अन्न-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थों के उपभोग की मात्रा बहुत कम है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ अधिकांश भारतवासियों का रहनसहन नीचे दर्जे का है।

(३) यहाँ मृत्यु-संख्या का सालाना औसत फी हजार २५ है, और एक व्यक्ति की औसत आयु केवल २३ वर्ष है। इससे भी अधिकांश जनता का रहनसहन नीचे दर्जे का साबित होता है।

रहनसहन के सम्बन्ध में, सरकारी मत—सरकारी अधिकारी यहाँ के, आराम और विलासिता के सामान की आयात के तुलनात्मक अंक उपस्थित करके कहते हैं कि सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र, भाँति-भाँति के खिलौने आदि बिसातखाने का सामान, साबुन, और औषधियों आदि की आयात के बढ़ते रहने से यह स्पष्ट है कि यहाँ इनका उपभोग अधिक हो रहा है। इसके अतिरिक्त अब बहुत से देहात वाले कच्चे और छप्पर के मकानों को छोड़कर पक्के मकान बनवा रहे हैं। किसानों के लड़के अंगरेजी ढङ्ग की कमीज, कोट तथा जूते पहनने और छतरी लगाने लगे हैं। कितने ही मामूली नौकर या श्रमजीवी भी विशेष अवसरों पर सोडावाटर या बर्फ़ का पानी पीते हैं। चाय और सिगरेट का प्रचार बढता जा रहा है। ऐसी ही बातों से सरकारी अधिकारी यहाँ रहनसहन के दर्जे का ऊँचा होना सिद्ध करते हैं।

जनता का मत—इस के विपरीत, इस देश के निवासी भुक्तभोगी सज्जनों का मत कुछ और ही है। ये सरकारी मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि सुविधा, ऐश आराम तथा भोग-विलास के पदार्थों के सेवन की ओर झुकना मनुष्य-मात्र की प्रकृति है। इसलिए हमारे दरिद्र

बंधु भी कभी-कभी उनमें पैसा लगा देते हैं। यदि ये पदार्थ न होते, तो संभव था कि यह पैसा उन भाइयों के भरण-पोषण में व्यय होता। हम बहुधा देखते हैं कि मजदूर बालों में तेल लगाये, और भिखारियों के लड़के मुँह में सिगरेट दबाये बाजारों में, घूमते हैं। इससे यह अनुमान करना सरासर भूल है कि उनके रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। इसी प्रकार, यदि कुछ मनचले रईसों, नवाबों या राजकुमारों की आवश्यकता के लिए कुछ टीमटाम या शानशौकत के सामान की आयात बढ़ती है, तो इससे भी जन-साधारण को अधिक सुखी होने का सर्टीफिकेट नहीं दिया जा सकता।

सभ्यता की वृद्धि से मनुष्यों की आवश्यकताओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ा करती है। इस बात का अनुभव सभी देशों में—भारत में भी—हो रहा है। बहुधा शक्ति-संपन्न या फैशन-पसन्द आदमी अपने बच्चों के लिए विलायती ढंग के कपड़े सिलवाते, उन्हें बूट जूते पहनाते और विदेशी खिलौने लाकर देते हैं। यदि हो सकता है, तो वे उनके लिए 'ट्राइसिकल' अथवा हाथ से चलायी जाने वाली छोटी बग्घी या नकली मोटर आदि खरीद देते हैं। इन बच्चों में से बहुत से, बड़े होकर, फैशन में कुछ और आगे कदम बढ़ाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी में रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता जान पड़ता है, या यों कहिए कि दिखावटी सुख बढ़ता जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि देश की आंतरिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से यहाँ कुछ लोगों के धन में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, तथा अन्य धनी देशों के रहनसहन का ज्ञान हो जाने के कारण जनता के हृदय में नये विचारों का समावेश हो रहा है। लूटमार का भय हट जाने से अमीर लोगों को अब अपनी अमीरी प्रकट करने का अवसर मिल गया है। इससे भी देश में सुख कुछ बढ़ता नजर आ रहा है। तथापि, सच्चाई यह है कि यहाँ की जनता को न तो पहले के समान भरपेट और पुष्टिकर भोजन मिलता है, और न काफी

कपड़े ही। इस तरह उनका रहनसहन का दर्जा गिर रहा है, यह स्पष्ट है।

रहनसहन के दर्जे के ऊँचे होने की आवश्यकता— यहाँ लोगों के रहनसहन के ऊँचे होने की बहुत आवश्यकता है। हाँ, इसका आशय यह नहीं है कि देश के आदमियों में विलासिता की वस्तुओं, या आराम देने वाले अथवा कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थों का उपभोग बहुत अधिक बढ़ जाय। वरन् इसका अभिप्राय यही है कि पहले जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, फिर निपुणता-दायक पदार्थों का अधिक उपभोग हो। इसके पश्चात् कुछ थोड़े से आराम के पदार्थों का उपभोग हो सकता है।

फी-सदी केवल दस-बीस आदमियों के रहनसहन के दर्जे के ऊँचे होने से ही जनता के रहन-सहन का दर्जा उन्नत नहीं कहा जा सकता। देश के सब आदमियों का जीवन सुखमय होना चाहिए—ऐसे आदमी तो बिलकुल न रहें, जो अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए ही चिन्ता किया करें। तभी यथार्थ में, देश में रहनरहन के दर्जे का ऊँचा होना, माना जा सकता है।

रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने के साधन— रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने के मुख्य चार साधन हैं—इंद्रिय-निग्रह, शिक्षा, यात्रा तथा अनुकरण, और प्रवास। (१) इंद्रिय-निग्रह जितना अधिक होता है, उतनी ही परिवार में जनसंख्या कम होती है, और फल-स्वरूप उपभोग के लिए पदार्थ अधिक परिमाण में मिलते हैं। (२) शिक्षित आदमी दूरदर्शी होते हैं, उनमें संतान-वृद्धि कम होती है। इसके अतिरिक्त उनके निपुण होने से उनकी आय अधिक होती है, इससे उनके रहनसहन का दर्जा ऊँचा होना स्वाभाविक है। आय में वृद्धि न होने की दशा में भी उनका रहनसहन ऊँचे दर्जे का हो सकता है; कारण, वे पदार्थों का ऐसी विधि से उपभोग करते हैं, जो

अधिक निपुणता और आराम देने वाली हो। (३) यात्रा से मनुष्य बाहर का अनुभव प्राप्त करते हैं और अच्छी चीजों का उपभोग करने लगते हैं। हम बहुधा अपने निकटवर्ती व्यक्तियों के रहनसहन को देखकर उनका अनुकरण करने लगते हैं; इस से धीरे-धीरे रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। भारत में यद्यपि रेलों तथा सड़कों की वृद्धि से यात्रा में पहले की अपेक्षा सुविधा हो गयी है, तथापि और भी अधिक होने की गुंजाइश है। (४) प्रवास का भी, रहनसहन के दर्जे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी जगह एक पेशे के आदमी अधिक हों, और उनकी आय कम हो, तो उनके वहाँ से बाहर, दूसरे अच्छे स्थान में जाकर बसने से उनकी आय बढ़ेगी, और उससे रहनसहन का दर्जा ऊँचा होगा।

युद्ध और रहनसहन का दर्जा—रहनसहन का दर्जा बहुत-कुछ लोगों की आय और पदार्थों की कीमत पर निर्भर है। युद्ध में कीमत प्रायः बढ़ती ही है, और उसका जुदा-जुदा श्रेणी के आदमियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है, यह आगे 'कीमत' के अध्याय में बताया जायगा। यहाँ संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूँजीपति, बड़े व्यापारी, उच्च पदाधिकारी आदि जिन व्यक्तियों की आय बहुत अधिक होती है, और कुछ दशाओं में युद्ध-काल में और भी बढ़ जाती है, उन पर बढ़ी हुई कीमत का असर विशेष नहीं होता। उनका रहन-सहन बहुत-कुछ पहले जैसा बना रहता है। मध्य श्रेणी के आदमियों—साधारण उत्पादकों, व्यापारियों या कर्मचारियों आदि—की आय कुछ बढ़ती है तो वह बहुधा ऐसे अनुपात में नहीं बढ़ती, जैसे अनुपात में पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है। इसलिए इनके रहनसहन का दर्जा कुछ गिर ही जाता है। कम और निर्धारित आय वालों के रहनसहन का दर्जा तो और भी अधिक गिर जाता है। हाँ, जिन सैनिकों, श्रमजीवियों, या सरकारी कर्मचारियों को वेतन या भत्ता

है, उनकी दशा अवश्य कुछ सुधर जाती है। पर इनकी कुल संख्या बहुत थोड़ी ही होती है। इस प्रकार युद्ध से अधिकांश जनता का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा नहीं होता, गिरता ही है।

पारिवारिक आय-व्यय के ज्ञान की आवश्यकता—विशेषतया भारतवर्ष में समाज का इकाई परिवार ही है। अतः यहाँ मनुष्यों का रहनसहन जानने के लिए परिवारों के रहनसहन का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसके वास्ते पारिवारिक आय-व्यय का अध्ययन किया जाना चाहिए। इससे आदमियों की गरीबी-अमीरी का ठीक-ठीक पता लगता है। पारिवारिक आय-व्यय में यह विचार किया जाता है कि परिवार में कितने आदमी हैं, कितने कमानेवाले, अथवा कमाने में सहायता करनेवाले हैं, और कितने उनके आश्रित हैं, वे कैसे मकान में रहते हैं, प्रत्येक की उम्र, योग्यता शिक्षा, साधन आदि कितने हैं। परिवार की कुल आय कितनी है, और विविध पदार्थों के उपभोग में कुल खर्च कितना होता है। आय-व्यय का लेखा-जोखा ज्यों-का-त्यों बराबर रहता है, या कुछ बचत होती है, अथवा, कुछ ऋण लेकर काम चलाना होता है।

भारतवर्ष में पारिवारिक आय-व्यय-साहित्य—योरप अमरीका आदि में कितने ही विद्वानों ने अपने-अपने क्षेत्रों की दशा जाँच कर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। भारतवर्ष में गत थोड़े से वर्षों से ही इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुआ है। पंजाब की 'बोर्ड-आफ-इकानामिक एँक्वायरी', और बम्बई तथा संयुक्तप्रान्त की सरकारों के मजदूर-विभाग आदि संस्थाओं ने, तथा जहाँ-तहाँ कुछ सज्जनों ने थोड़ा-बहुत कार्य किया है। विविध कालिजों के विद्यार्थी भी कुछ पारिवारिक आय-व्यय के नक्शे तैयार करते हैं। परन्तु देश के विशाल क्षेत्र और विविध प्रकार की आबादी की दृष्टि से कार्य बहुत कम हुआ है। उत्साही नवयुवकों को अधिक संख्या में यह कार्य करना

चाहिए। इसके बिना देशवासियों की दशा सुधारने में विशेष सफलता न होगी।

भारतवर्ष में इस साहित्य की रचना में एक विशेष बाधा यह है कि इसकी सामग्री यहाँ सहज नहीं मिलती। एक तो यहाँ लिखे-पढ़े आदमी कम हैं। फिर, जो शिक्षित है, वे भी अपने आय-व्यय का हिसाब नियमित रूप से नहीं लिखते। बहुत से आदमी अपनी आय-व्यय के ठीक अंक दूसरों को बताना नहीं चाहते। तथापि उद्योग करने पर कुछ जानकारी प्राप्त हो ही सकती है।

व्यय सम्बन्धी कुछ अनुभव—योरप और अमरीका के बहुत से, भिन्न-भिन्न स्थिति के, गृहस्थों के आय-व्यय सम्बन्धी अध्ययन से निम्नलिखित सिद्धांत निश्चित हुए हैं—(क) जिस अनुपात से एक कुटुम्ब की आय बढ़ती है, पुस्तकों और भोजन का व्यय उसी अनुपात में नहीं बढ़ता ; कम बढ़ता है। (ख) वस्त्र और मकान-भाड़े का खर्च, आमदनी के अनुपात में, बढ़ता है। (ग) शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की सामग्री के व्यय का अनुपात, आमदनी के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है।

डा० एँजिल ने जर्मनी के हजारों परिवारों के आय-व्यय का अनुभव करके निम्नलिखित सिद्धांत निश्चय किये हैं—

(१) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही उसमें निर्वाह के खर्च का अनुपात कम हो जाता है।

(२) वस्त्र पर खर्च का अनुपात स्थिर रहता है।

(३) यही हाल मकान के किराये, रोशनी आदि का होता है।

(४) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही परिवार का सुख के साधनों में, खर्च बढ़ जाता है।

यदि किसी परिवार की मासिक आय ७५) हो, तो डाक्टर एँजिल

के सिद्धांतों के अनुसार, उस परिवार का व्यय इस प्रकार होगा—

भोजन	६२%	अर्थात्	४६॥)
कपड़े	१६%	”	१२)
मकान का किराया	१२%	”	९)
ईंधन और नाई-धोबी	५%	”	३॥।)
सुख के साधन तथा दान आदि	५%	”	३॥।)

पाठकों को स्वयं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के परिवारों में इस बात की जाँच करनी चाहिए कि भारतवर्ष में कहाँ तक डा० एँजिल के उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुसार खर्च होता है।

जाँच के लिए नक्शे का नमूना—पारिवारिक आय-व्यय की जाँच करने के लिए हम एक नक्शे का नमूना, पटना कालिज की चाणक्य-सोसाइटी की वार्षिक-रिपोर्ट के आधार पर, आगे देते हैं—

पारिवारिक आय-व्यय

नाम ... ...

जाति ... ...

पेशा ... ...

गाँव ... ...

ज़िला ... ...

समय (तारीख, महीना और सन्) ... ...

लेखा-परीक्षक ... ...

(क) परिवार	१—आदमियों की संख्या	...
	(अ) काम करनेवाले	...
	(आ) काम न करनेवाले	...
(ख) जायदाद	२—जमीन बीघों में ...	...
	३—जमील का मूल्य ...	...
	४—मकान का मूल्य ...	...
	५—पशुओं का मूल्य ...	...
	६—सब जायदाद का मूल्य	...
(ग) ऋण	७—कुल रकम ...	...
(घ) भोजन	८—दूध का उपभोग ...	...
	९—मांस या मछली का उपभोग	...
	१०—घी का उपभोग ...	...
	११—सब्ज़ी का उपभोग ...	...
	१२—तेल का उपभोग ...	...
	१३—खाँड़ या गुड़ का उपभोग	...

(च) वार्षिक आय	जिन्स में मिली	नकद मिली
१४ जमीन और बगीचे से कुल आय		
१५-पशुओं से कुल आय		
१६-वेतन और दस्तूर		
१७-अन्य आय		
१८-आय का जोड़		
१९-इस वर्ष ऋण लिया		
२०-पूरी आय का योग		

(छ) वार्षिक व्यय	जिन्स में दिया	नकद दिया
२१-अन्न		
२२-सब्जी		
२३-नमक		
२४-मसाले		
२५-दूध		
२६-खाँड या गुड़		
२७-घी (खाने के लिए)		
२८-तेल		
२९-मांस-मछली		
३०-पान तंबाकू आदि		
३१-मादक द्रव्य		
३२-तेल (रोशनी का)		
३३-ईंधन		
३४-बर्तन		
३५-दान		
३६-दवाई		
३७-अतिथि-सत्कार		
३८-विवाह या श्राद्धादि		
३९-पूजा आदि		
४०-तीर्थ-यात्रा और सफर		
४१-शिक्षा		
४२-ऋण पर सूद		
४३-मकान का किराया		
४४-मकान की मरम्मत		

४५-कपड़ा		
४६-नाई		
४७-धोबी		
४८-पुजारी		
४६-घरू नौकर		
५०-लगान और मालगुजारी		
५१-बीज, औज़ार और बैल		
५२-लुहार		
५३-बढ़ई		
५४-खेती में काम करनेवाले		
५५-खेती-संबंधी अन्य कार्य		
५६-चौधरी टैक्स		
५७-पशुओं के लिए रसद		
५८-विविध (भेंट आदि सहित)		
५६-खर्च का जोड़		
६०-इस वर्ष ऋण चुकाया		
६१-सारे खर्च का जोड़		
(ज) बचत या कमी		
६२-बचत		
६३-कमी		

नक्शे का कुछ स्पष्टीकरण—ऐसा नक्शा भरने के लिए कुछ बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। नक्शे के आरम्भ में संक्षिप्त प्रस्तावना देनी चाहिए, जिसमें यह भी बतलाना चाहिए कि उसकी सामग्री किस प्रकार एकत्र की गयी है, और जिस श्रेणी के परिवार का वह आय-व्यय है, उसका नमूना होने का काम वह नक्शा कहाँ तक दे सकता है। इस सम्बन्ध में आगे लिखी बातें स्मरण रखना आवश्यक है।

(क) परिवार—परिवार के हर एक सदस्य का नाम, आयु, रिश्तेदारी, विवाह, स्वास्थ्य और पेशा लिखना चाहिए। कमानेवाले सदस्यों के बारे में लिखना चाहिए कि उन्होंने कितने हफ्ते, किस दर पर, काम किया। अंत में उसी गाँव के अन्य परिवारों से उस परिवार की तुलना होनी चाहिए। इनके सिवा जो अन्य बातें लिखने योग्य हों, उन्हें भी लिखना चाहिए।

(ख) जायदाद—जमीन किस प्रकार ली हुई है—मौरूसी, गैर-मौरूसी, या शिक्मी-दर-शिक्मी? मकान का ब्योरा तथा स्थिति; कमरों की संख्या और आकार ; पशु, फलवाले पेड़, औजार, जेवर, कपड़े नकद रुपया, अनाज का भंडार।

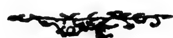
(ग) ऋण—कब और कैसे हुआ? उसके चुकाये जाने की सम्भावना।

(घ) भोजन—किस किस्म के अन्न का उपभोग हुआ (रबी या खरीफ)? कितनी बार भोजन किया जाता है, और हर एक व्यक्ति लगभग कितना-कितना भोजन करता है? नक्शे के ८ से १३ तक की मदों की व्याख्या। किस पदार्थ का उपभोग प्रति दिन होता है, और किसका कभी-कभी, या कभी नहीं।

(च) आय—बजट के हर एक मद की व्याख्या (यह बताते हुए कि ये अंक किस हिसाब से आये)।

(छ) **व्यय**—आय की भाँति, व्यय की मदों की व्याख्या (यह बताते हुए कि कोई व्यय असाधारण तो नहीं है)। परिवार के हरेक आदमी और नौकरों के कपड़ों की विशेष बातें।

(ज) **बचत या कमी**—अगर साल में कुछ बचत हुई हो, तो उसका कैसे उपयोग किया गया ? और, अगर साल में कुछ कमी हुई हो, तो उसकी पूर्ति किस तरह की गयी ?



बारहवाँ अध्याय

उपभोग का विवेचन

यह ठीक है कि सब धन उपभोग या खर्च किये जाने के लिए ही है। परन्तु उसका उचित समय में और उचित रीति से उपभोग किया जाता है, तभी वह यथेष्ट लाभ पहुँचा सकता है। उपभोग में केवल व्यक्तिगत दृष्टि न रखकर सामाजिक विचार भी करना चाहिए; कारण, प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग है। उपभोग के दो भेद हैं—सदुपभोग और दुरुपभोग।

सदुपभोग—सदुपभोग दो प्रकार कहा जा सकता है:—साधारण, और आदर्श या ऊँचे दर्जे का। साधारण सदुपभोग वह है, जिसमें उपभोक्ता को भी लाभ हो, और समाज या देश को भी। उदाहरण के लिए यदि हम स्वदेश का बना कपड़ा मोल लें तो उसमें हमें तो लाभ होगा ही, साथ ही उससे हमारे देश के कारीगरों को लाभ पहुँचेगा; अर्थात् ऐसे लोगों का हित होगा, जो आलसी नहीं हैं, वरन् अपनी जीविका देशी उद्योग तथा व्यापार की उन्नति के कार्य से प्राप्त करते हैं। ऊँचे दर्जे का या आदर्श सदुपभोग वह है, जिसमें उपभोक्ता अपनी हानि करते हुए भी समाज और देश की भलाई करे। देशोन्नति चाहनेवाले का कर्त्तव्य है कि जिस उपभोग से वे अपनी हानि की बात स्पष्ट जानते

हैं, उसे भी, जब वह देश के लिए कल्याणकारी हो, यथा-संभव करते रहें। हमें चाहिए कि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कृषि और उद्योग-धंधों आदि की शिक्षा-संस्थाओं की सहायता करें, रात्रि-पाठशालाएँ स्थापित करें, सहकारी-समितियाँ संगठित करें। यहाँ साहित्य-वृद्धि की भी बड़ी आवश्यकता है। धनी-मानी सज्जनों को चाहिए कि योग्य लेखकों, संपादकों और कवियों के प्रति उदारता के भाव रखें। इसी तरह अनाथालय, स्कूल, वाचनालय, व्यायाम-शाला आदि में द्रव्य लगाना, देश-काल और पात्र का विचार करके दानधर्म करना धन का आदर्श सदुपभोग है।

दुरुपभोग—अब दुरुपभोग की बात लेते हैं। दुर्भाग्य से प्रत्येक देश में दुरुपभोग काफी होता है, भारतवर्ष में भी इसकी कमी नहीं। कुछ दुरुपभोग ऐसा होता है, जिसमें उपभोक्ता की नियत या उद्देश्य बुरा नहीं होता। वह अपने अज्ञान, अल्पज्ञता, अथवा लाचारी से अपनी तथा समाज की, दोनों की हानि करता है। इसके उदाहरण मादक पदार्थों का सेवन, बिना अच्छी तरह सोचे समझे किया हुआ दान-धर्म, कुरीतियों में होनेवाला फजूलखर्च, झूठी मुकदमेबाजी, संपत्ति को गाड़कर रखना, जेवर बनवाना आदि है। एक गरीब आदमी को कपड़े की सख्त जरूरत है, वह स्वदेशी कपड़े को, कुछ मँहगा होने की वजह से खरीदने में असमर्थ है, इसलिए वह सस्ता विदेशी वस्त्र मोल लेकर उसका उपभोग करता है, तो उसका यह कार्य दुरुपभोग की श्रेणी में ही समझा जायगा, यद्यपि वह इसे करने के लिए विवश है।

दूसरा दुरुपभोग वह है, जिसे उपभोक्ता अपने लाभ, सुविधा या शौकीनी के लिए करता है, किन्तु उससे समाज को हानि होती है। उदाहरण के लिए एक आदमी समर्थ होते हुए भी विदेशी वस्त्र इसलिए खरीदता है कि वह वस्त्र स्वदेशी कपड़े की अपेक्षा कुछ सस्ता है। बहुत से शौकीन आदमी विलासिता की विदेशी वस्तुओं का सेवन करते हैं। कितने ही आदमी सड़क के बीच में कूड़ा या मैली वस्तुएँ

फैंक देते हैं, नालियों में टट्टी फिरते हैं, नल से पानी लेकर उसे खुला ही छोड़ देते हैं, नदी या तालाब में स्नान करते हुए पानी का कुल्ला करते हैं, रेल के डिब्बे में यात्रा करते हुए वहाँ ही थूकते रहते हैं। ये लोग अपनी जरा सी सुविधा के लिए सडक, नाली, नदी, तालाब या रेल के डिब्बे आदि का दुरुपयोग करते हैं, जिससे समाज को बहुत हानि पहुँचती है। कुछ आदमी अपने किसी मित्र से, या प्राइवेट पुस्तकालय से कोई पुस्तक यह कहकर माँग ले जाते हैं कि जरा सा काम है, जल्दी ही लौटा देंगे। यह पुस्तक उनके विश्वास पर दे दी जाती है, इसके संबंध में कोई लिखा-पढ़ी नहीं की जाती। पर पुस्तक बहुत समय तक लौटायी नहीं जाती, अंत में देनेवाले को उसकी याद नहीं रहती और वह सदैव के लिए उससे वंचित होजाता है। कई बार ऐसी घटनाएँ सामने आयी हैं कि किसी व्यक्ति ने किसी पुस्तक या पत्र-पत्रिका का कोई अंश या चित्र फाड़कर अपने पास रख लिया। इसका परिणाम यह होता है कि पुस्तकें आदि दिये जाने के नियम भविष्य में अधिक कठोर बनाये जाते हैं, और सबकी असुविधा बढ़ जाती है।

इन दोषों को निवारण करने के लिए नागरिक शिक्षा के प्रचार को अत्यन्त आवश्यकता है। यह बात हरेक आदमी के दिल में बैठायी जानी चाहिए कि उसका अन्य नागरिकों तथा समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व है, और उसे किस प्रकार उसका पालन करना चाहिए। दुरुपभोग की कुछ बातों पर आगे विशेष विचार किया जाता है।

मादक पदार्थों का उपभोग—हमारे बहुत से आदमी तंबाकू, चाय, भाँग, गाँजा, शराब आदि नशीली चीजें खरीदते हैं, इससे केवल ऐसे लोगों को लाभ होता है, जो उन हानिकारक वस्तुओं को पैदा करते हैं। इन चीजों के उपभोग से हमारे अनेक आदमियों की कार्यक्षमता को धक्का पहुँचता है। इस प्रकार देश की द्रव्योत्पादक

शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जाता है। इस लिए मादक वस्तुओं का उपभोग रोकने की बड़ी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

विदेशी वस्तुओं का उपभोग—भारतवासी बहुत सी विदेशी चीज़ें बरतते हैं। इन में खर्च किया गया रुपया दूसरे देशों को जाता है, इससे विदेशी व्यापारियों को ही लाभ पहुँचता है, हमारे देश की उत्पादक शक्ति में कुछ वृद्धि नहीं होती। बहुत सी विलायती चीज़ें चटकीली-भड़कीली और कमजोर होती हैं, जल्दी-जल्दी टूटती-फूटती हैं, और हमें उनके लिए बारबार पैसा खर्च करना पड़ता है। फिर, हमारे अनेक मंदिरों में देवी देवताओं की मूर्ती पर विदेशी पोशाक हो, और महंत, पंडे-पुजारी आदि 'राम-राम' या 'राधेश्याम' आदि की छापवाली विलायती मलमल का उपभोग करें, यह बहुत अफसोस की बात है। विदेशी वस्तुओं का भारत में इतना प्रचार हो गया है कि ऐसा कोई बिरला ही घर मिलेगा, जहाँ इन का उपभोग न हो। और तो और, स्त्रियों का सौभाग्यचिह्न चूड़ियाँ, और द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य) का यज्ञोपवीत भी अब विदेशी होने लग गया है—विदेशी सूत का बनाया हुआ यज्ञोपवीत स्वदेशी नहीं कहा जा सकता।

विदेशी वस्तुओं के व्यवहार की भाँति विदेशी ढंग का पहनावा भी देश के लिए बहुत अहितकर है। स्वदेशी पहनावे में थोड़े से ही वस्त्रों की ज़रूरत होती है। एक बार में कुर्ता, एक धोती, एक सादी टोपी या पगड़ी, और एक जूतों की जोड़ी से काम चल जाता है, परन्तु विदेशी पहनावे में पूरा 'सूट' चाहिए; कमीज, वास्कट, कोट, फेल्ट-कैप, बनियाइन, मोज़े, पतलून तथा बूट आदि सभी चीजें चाहिएँ। यह फैशन निर्धन भारत को अधिकाधिक दरिद्र और कष्ट-पीड़ित करने में कितना सहायक हो रहा है! हमारे शरीर कैसे सुकुमार हो गये हैं; बहुतों को खद्दर के कपड़े काँटों की तरह चुभते हैं। स्वदेश-प्रेमी बंधुओं को अपनी इस दशा का शीघ्र सुधार करना चाहिए।

विदेशी वस्तुएँ सस्ती होती हैं ? भ्रम-निवारण— विदेशी वस्तुओं के उपभोक्ता कह सकते हैं कि विदेशी वस्तु सस्ती हैं, उनकी जगह हम मँहगी स्वदेशी वस्तुओं को क्यों लें। इस सम्बन्ध में, श्री० गुलजारीलालजी नन्दा एम० ए० ने जो बातें विशेषतया खादी के विषय को लेकर कही हैं, वे अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी विचारणीय हैं। आपने 'नवज्योति' में लिखा था कि खादी को आश्रय देने की इच्छा रखनेवाले खरीददार पूछेंगे कि 'हम कपड़े पर इतना अधिक पैसा क्यों खर्च करें ? मान लीजिए जहाँ हमारा १००) में काम चल सकता है वहाँ हम दो सौ रुपये क्यों खर्च करें ? दो सौ रुपये से तो हम (विदेशी) वस्त्र के अतिरिक्त दूसरी चीजें भी खरीद सकते हैं।'

इसका उत्तर बिलकुल सीधा है। सुसंगठित समाज को इस बात का ख्याल रखना होगा कि वह काम देकर अथवा अन्य तरह से उन तमाम लोगों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करे, जो उसके कानूनों तथा रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। कुछ देशों में जहाँ काफी काम नहीं होता, अन्य साधनों द्वारा प्राप्त राष्ट्र की आय उन लोगों में, बेकार-वृत्तियों अथवा अन्य सहायता के रूप में, बाँटी जाती हैं, जिनको काम नहीं दिया जा सकता। समाज में कुछ लोगों को काम और आजीविका मिल जाना और कुछ को न मिलना, बहुधा केवल संयोग की बात होती है; या, उसकी वजह यह भी हो सकती है कि उस समाज के नियम और संस्थाओं का संचालन दोष-पूर्ण हो। बेकारों की सहायता के लिए प्रायः राज्य की आय में से ही पैसा जाता है, जो सर्वसाधारण जनता की व्यक्तिगत आय से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष करों के रूप में एकत्र किया जाता है। परोक्ष करों से उन चीजों की कीमतें बढ़ जाती हैं, जिन पर वे कर लगाये जाते हैं। जहाँ तक वस्तुओं और सेवा-साधनों से होनेवाली आय का सम्बन्ध है, खरीददार की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इसमें, और खादी के द्वारा हम जो अधिक कीमत देते हैं उसमें, बहुत महत्वपूर्ण अन्तर है।

कर एकत्र करने, और उनको बेकारों की सहायता के लिए खर्च करने की व्यवस्था करने में आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा अनुत्पादक कामों में, और बड़ी-बड़ी तनख्वाहों में बर्बाद हो जाता है। इसके विपरीत, स्वेच्छापूर्वक खादी को अंगीकार करके ग्राहक जो त्याग करते हैं, उससे गरीबों और जरूरतमंदों को सीधी और तुरन्त मदद मिल जाती है, और इस तरह राज्य के द्वारा दी गयी सहायता की अपेक्षा हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक अच्छी तरह होती है। जो लोग साधारण गणित जानते हैं, वे तत्काल यह समझ जायँगे कि इस तरीके से जिसका कि खादी एक उदाहरण है, गरीबों को खास हद तक और उचित परिमाण में सहायता पहुँचाने में, उद्योग-प्रधान देशों के परोक्ष तरीकों की अपेक्षा, फी-आदमी कम ही खर्च पड़ता है। उस हद तक राष्ट्र-हित की दृष्टि से खादी अपनाने योग्य है।

दूसरा, और इससे भी अधिक महत्व पूर्ण भेद इन दोनों तरीकों में यह है कि विदेशों में बेकारों की सहायता करने के जो ढङ्ग प्रचलित हैं, उनमें बेकारों को कोई उपयोगी काम देने की योजना नहीं है। खादी उपयोगी काम और आजीविका दोनों देती है। इसका नतीजा यह होता है कि पहले तरीके से बेकार हमेशा के लिए निकम्मे बन जाते हैं, उनकी साख घट जाती है, कौशल नष्ट हो जाता है, और काम करने की इतनी क्षमता बेकार जाती है। इसके विपरीत, खादी द्वारा कौशल तथा योग्यता दोनों की रक्षा तथा विकास होता है। यदि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय तो उसमें लोगों की काम करने की योग्यता को सबसे अधिक महत्व दिया जायगा। खादी के आर्थिक महत्व को हम वास्तविक रूप से तभी समझ सकेंगे जब हम यह ख्याल करेंगे कि राष्ट्र की सम्पत्ति पर खादी का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है।

बिना सोचे-विचारे दान-धर्म—हम हट्टे-कट्टे भिखारियों या बनावटी साधुओं को जो दान-पुण्य करते हैं, उससे ऐसे मनुष्यों को

लाभ पहुँचता है, जो देशी व्यापार तथा उद्योग धन्धों की कुछ सहायता नहीं करते, और जिनका जीवन।देश के लिए किसी प्रकार लाभकारी नहीं कहा जा सकता। यदि हम उन्हें मुफ्त में भोजन-वस्त्र या पैसा न दें, तो वे अपनी गुजर करने के लिए कुछ उत्पादक कार्य अवश्य करें। हमें अपने दान आदि से उन्हें आलसी और निरुद्यमी न बनाना चाहिए। अनाथ या अपाहिजों को सहायता पहुँचाना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है। जो साधु-संन्यासी घूम-फिरकर देश में धर्म अर्थात् नीति की बातों का प्रचार करें, वे भी गृहस्थों की उदारता के अधिकारी हैं। परन्तु आलसी, निखट्टू आदमी केवल गेरुए कपड़े पहन लेने से, दान धर्म तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी कदापि नहीं समझे जाने चाहिएँ।

देवालयों और मंदिरों में भी व्यर्थ का खर्च न होना चाहिए। अनेक स्थानों में प्रतिमा या मूर्ति के शृङ्गार और आभूषणों में सहस्रों रुपया लगा दिया गया है। बहुत से नगर—विशेषतया काशी, मथुरा, बृन्दावन, हरिद्वार आदि तीर्थ-स्थान—ऐसे हैं, जहाँ एक-एक दो-दो मंदिरों से काम चल सकता था; पर धनी लोगों ने अपने धर्म-प्रेम को दिखाने के लिए अलग-अलग मंदिर बनवा डाले। अब तो नये मंदिरों का बनना बन्द हो जाना चाहिए। फिर, यह कदापि उचित नहीं है कि शिवालयों या देव-मंदिरों के साथ कुपढ़ या दुराचारी लोगों को आश्रय दिया जाय, और देश की गाढ़ी कमाई का जो पैसा आरती या पुजापे (चढ़ावे) में आये, उससे मुफ़्तख़ोरों की संख्या बढ़ायी जाय। आवश्यकता है कि इस सम्पत्ति का अनाथालय, अस्पताल, विद्यालयों आदि की उन्नति और वृद्धि के लिए उपयोग किया जाय। भिन्न-भिन्न स्थानों के मठों ('अखाड़ों') की बेकार पड़ी हुई और निरन्तर बढ़ती हुई सम्पत्ति के विषय में भी यही कहना है।

रीति-रस्म आदि में अपव्यय—यहाँ अधिकांश जनता साधारणतः बहुत सादगी-पसन्द और निर्धन है, तो भी कुछ बातों में वह फजूलखर्च भी करती है; उदाहरण के लिए शादी और गमी का

खर्च, तथा आभूषण आदि। हमारे बन्धु बहुत सा धन केवल इसलिए खर्च कर डालते हैं कि उसका रिवाज है। वे खर्च की उपयोगिता अथवा अपनी स्थिति का विचार नहीं करते। आजकल समाज-सुधार का आंदोलन प्रायः प्रत्येक जाति में हो रहा है, परन्तु पुराने विचारों के आदमी सुधारकों की बातें यथा-शक्ति चलने नहीं देते। घरों में बहुत-सा अपव्यय हमारी असावधानी से भी होता है। किसी समय दस मेहमान घर आनेवाले हुए तो उनके लिए भोजन तैयार करते समय परिमाण का ठीक ध्यान न रखा, इतना भोजन बना डाला जो पन्द्रह-बीस के लिए काफी हो। कहीं-कहीं भोजन इतना परोसा जाता है कि बहुत जूठन पड़ती है; इस प्रकार खाने का सामान खराब होता है। कुछ आदमी, खासकर नौकर, चीजों को इस तरह इस्तेमाल करते हैं कि जो चीज तीन-चार साल चलनेवाली हो, वह एक-दो साल में ही रद्दी हो जाती है। यह सब अपव्यय बन्द किये जाने की अत्यन्त आवश्यकता है।*

मुकदमेबाजी—भारतवर्ष में किसानों और जमींदारों को प्रायः जमीन के, और व्यापारी तथा व्यवसाइयों को रुपये सम्बन्धी, मुकदमे बहुत खराब करते हैं। दत्तक या गोद के मामलों में भी बहुत मुकदमे-बाजी होती है। गोद लेने में आदमियों का हेतु यह रहता है कि मरने के बाद भी उनके खानदान का नाम चले। वे भूल जाते हैं कि राम, कृष्ण, बुद्ध, दयानन्द आदि महापुरुषों के नाम, चिरकाल के पश्चात् भी हमारी ज़बान पर चढ़े हुए हैं; यह उनके पुत्र-पौत्रों के कारण नहीं, वरन् स्वयं उनके शुभ कार्यों एवं दया, धर्म, त्याग, वीरता और अन्य ऐसे ही सद्गुणों के कारण है। जिन आदमियों को बिना सन्तान मरने की आशंका हो, वे अपने परिवार के गुजारे की व्यवस्था करके, अपनी शेष सम्पत्ति ऐसे राष्ट्रीय कार्यों में लगाने

* धन को गाड़कर रखना भी एक प्रकार धन का अपव्यय अथवा दुरुपभोग है।

की वसीयत कर दें, जिनसे देश में शिक्षा तथा उद्योग-धंधों की उन्नति और वृद्धि हो, अनाथों की रक्षा हो, रोगियों का इलाज हो, इत्यादि। इस प्रकार ही उनकी कीर्ति अधिक स्थाई होगी, और मातृभूमि का भी कल्याण होगा।

केवल बृटिश भारत में दीवानी मुकदमे प्रति वर्ष औसतन २० लाख होते है। सन् १६३६ में यह संख्या १६ लाख थी, इनकी मालियत ४० करोड़ रुपये थी। मुकदमेबाजी में कितना रुपया नष्ट होता है! 'व्यय' नाम की पुस्तक में बनारस के एक लक्खी-चतबूरे का उदाहरण दिया गया है। उस चबूतरे के नामकरण का कारण यह है कि उसके लिए दो आदमियों ने मुकदमेबाजी करके अदालती काम में एक-एक लाख रुपए के लगभग खर्च कर डाला! यह चबूतरा सिर्फ ५-६ गज लम्बा और एक गज चौड़ा है, और किसी अच्छे मौके पर भी नहीं है। मुकदमेबाजी में नष्ट होनेवाले अपार धन को राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा बचाया जाना चाहिए।

दुरुपभोग और आदतें—ऊपर दुरुपभोग के थोड़े से विषयों पर विचार किया गया है, दूसरी बातों का विचार पाठक स्वयं कर लें। बहुत से दुरुपभोग का कारण, मनुष्यों की आदतें होती हैं। जब दूसरे की देखा-देखी, या गलती से एक बार आदमी दुरुपभोग करने लग जाता है, तो कुछ समय बाद उसकी आदत ही पड़ जाती है; फिर, ज्यों-ज्यों समय बीतता है, वह आदत पक्की हो जाती है, और उसका छूटना कठिन हो जाता है। हरेक आदमी को चाहिए कि बुरी आदतों का शिकार होने से बचे, आरम्भ से ही अच्छी संगति में रहे, और सात्विक साहित्य का अवलोकन करे।

ऋण लेने या चीज़ें उधार लेने की आदत दुरुपभोग में बहुत सहायक होती हैं। कितने ही आदमी, खर्च करते समय अपनी स्थिति या हैसियत का विचार नहीं करते; ज़रा सा कारण उपस्थित होने पर वे अपनी शक्ति से बाहर खर्च कर डालते हैं इसके लिए उन्हें ऋण

लेना होता है। और, ऋण जहाँ एक बार लिया, फिर उसे लेने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। बात-बात में ऋण लिया जाता है, उसकी रकम तथा ब्याज बढ़ता रहता है। हमारे किसानों और मजदूरों को अपनी आमदनी में से खासी रकम ब्याज-ही-ब्याज में चुका देनी होती है।

बहुत से बाबू लोग अच्छी आमदनीवाले होने पर भी ऋणी रहते हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के बेचनेवालों से उधार का हिसाब रखते हैं; जब जिस चीज की जरूरत मालूम हुई, लेते रहते हैं। महीना समाप्त होने पर जब उन्हें तनख्वाह मिलती है, तो उसका बहुत सा हिस्सा विविध बिलों के चुकाने में झटपट ठिकाने लग जाता है, और, बाबू साहब पन्द्र-बीस तारीख से ही अगले महीने की तनख्वाह की राह देखने लगते हैं। संकट-काल के लिए कुछ जमा रहने का फिर जिक्र ही क्या! हरेक गृहस्थ को ऐसी आदत डालनी चाहिए कि यथा-सम्भव कोई वस्तु उधार न ली जाय। इससे उसको अपनी आवश्यकता पर अच्छी तरह विचार करने का अवसर मिलेगा; सम्भव है, उसे कुछ आवश्यकताओं को नियंत्रित करने में सफलता मिल जाय। ऐसा करने से बहुत सा अपव्यय एवं दुरुपभोग बच सकता है।

आवश्यकताओं का नियंत्रण—भौतिक-सभ्यता-वादियों का विचार है कि हमारी विविध आवश्यकताओं की वृद्धि होती रहनी चाहिए, और उनकी पूर्ति का प्रयत्न करने में ही आनन्द और सुख है। परन्तु ऐसा करने से मनुष्य कभी संतुष्ट या सुखी नहीं रह सकता। हर दम उसे अपनी नित्य बढ़नेवाली नयी-नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकाधिक धन की जरूरत रहती है, उसकी असंतुष्टता बढ़ती जाती है, और वह दिन-रात धन की चिन्ता में रहा करता है। आज-दिन अनेक आदमी लखपति होते हुए भी दुःख में डूबे रहते हैं। इसका उपाय यह है कि आर्थिक आवश्यकताओं का नियंत्रण किया जाय। पहले बताया जा चुका है कि उपभोग सिर्फ जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों का, तथा कुछ अंश में आराम की चीजों का किया जाना चाहिए; कृत्रिम

आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली चीजों का उपभोग यथा-सम्भव कम करना चाहिए, और विलासिता की वस्तुओं के उपभोग को तो बन्द ही करना उचित है।

उपभोग का आदर्श—इस प्रकार कृत्रिम या विलासिता की आवश्यकताओं का नियंत्रण करने से मनुष्यों के पास अपनी आय में से कुछ बचत हो सकती है, और, उस बचत का उपभोग सेवा, परोपकार, और राष्ट्र-हित आदि में किया जा सकता है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है। निस्संदेह आदमी को अपनी आवश्यकताओं के नियन्त्रण में पहले-पहल कुछ कष्ट मालूम होता है, परन्तु जब वह इस प्रकार बचाये हुए धन से सेवा परोपकार सम्बन्धी अपनी नयी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, तो उसे अनोखा आनन्द मिलता है। भोग-विलास का सुख तो निम्न कोटि का तथा क्षणिक है।

इस सम्बन्ध में भारतीय आदर्श का ध्यान रखना अत्युपयोगी है। हमारे शास्त्रकारों ने कल्पना-जगत् में रहते हुए यह आदेश नहीं कर डाला कि सभी आवश्यकताओं को रोको, खाना-पीना बन्द कर दो, और शरीर को सुखा डालो। न उन्होंने व्यक्तिगत सुखवाद वा स्वार्थ-वाद की ही पुष्टि की है, जिसका मूल मंत्र यह है कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, अपने सुख से प्रयोजन है, दूसरों की चिन्ता न की जाय। समाज-हित का ध्यान रखता हुआ, हरेक धर्म कहता है कि तुम अपनी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपभोग करो, खाने-पीने की मनाही नहीं है, पर इसमें मर्यादा का ध्यान रखो, विलासी न बनो, दूसरों के हित की अवहेलना न करो, किसी दूसरे के हिस्से की वस्तु का उपभोग न कर डालो; समाज में सबको सुखी बनाने का प्रयत्न करते हुए तुम भी सुखी रहो। यही संक्षेप में उपभोग का आदर्श है। आशा है, पाठक इस पर भली-भाँति विचार करने तथा इसके अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करेंगे।

चौथा भाग

मुद्रा और बैंक

तेरहवाँ अध्याय

मुद्रा; रुपया-पैसा

धन की उत्पत्ति और उपभोग का वर्णन किया जा चुका है। अब धन के विनिमय का वर्णन करना है। पहले मुद्रा और बैंकों के संबंध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है; क्योंकि आधुनिक संसार में पदार्थों का क्रय-विक्रय (खरीदना बेचना) तथा व्यापार आदि सब कार्य इन्हीं के द्वारा होते हैं।

विनिमय का माध्यम—पहले बताया जा चुका है कि पदार्थों का अदल-बदल किये बिना आदमियों का काम नहीं चल सकता। प्राचीन काल में दो पदार्थों के अदल-बदल के लिए कोई तीसरी वस्तु माध्यम नहीं होती थी। इससे बड़ी कठिनाई होती थी। जो वस्तु हमारे पास हमारी जरूरत से अधिक होती थी, उसके लेनेवाले, सब समय और सब जगह नहीं मिलते थे। फिर, जिन मनुष्यों को हमारी चीज की जरूरत होती थी, वे सभी हमें हमारी आवश्यकता की वस्तु नहीं दे सकते थे। अतएव हमें ऐसा आदमी ढूँढना पड़ता था, जिसमें एक-साथ दो बातें हों—वह हमारी बनायी हुई वस्तु ले सके, और हमारी जरूरत की चीज, बदले में, दे भी सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग वस्तुएँ विनिमय का माध्यम बनायी गयीं। भारतवर्ष के देहातों में, अब भी, अन्न के बदले

शाक-भाजी, लकड़ी, उपले आदि वस्तुएँ मिलती हैं। एक आदमी अपनी चीज बेचकर बदले में अन्न लेता है, और फिर उस अन्न के बदले में, अपनी आवश्यकता की दूसरी वस्तुएँ लेता है। इस प्रकार अन्न, विनिमय के माध्यम का काम देता है। इसमें संदेह नहीं कि अन्न की आवश्यकता सबको होती है; परन्तु माध्यम के लिए किसी वस्तु का उपयोगी होना ही काफी गुण नहीं है।

अन्न से विनिमय के माध्यम का कार्य छोटे क्षेत्रों में ही लेना आसान होता है। जब विनिमय करनेवाले व्यक्ति (या संस्थाएँ) भिन्न-भिन्न गाँवों के होंगे तो अवश्य ही अधिक कठिनाई उपस्थित होगी। विनिमय करनेवालों के स्थानों में जितना अधिक फासला होगा उतनी ही कठिनाई बढ़ती जायगी। यदि कशमीर का आदमी अपनी वस्तु का विनिमय हैदराबादवाले से करना चाहे तो अन्न के माध्यम से काम कैसे चलेगा! फिर, यदि हम अपने देश के बाहर के आदमियों से पदार्थों का विनिमय करना चाहें तो अन्न के माध्यम द्वारा यह असम्भव ही समझना चाहिए। इस प्रकार अन्न आदि से माध्यम का काम हम तभी ले सकते हैं, जब न केवल हमारा देश स्वावलम्बी हो, वरन् हम अपनी जरूरत यथा-सम्भव अपने गाँव या नगर के पदार्थों से ही पूरी करें।

अन्न से, छोटी-छोटी मात्रा के विनिमय का कार्य अवश्य चल सकता है, परन्तु बड़ी मात्रा के विनिमय में इससे बड़ी-असुविधा होती है। मान लीजिए, यदि सौ मन रुई बेचना है, और उसके बदले में पाँच सौ मन गेहूँ मिलता है, तो इतने भारी वजन के पदार्थों को, लाने-लेजाने में कितनी कठिनाई पड़ेगी! फिर अन्न ऐसा पदार्थ है, जो बहुत समय तक अच्छी दशा में नहीं रहता; उसके खराब होजाने अथवा चूहे या कीड़ों के द्वारा खाये जाने की आशंका रहती है। ज्यों-ज्यों मनुष्यों में सभ्यता बढ़ती गयी, यह विचार पैदा होता गया कि विनिमय का कोई इससे अच्छा माध्यम निश्चित किया जाय।

माध्यम के जरूरी गुण— माध्यम का कार्य वही चीज भली भाँति कर सकती है, जिनमें ये गुण हों—(१) उपयोगिता, (२) चलन अर्थात् लेजाने का सुभीता, (३) अक्षयशीलता, अर्थात् जल्दी खराब या नाश न होना, (४) विभाजकता या टुकड़े हो सकना; (पशु आदि के भाग नहीं हो सकते) (५) मूल्य में स्थायित्त्व होना, अर्थात् शीघ्र परिवर्तन न होना। (६) पहचान (इसमें उस चीज की, चिह्न या अक्षर धारण करने की, शक्ति भी सम्मिलित है)।

सिक्का—यथेष्ट अनुभव और प्रयोगों के पश्चात् लोगों को धातुओं से माध्यम का काम लेने की सूझी। यदि किसी को रुई के बदले में अन्न लेना हो, तो वह पहले रुई के बदले में धातु लेले, और फिर उस धातु के बदले में अन्न। इस रीति में विनिमय दो बार करना पड़ता है; तो भी, यह रीति सरल है। अतः माध्यम के लिए धीरे-धीरे धातुओं का, और उनमें भी खासकर सोने-चाँदी का, चलन बढ़ गया। क्रमशः धातुओं के सिक्के बनने लगे। सिक्के या मुद्रा में कई गुण होते हैं; यह विनिमय का माध्यम है, भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य का मापक है। इसके अतिरिक्त इसका संग्रह अन्य वस्तुओ की अपेक्षा सुविधाजनक है। याद रहे कि मुद्रा अन्य वस्तुओं की तरह एक वस्तु है, और उसके अधिक या कम होने पर उसका मूल्य भी घट-बढ़ सकता है।

सब से अच्छा सिक्का वह है, (१) जिसकी नकल न की जा सके, (२) जिससे यदि कुछ धातु, निकाल ली जाय, तो फौरन पता लग जाय, और (३) जिससे धातु, रगड़ के कारण घिस जाने पर, कम न हो जाय, और (४) जो अपने समय की कला का एक खास नमूना हो।

[म० गांधी का कथन है कि धातु के सिक्के या कागज के नोट मूल्य का सच्चा माप नहीं हैं, क्योंकि उनकी कीमत कृत्रिम है। फिर भी बड़े पैमाने पर व्यापार करने के लिए यह माप आवश्यक है। ग्रामोद्योग के पीछे उलटी कल्पना है। हम बड़े पैमाने पर व्यापार नहीं चाहते;

हम देहात की स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन चाहते हैं। देहातों में पारस्परिक व्यवहार के लिए कोई ऐसी देहाती चीज होनी चाहिए, जिसे हर कोई बना सकता है, जिसका आसानी से संग्रह हो सकता है, और जिसका दाम हर रोज बदलता नहीं है। ऐसी वस्तु सूत है। अगर सूत-माप हम देहातों में दाखिल कर सकें तो देहातों की बहुत उन्नति कर सकेंगे और शीघ्रता से स्वावलम्बी बन सकेंगे।]

माध्यम का चलन या करेंसी—भिन्न-भिन्न देशों में, समय-समय पर, तरह-तरह के सिक्के रह चुके हैं। सिक्कों के चलन के सम्बन्ध में मनुष्य-समाज को विविध प्रकार का अनुभव धीरे-धीरे और इस प्रकार हुआ—

(क) जब विनिमय का माध्यम धातु मानी जाने लगी, और यह निश्चित हुआ कि इतनी अमुक वस्तु के लिए अमुक धातु इतनी मात्रा में दी जाय, तो मनुष्य भिन्न भिन्न वस्तुओं के बदले में यथेष्ट धातु तोलकर देने लगे, और इस प्रकार चलन ('करेंसी') का प्रारम्भिक रूप स्थिर हुआ। यह है माध्यम का चलन, तौल द्वारा।

(ख) धीरे-धीरे धातु के तुले-तुलाये टुकड़े गिनकर चलाये जाने लगे। यह है माध्यम का चलन, गिनती द्वारा।

(ग) धातु की शुद्धता तथा तौल में शंका न हो, इसलिए इन टुकड़ों पर किसी प्रसिद्ध संस्था या सरकार का निशान बनाया जाने लगा, और मुद्रा या सिक्का प्रारम्भ हुआ। यह है माध्यम का चलन, सिक्के द्वारा।

(घ) बहुमूल्य और अल्प-मूल्य पदार्थों के लिए जुदा जुदा धातुओं के कई सिक्कों का चलन आवश्यक हो गया, और उनकी पारस्परिक परिवर्तन की दर निश्चित कर दी गयी। यह है माध्यम का चलन, दो या अधिक धातुओं के सिक्कों द्वारा।

(च) पीछे एक या अधिक सिक्के अपरिमित संख्या तक, और

शेष सिक्के परिमित संख्या तक, कानून-ग्राह्य नियत किये गये। यह है माध्यम का सम्मिलित चलन सिक्कों द्वारा। भारत में पौंड और रुपये तो अपरिमित कानून-ग्राह्य हैं, परन्तु अन्य सिक्के परिमित। इस प्रकार अगर हमें किसी के सौ रुपये देने हैं, तो हम यह रकम पौंड या रुपये में ही चुका सकते हैं; हम किसी को इतनी रकम की इकन्नी या पैसे आदि लेने के लिए मजबूर नहीं कर सकते।

प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्का—सिक्के, उनमें लगी हुई धातु के मूल्य के विचार से दो प्रकार के होते हैं, प्रामाणिक और सांकेतिक। प्रामाणिक' ('स्टेंडर्ड') सिक्का उस सिक्के को कहते हैं, जिसकी बाजारू कीमत उस सिक्के में लगी हुई धातु की कीमत के लगभग हो। जिस देश में इस सिक्के का चलन होता है उसके आदमी अपनी आवश्यकता के समय धातु तथा ढलाई-खर्च आदि की साधारण फीस या शुल्क देकर नये सिक्के ढलवा सकते हैं, अथवा मोल ले सकते हैं। भारतवर्ष में सन् १८९३ ई० तक ऐसी ही व्यवस्था थी। ऐसे सिक्कों को गलाने में विशेष हानि नहीं होतो।

'सांकेतिक' सिक्का उस सिक्के को कहते हैं जिसकी बाजारू कीमत सिक्के में लगी हुई कीमत से बहुत अधिक होती है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में रुपया सांकेतिक मुद्रा है; इसमें जितनी चाँदी होती है, उसकी कीमत बाजार में पहले प्रायः सात आने से नौ आने तक रही है, और इस समय तो चार-पाँच आने ही है, यद्यपि चाँदी का भाव पहले से तेज है। सरकार ने रुपये की कीमत सोलह आने ठहरा रखी है। इन सिक्कों के प्रचलित मूल्य का आधार सरकारी कानून तथा सरकार की साख है। विदेशों में ऐसे सिक्कों का मूल्य बहुत कम—उनमें लगी हुई धातु की कीमत के लगभग—होता है। जब सरकार की साख जाती रहती है, अथवा सरकार बदल जाती है, तो स्वदेश में भी इन सिक्कों की कीमत बहुत गिर जाती है।

सांकेतिक रुपयों के चलन से, जनसाधारण की प्रवृत्ति, चाँदी के सस्ते होने की हालत में, नकली रुपये बनाने की ओर होती है; और चाँदी के मँहगे होने की हालत में, रुपये गलाने की ओर होती है। इस प्रकार सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली से दोनों हालतों में, असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने का यही उपाय है कि लोगों के, अपनी अपनी धातु के, सिक्के ढलवाने के लिए टकसाल खुली रहे।

भारतवर्ष में मुख्य सिक्का रुपया है, यह अपरिमित कानून-ग्राह्य है। पैसा, अधन्ना, इकन्नी, दुअन्नी और अठन्नी सहायक सिक्के हैं। ये सिक्के मनमानी संख्या में नहीं चल सकते, क्योंकि ये एक परिमित संख्या से अधिक कानून-ग्राह्य नहीं हैं। इन सिक्कों को भारी ऋण में लेने के लिए कोई वाध्य नहीं किया जा सकता। इन्हें कोई जोड़कर भी नहीं रखता।

सिक्के ढालने का अधिकार (१) जन-साधारण को, (२) सरकार को, अथवा (३) सरकार द्वारा नियुक्त की गई किसी बैंक आदि संस्था को हो सकता है।

सिक्कों के चलन के खर्च में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित है—(क) जो पूँजी सिक्कों में लग जाती है; उस पर व्याज; (ख) सिक्कों के घिसने का नुकसान; और (ग) टकसाल का खर्च। सांकेतिक मुद्रा को चलाने में बहुत लाभ होता है। कभी-कभी इस लाभ का लालच यहाँ तक बढ़ जाता है कि उन सिक्कों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ा दी जाती है। इससे देश को बहुत हानि पहुँचती है। इस प्रश्न पर आगे विचार किया जायगा।

भारतवर्ष में प्रामाणिक सिक्के—सिक्कों के सम्बन्ध में साधारण सिद्धांत की बात बतलाकर हम अब भारतवर्ष के सिक्कों का वर्णन करते हैं। पहले उनका संक्षिप्त इतिहास जानलेना आवश्यक है। मुसलमानों के आने से पहले तथा कुछ समय पीछे तक भारतवर्ष में मुख्या रूप से मोहर आदि सोने के सिक्कों का प्रचार रहा। चाँदी,

ताँबे और लोहे के सिक्के भी बनते थे; परन्तु उनका प्रचार कम था। बहुत कम कीमत की चीजों के लेन-देन में कौड़ियों का व्यवहार होता था। दिल्ली के सुलतान अल्तमश ने, सन् १२३३ ई० में, १६५ ग्रेन तोल का टंक-नामक चाँदी का सिक्का जारी किया। सन् १५४२ ई० में बादशाह शेरशाह ने 'टंक' के बदले लगभग १८० ग्रेन तौल का 'रुपया' नाम का सिक्का प्रचलित किया। उत्तरी भारत में चाँदी का सिक्का क्रमशः प्रामाणिक सिक्का हो गया।

सन् १७६६ ई० में ईस्ट-इंडिया कम्पनी ने दो धातुओं के सिक्कों का चलन स्थापित करने की—अर्थात् सोने और चाँदी के सिक्कों के मूल्य में कानूनी अनुपात निश्चय करने की—कोशिश की। उसकी सोने की मोहरों की कीमत पहले १६ 'सिक्के रुपये' लगायी गई; सन् १७६९ में नयी मोहरें १६ सिक्के रुपये की ठहरायी गयीं। अठारहवीं सदी के अन्त में यहाँ अनेक प्रकार के सिक्के काम में आते थे। इससे व्यापार आदि में बड़ी असुविधा होती थी। इसे हटाने के लिए कम्पनी ने अपने अधिकार-क्षेत्र में उस 'सिक्के रुपये' को प्रामाणिक सिक्का स्वीकार किया, जिसे वह कलकत्ते में ढालती थी। सन् १८३५ में चाँदी के रुपये को भारत-भर का एकमात्र कानून-ग्राह्य सिक्का कर दिया गया। सन् १८५३ ई० में लार्ड डलहौजी ने यह आज्ञा निकाली कि सरकारी खजाने से मोहरें न भुनने पावें। इससे, भारतवर्ष से सोने के सिक्के का प्रचार उठ गया।

भारतवर्ष में सांकेतिक मुद्रा—मुद्रा के प्रश्न पर विचार करने के लिए, यहाँ सन् १८९२ में, लार्ड हरसेल की अध्यक्षता में, एक कमेटी नियुक्त की गई। इसकी सिफारिश से सन् १८९३ ई० में, करेंसी-कानून पास हुआ। इससे (१) जन-साधारण को यह अधिकार न रहा कि वह अपनी चाँदी टकसाल में ले जाकर उसके रुपये ढला सके; सिर्फ सरकार को ही रुपये ढालने का अधिकार रहा। (२) सावरेन का मूल्य १५) रखा गया।

टकसाल बन्द कर देने तथा उपर्युक्त व्यवस्था करने से सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली प्रचलित की गयी। सरकार को रुपये के विदेश-सम्बन्धी विनिमय में तो सुभीता हो गया, परन्तु देश को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। लेखनी की एक चोट से देश भर की समस्त चाँदी की कीमत में लगभग ३१ फी-सदी की कमी हो गई। टकसाल में पहले सौ तोले चाँदी देने से लगभग १०६ रुपये बन सकते थे, किन्तु अब उसकी कीमत केवल ७० रु० के लगभग रह गयी। सन् १८७७ ई० के दुष्काल में करोड़ों रुपये के आभूषण टकसाल में रुपये ढालने के लिए भेजे गये थे। परन्तु अब इस नयी व्यवस्था के कारण गहनों के बदले बराबर की तौल के रुपये नहीं मिल सकते थे, और कम रुपये मिलने से बाजार में माल भी कम मिलता था। अतएव इस व्यवस्था ने सन् १८६७-६८ ई० के भयंकर अकाल में मरते हुओं को और मारा; और देश के शिल्प, व्यवसाय और वाणिज्य को भी भारी धक्का पहुँचाया।

भारतवर्ष के वर्त्तमान सिक्के—किसी किसी देशी राज्य को अपने अलग सिक्के ढालने का अधिकार है; उन सिक्कों का व्यवहार उस राज्य में ही परिमित रहता है, जो उन्हें जारी करता है। सब देशी राज्यों को अपने यहाँ अंगरेजी रुपये को वही स्थान देना होता है, जो इसे ब्रिटिश भारत में प्राप्त है। ब्रिटिश भारत में रुपया चाँदी का है, इसका वजन १८० ग्रेन है। यहाँ चाँदी के अन्य सिक्कों अर्थात् अठन्नी, चवन्नी और दुअन्नी का वजन उत्तरोत्तर आधा है--क्रमशः ६०, ४५ और साढ़े बाईस ग्रेन। सन् १६३६ तक ढले हुए रुपयों तथा उपर्युक्त अन्य सिक्कों में, वजन के हिसाब से १२ में से ११ हिस्से चाँदी होती थी, और १ हिस्सा मिलावट। तांबे के सिक्के बङ्गाल अहाते में सन् १८३५ के कानून से, और बम्बई तथा मदरास अहातों में १८४४ के कानून से जारी किये गये थे। ये सिक्के अधन्ना, पैसा, धेला (आधा पैसा), पाई (एक-तिहाई पैसा) हैं। सन् १६०६ के कानून से निकल

की इकन्नी जारी करने की व्यवस्था हुई।

ऊपर बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में जो रुपया प्रचलित है, उसमें लगी हुई धातु का मूल्य रुपये के सांकेतिक मूल्य से बहुत कम है। सरकार को उसे ढालने में बहुत लाभ रहता है। इस लाभ की रकम पहले एक कोष में जमा रहती थी उसे मुद्रा ढलाई लाभ-कोष (गोल्ड स्टेंडर्ड रिजर्व) कहते हैं। अब लाभ की रकम सरकारी आमदनी में जमा कर ली जाती है।

युद्ध का प्रभाव—पहले योरपीय महायुद्ध (सन् १९१४-१८) के समय, रुपये से कम कीमत वाले चाँदी के सिक्कों को घटिया धातु में रखने और इस प्रकार चाँदी को बचाने का निश्चय किया गया। इसके फल-स्वरूप निकल की दुअन्नी सन् १९१७-१८ में, और निकल की चवन्नी तथा अठन्नी १९१९ में जारी की गयी। इनमें से निकल की अठन्नी का चलन पीछे बन्द कर दिया गया।

दूसरे महायुद्ध के समय, सिक्कों में लगी हुई चाँदी आदि की और अधिक बचत करने का विचार हुआ। सन् १९३९ के बाद दुअन्नी तो चाँदी की ढाली ही नहीं गयी। सन् १९४० से चवन्नी, अठन्नी और रुपये में आधी चाँदी और आधी मिलावट रखने का नियम किया गया। इस प्रकार, जहाँ पहले इनके १२ हिस्से वज़न में चाँदी ११ हिस्से रहती थी, अब वह केवल ६ हिस्से ही रखी जाने लगी। कुछ समय बाद अधिक चाँदी वाले पहले के सिक्के कानून-ग्राह्य न रहे। सन् १९४२ ई० से निकल की इकन्नी और दुअन्नी में मिलावट बढ़ायी गयी; और, नयी अधन्नी जारी की गयी, जिसमें निकल के साथ काफी मिलावट है। सन् १९४३ में नये ढंग का पैसा चलाया गया, जो पहले के पैसे से आकार में छोटा, और वजन में ७५ ग्रेन की जगह ३५ ग्रेन है, और जिसके बीच में गोल सुराख है। इन परिवर्तनों के साथ धेले और पाई का ढालना बन्द कर दिया गया।

भारतवर्ष के लिए सोने का सिक्का—सन् १८९८ ई० में भारतवर्ष की मुद्रा-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक कमेटी बैठी। उसके प्रस्ताव के अनुसार सन् १८९९ ई० में सावरेन भारत का प्रचलित सिक्का बना दिया गया। उसी वर्ष भारत के अर्थ-मंत्री ने यह घोषित किया था कि कुछ ही सप्ताहों में, बम्बई में सोने की टकसाल खोल दी जायगी; परन्तु विलायत के कोषाधिकारियों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव सन् १९०३ ई० में बिलकुल रद्द कर दिया गया।

सन् १९१० में सर जेम्स मेस्टन ने साफ़-साफ़ शब्दों में स्वीकार किया कि वर्त्तमान मुद्रा-प्रणाली के दोष सोने की मुद्रा चलाने पर ही दूर हो सकते हैं। सन् १९१२ ई० में सर बिट्ठलदास थेकरसी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में प्रस्ताव किया कि बिना टकसाली खर्च लिये जन-साधारण के सोने के सिक्के ढाले जायँ। सब भारतीय सदस्यों ने इसका समर्थन किया। यद्यपि यह पास न हुआ, तो भी भारत-सरकार ने भारत-मंत्री से, भारत में सावरेन ढालने की एक टकसाल खोलने का अनुरोध किया। किन्तु भारत-मंत्री ने दस रुपये का सोने का नया सिक्का चलाने का प्रस्ताव किया, इसे भारत-सरकार ने स्वीकार कर लिया। १९१३ ई० में भारत-सरकार के, मांटेग्यू-कम्पनी द्वारा, गुप्त रूप से चाँदी खरीदने पर पार्लिमेंट में एक जोशीली बहस हुई। परिणाम-स्वरूप चेंबरलेन-कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने फाउलर-कमेटी के कुछ प्रस्तावों को रद्द कर दिया, और वर्त्तमान व्यवस्था को स्थिर रखने का अनुरोध किया। युद्ध-काल में मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताओं से विवश होकर सरकार ने स्वयं उपर्युक्त सब आपत्तियों की अवहेलना की, और अगस्त सन् १९१८ ई० में, बम्बई में सोने की टकसाल खोल दी, जो लन्दन की टकसाल की शाखा समझी गयी। पर अप्रेल सन् १९१९ ई० में वह बँद कर दी गयी।

भारतवर्ष में इस टकसाल के फिर खोलने तथा जारी रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। लोगों को अपने सोने के सिक्के ढलवाने का अधिकार होना चाहिए। इससे एक लाभ तो यह होगा कि भारतवर्ष को अन्य देशों के व्यापार की बाकी चुकाने, तथा 'होम चार्जेज' की रकम इंगलैंड भेजने की सुविधा होगी; यहाँ विनिमय की दर स्थिर रहेगी, जिसके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा। दूसरे, इस टकसाल के खुलने और सोने के सिक्के जारी हो जाने पर लोगों की, अपना सोना गाड़कर रखने की, प्रवृत्ति कम हो जायगी। इस समय आदमी सोचते हैं कि देश में नोट ही अधिक हैं, सोना बहुत-सा बाहर चला गया है; उन्हें यह विश्वास नहीं है कि जरूरत के समय यहाँ काफी सोना मिल ही जायगा। टकसाल खुलजाने से लोगों का यह अविश्वास दूर हो जायगा; और उनके द्रव्य का, धनोत्पादन-कार्य में अधिक उपयोग होगा।

नये सिक्के का विचार—भारत-सरकार ने सिक्कों की वर्तमान पद्धति को बदलने और देश में दशमिक या दशमलव पद्धति जारी करने का विचार जाहिर किया है, जिसके अनुसार रुपया सोलह आने के बजाय सौ सेंट का हो। सेंट शब्द अंगरेज़ी भाषा का है, और इस नाम के सिक्के का चलन अमरीका में है। भारतीय सिक्के का नाम, स्वरूप और उसपर जिस लिपि में लिखा जाय, सब ऐसी होनी चाहिएँ, जिसे अधिकांश भारतीय जनता समझे और पसन्द करे। वर्तमान दशा में रुपये का आधा अठन्नी, अठन्नी का आधा चवन्नी, चवन्नी का आधा दुअन्नी, दुअन्नी का आधा इकन्नी, इकन्नी का आधा अधन्नी, और अधन्नी आ आधा पैसा होता है। व्यवहार में चीज़ों का आधा हिस्सा करने की ही जरूरत बहुत रहती है। इसीलिए गज में सोलह गिरह, और सेर में सोलह छटांक रखी गयी हैं। फिर, एक पैसे की तीन पाई होने से, वर्तमान पद्धति से रुपये की तिहाई चीज का भी हिसाब आसानी से लग सकता है। सौ सेंट का रुपया होने पर यह

सुविधा न रहेगी, उसमें आधे, चौथाई और पाँचवें हिस्से का ही हिसाब आसानी से लगेगा, इनमें से भी पाँचवें हिस्से की प्रायः आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार नये सिक्के से कठिनाई बढ़ेगी ही, इसलिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं मालूम होती।



चौदहवाँ अध्याय

कागजी मुद्रा; नोट आदि

बड़े व्यापार में सोने चाँदी के भारी सिक्कों को एक स्थान से दूसरे स्थान को लेजाने में बड़ी असुविधा होती है। इस सुविधा को दूर करने के लिए धातु का आधार छोड़कर लोग कागजी रुपयों से ही अपना काम निकाल लेना चाहते हैं। नोट या कागजी मुद्रा वास्तविक सिक्के नहीं, ये केवल एवजी सिक्के ही हैं, जो चलानेवाले के विश्वास या साख पर चलते हैं। ये अपने ही देश (या प्रान्त) में भुनाये जा सकते हैं; विदेशों में इनका कोई मूल्य नहीं होता। आवश्यकता से अधिक होने पर तो ये स्वदेश के लिए भी बहुत हानिकर होते हैं।

भारतवर्ष में नोटों का प्रचार—यहाँ के व्यापारियों में हुँडी-पुर्जे का प्रचार चिरकाल से रहा है। परन्तु वर्त्तमान नोटों का चलन अंगरेज़ी शासन में ही हुआ। नोटों का प्रचार यहाँ पहले-पहल सन् १८३६ ई० में हुआ, जबकि बंगाल-बैंक को नोट निकालने की अनुमति मिली। सन् १८४० ई० में बम्बई के, और सन् १८४३ ई० में मदरास के प्रेसिडेंसी-बैंक को नोट निकालने का अधिकार मिल गया। इन नोटों का प्रचार पहले अधिकतर उक्त नगरों में ही हुआ। मदरास-बैंक को एक करोड़ और अन्य दोनों बैंकों को दो दो करोड़ तक के नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

सन् १८६१ ई० से इन बैंकों का यह अधिकार छिन गया, और भारत-सरकार ने नोट निकालने का काम अपने हाथ में लेकर इसके लिए एक पृथक् विभाग खोला, और नोट जारी करने के ६ केन्द्र स्थापित किये। इन केन्द्रों से ५), १०), ५०), १००), ५००), १०००) और १०,०००) के नोट जारी किये। उस समय, जो नोट जिस केन्द्र से जारी किये हुए होते थे, वे केवल उसी केन्द्र से अधिकार-पूर्वक भुनाये जा सकते थे।

सन् १९०३ ई० तक नोटों का प्रचार बहुत शीघ्रता से नहीं बढ़ा। इस वर्ष से ५) रुपये के, सभी केन्द्रों से निकले नोट सभी सरकारी खजानों में भुनाये जा सकने लगे; अर्थात् उस समय से ५) के नोट सार्वदेशिक हो गये। सन् १९११ ई० में १००) के नोट का प्रचार भी सार्वदेशिक हो गया। सन् १९१३ ई० के कमीशन ने यह सम्मति दी कि सब नोट भुनाये जाने के लिए अधिक सुविधा कर दी जाय। ऐसा हो जाने पर लोग नोटों को अधिकाधिक पसन्द करने लगे, और उनका प्रचार बढ़ता गया। सन् १९१७ ई० में १) और २॥) के नोट भी चला दिये गये। इनके चलाने का विशेष कारण यह था कि युद्ध-काल में, देश में रुपयों की माँग बहुत बढ़ गयी थी, किन्तु चाँदी मँहगी हो जाने से, रुपये अधिक परिमाण में नहीं ढाले जा सकते थे। अतः भारत सरकार ने युद्ध के अन्त तक, युद्ध से पहले की अपेक्षा, दुगने से भी अधिक मूल्य के नोट प्रचलित किये। पीछे १) और २॥) के नोटों का चलन बन्द कर दिया गया। सन् १९३५ में १) के नोट पुनः प्रकाशित किये गये; ये १९३९ से जारी किये गये।

नोटों की अधिकता से बट्टा और मँहगी—प्रत्येक देश को अपने व्यापार व्यवसाय या लेन-देन आदि के अनुसार किसी खास समय में मुद्रा की, एक निर्धारित परिमाण में आवश्यकता होती है। अगर मुद्रा उससे अधिक परिमाण में हो तो उसका मूल्य (चीजों में) गिर जाता है। यह बात विशेषतया कागजी मुद्रा के सम्बन्ध में

चरितार्थ होती है—सरकार को इसी मुद्रा के बढ़ाने की प्रवृति अधिक होती है।

उदाहरण के लिए पिछले योरपीय महायुद्ध (१९१४-१८) के समय यहाँ सरकार ने नोट अधिक परिमाण में जारी कर दिये। इससे बाजार में नोटों की, उन पर लिखी, पूरी कीमत मिलनी कठिन क्या असम्भव हो गयी थी। यद्यपि नोटों पर बट्टा लेना सरकारी कानून से जुर्म है, तथापि बाजार में वह बराबर लिया और दिया जाता था। इससे नोट वालों को बहुत हानि उठानी पड़ी, और सरकार की साख को भी कुछ समय तक भारी आघात पहुँचा; जहाँ-तहाँ लोगों में यह बात फैल गई कि सरकार के खजाने में सोना-चाँदी नहीं रहा, वह कागज के टुकड़ों से काम चलाती है।

अत्यधिक मुद्रा-प्रसार—जब नोटों की वृद्धि, लेन-देन या बाजार की आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाती है तो उनका मूल्य गिर जाता है; चीजों का दाम बढ़ जाता है, वे महँगी हो जाती हैं। इसका ताजा उदाहरण दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय सामने आया। खासकर सैनिकों को वेतन देने तथा युद्ध-सामग्री खरीदने आदि के लिए सरकार ने नोटों को कितना बढ़ाया, यह इससे जाहिर हो जाता है कि जबकि सन् १९३९ के अन्त में ढाई सौ करोड़ रुपये से कम के नोट थे, जून १९४३ में ये ७४६ करोड़ के थे, और सन् १९४५ के अन्त में तो बारह सौ करोड़ रुपये से भी अधिक के नोट होने का अनुमान था।*

मुद्रा-प्रसार का एक नतीजा यह होता है कि लोगों में चीज़ें संग्रह करने या जोड़कर रखने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। जब व्यापारी यह देखते हैं कि चीज़ों के दाम स्थिर नहीं हैं और बेहिसाब बढ़ते जाते है तो वे प्रायः अपना माल बेचते नहीं, उसे रोके रखते हैं, उन्हें यह आशा रहती है कि पीछे हमें और ऊँचे दाम मिलेंगे, और अधिक

* इस हिसाब में एक-एक रूपये के नोट शामिल नहीं हैं।

मुनाफा होगा। इसके अलावा, कुछ आदमी अपनी ज़रूरत की चीज़ें पहले से ही इकट्ठी या बड़े परिमाण में खरीद लेते हैं, उन्हें आशंका रहती है कि शायद पीछे ये चीज़ें न मिलें, या अगर मिलें भी तो न मालूम कितने अधिक दाम देने पड़ें। इन बातों का परिणाम यह होता है कि देश में पदार्थों की कृत्रिम कमी का वातावरण बन जाता है, अर्थात् कितनी ही चीज़ें होते हुए भी साधारण आदमियों को बाजार में मामूली दर से नहीं मिलतीं। जो आदमी बहुत ऊँचे दाम से खरीद सकते हैं, वे मज़बूर होकर, उन्हें लुक-छिपकर, चोर बाजार में खरीदते हैं। सरकार इसे नियंत्रण करना चाहे, तो वह इसमें यथेष्ट सफल नहीं होती। बेचारे गरीब बुरी तरह मारे जाते हैं।

इसके दुष्परिणामों से बचने के उपाय—यहाँ युद्ध-काल में पदार्थों की जो मूल्य-वृद्धि हुई, उसका कारण कुछ अंश में यह भी था कि पदार्थों का उत्पादन जनता की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं बढ़ाया जा सका; तथापि उसमें मुद्रा-प्रसार का बहुत भाग था। निदान, यहाँ बहुत सी चीज़ों के दाम तिगुने-चौगुने ही नहीं, इससे भी ज्यादा हो गये। लोगों का जीवन संकटमय होगया, लाखों आदमी अपने प्राण ही गँवा बैठे। जनता में अशान्ति और अस्थिरता का भाव बढ़ता गया। इस पर सरकार ने निम्नलिखित उपायों से काम लिया—(क) इनकम टैक्स, सुपर टैक्स, कारपोरेशन टैक्स आदि की वृद्धि। (ख) अतिरिक्त मुनाफा कर। युद्ध से पहले जितना मुनाफा होता था, उससे जितना अधिक मुनाफा हुआ, उसमें से सरकार ने पहले दो-तिहाई तक लिया, पीछे अपना हिस्सा बढ़ाकर अस्सी फी सदी से भी अधिक कर दिया। (ग) डाक, तार टेलीफोन आदि की दरों में वृद्धि। रेल-किराया बढ़ाने का भी प्रस्ताव, अर्थ-सदस्य ने बजट में रखा था, पर भारतीय व्यवस्थापक सभा के भारी विरोध के कारण वह प्रस्ताव वापिस ले लिया गया। (घ) बचत के लिए प्रचार करना। लोगों को युद्ध-कोष और युद्ध-ऋण देने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

कई जगह तो अधिकारियों ने अपने भाव का अनुचित और गैरकानूनी प्रयोग भी किया। (च) आयात को प्रोत्साहन। विदेशी वस्तुओं की आयात बढ़ने से यदि मुद्रा-संकोच में, अर्थात् मुद्रा का परिमाण कम होने में, कुछ सहायता मिली तो स्वदेशी कारोबार को हानि भी पहुँची।

मुद्रा-संकोच का प्रायः कोई भी उपाय खतरे से खाली नहीं है। इसलिए इस विषय में बहुत सावधानी रखने की ज़रूरत होती है। अच्छा तो यह है कि मुद्रा प्रसार बहुत अधिक होने ही न पावे। जब एक बार अंधाधुन्ध कागजी मुद्रा छाप कर उसका प्रचार होने दिया जायगा तो पीछे उसका दुष्परिणाम रोकना बहुत कठिन है।

कागजी-मुद्रा-कानून—सन् १८६१ ई० में यहाँ नोट निकालने की नीति में सुधार करने के लिए कानून बनाया गया। उस वर्ष से भारत-सरकार उस कानून के अनुसार नोट निकालने लगी। उस कानून का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जितने रुपयों के नोट निकाले जायँ, उतने ही रुपये का एक कोष अलग रखा जाय। इस कोष को कागजी-मुद्रा-कोष (पेपर-करेंसी-रिज़र्व') कहते हैं। इसका कुछ भाग सोने-चाँदी तथा इन्हीं धातुओं के सिक्कों में, और शेष, सरकारी सिक्यूरिटियों (ऋण-पत्रों) में, रखा जाता है। सिक्यूरिटियों की मात्रा के सम्बन्ध में समय समय पर कानून द्वारा परिवर्तन किया गया है। पहले यह नियम बनाया गया कि ब्रिटिश संयुक्त-राज्य की सिक्यूरिटियाँ, जो दो करोड़ से अधिक न हों, इसमें सम्मिलित कर ली जायँ। सन् १९११ ई० में इन सिक्यूरिटियों की सीमा ४ करोड़ कर दी गयी। युद्ध-काल में इस सीमा की बहुत ही अधिक वृद्धि हुई। सन् १९१८ ई० के एक्ट से ब्रिटिश ट्रेज़री-बिलों* की जमानत पर निकले

* ३, ६ या १२ महीने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा जो ऋण लिया जाता है, उसका ऋण-पत्र ट्रेज़री-बिल' कहलाता है।

हुए नोटों की सीमा ८६ करोड़ निश्चय कर दी गयी। पीछे, सन् १६१६ ई० में यह सीमा १०० करोड़ तक पहुँच गयी। युद्ध के बाद ये सिक्यूरिटियाँ धीरे-धीरे घटायी गयीं।

सन् १६३४ में, यहाँ रिजर्व बैंक स्थापित हुआ, उससे पूर्व नोट निकालने का अधिकार भारत-सरकार को था। बैंक की स्थापना के बाद सेयह अधिकार एकमात्र इस बैंक को है। इस विषय के मुख्य नियम ये हैं:—

१—नोट पाँच, दस, पचास, सौ, पाँच सौ, एक हजार, और दस हजार रुपये के निकाले जायँगे।* कौंसिल-युक्त गवर्नर-जनरल का आदेश होने पर अन्य रकमों के नोट जारी किये जा सकते हैं, और किसी नोट का चलन बन्द भी किया जा सकता है।

२—जितने रुपये के नोट निकाले जायँ, उतने रुपये का सोना, स्वर्ण-मुद्रा, ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियाँ, रुपया, या भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ कागजी-मुद्रा-कोष में जमा रहनी चाहिएँ। यह कोष रिजर्व बैंक के अधीन रहता है।

३—नोट ब्रिटिश भारत के प्रत्येक स्थान में कानून-ग्राह्य होंगे। भारत-सरकार इन्हें भुनाने के लिए जिम्मेवार होगी।

४—प्रत्येक नोट का चलन, उसके जारी किये जाने के समय से चालीस वर्ष तक रहेगा।

५—संपूर्ण कागजी-मुद्रा-कोष का ४० फी सैकड़ा भाग स्वर्ण-मुद्रा, सोने या ब्रिटिश-सरकार की सिक्यूरिटियों में होना चाहिए; जिसमें कम-से-कम ४० करोड़ रुपया स्वर्ण-मुद्रा या स्वर्ण में हो, और इसका ८५ फी-सैकड़ा भाग भारतवर्ष में रहे।

* एक रुपये का जो नोट इस समय प्रचलित है, वह रिजर्व बैंक का जारी किया हुआ नहीं है, इसे भारत-सरकार ने जारी कर रखा है। यह अपरिमित परिमाण में कानून-ग्राह्य है, परन्तु अविनिमयसाध्य ('इनकनवर्टिबल') है, अर्थात् सरकार इसे धातु-मुद्रा में बदलने या भुनाने का आश्वासन नहीं देती।

विशेष दशाओं में कौंसिल-युक्त गवर्नर जनरल की स्वीकृति से कोष का यह अंश ४० फी सैकड़ा से कम भी रह सकता है। उस अवस्था में बैंक को निर्धारित सूद देना पड़ता है।

६—कोष का शेष भाग रुपये, भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ और स्वीकृत हुँडियों में होना चाहिए, परन्तु भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ संपूर्ण कोष के चौथाई हिस्से से, या पचास करोड़ रुपये से अधिक की न होनी चाहिए। गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति से दस करोड़ रुपया, भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों में और रखा सकता है।

७—बैंक पर भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा जारी करने का दायित्व है। इस प्रकार माँग होने पर नोटों के बदले रुपये का सिक्का, और सिक्के के बदले नोट जारी करना इसका कर्तव्य है। ज़रूरत होने पर इसे पाँच या अधिक रुपये के नोट के बदले कम मूल्य वाले या कानून-ग्राह्य सिक्के जारी करना चाहिए।

बैंक के माँगने पर उसे आवश्यक सिक्के कौंसिल-युक्त गवर्नर-जनरल द्वारा दिये जायँगे।

कागजी-मुद्रा-कोष का रूप और स्थान—पहले इस कोष को अधिकतर रुपयों में, और भारतवर्ष में ही रखा जाता था। सन् १८६८ ई० से कोष के रुप और स्थान के सम्बन्ध में परिवर्तन होने लगा। ऊपर बताया गया है कि वर्त्तमान कानून के अनुसार सम्पूर्ण कागजी-मुद्रा-कोष का चालीस फी सैकड़ा भाग स्वर्ण-मुद्रा, सोने या ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियों में होना चाहिए। भारतवर्ष के कोष का रुपया ब्रिटिश सिक्यूरिटियों के रूप में रखा जाना सर्वथा अनुचित है। यह भारत-सरकार की ही सिक्यूरिटियों में रखा जाना चाहिए।

अब कोष के स्थान की बात लें। इसका बहुत बड़ा भाग भारतवर्ष से बाहर रखा जाता है। ब्रिटिश सिक्यूरिटियों का रुपया तो इंगलैंड में रहता ही है। ३० जून १९४३ को इसका ५६८ करोड़ रुपये इन सिक्यूरिटियों में जमा था। इस प्रकार यह देश अपनी इतनी रकम

के उपयोग से वंचित रहा। यह कोष नोटों के बदले में रखा जाता है। और नोट भारत में चलते हैं; अतएव यह कोष भी यहीं रखा जाना चाहिए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त काम आ सके। नोट भुनाने के अतिरिक्त, यदि उसे और भी किसी काम में लाना अभीष्ट हो तो इसका भी लाभ भारत को ही होना चाहिए। इंगलैंड की ब्रिटिश सरकार गरीब भारत के रुपये को कम या नाम मात्र के सूद पर लेकर अनुचित लाभ उठाती है। इधर भारत के उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता रहती है; वे इसकी कमी के कारण पनपने ही नहीं पाते। अस्तु, कागजी-मुद्रा-कोष की सब रकम भारत में ही रखी जानी चाहिए।

भारत-सरकार के नोट-आर्डिनेन्स—जनवरी १९४६ में भारत-सरकार ने दो नोट-आर्डिनेन्स जारी किये। पहले आर्डिनेन्स से सरकार ने देश भर के सब बैंकों और खजानों से १०० रु० से ऊपर वाले नोटों का कुल हिसाब मांगा। दूसरे आर्डिनेन्स से पांच सौ, एक हजार, और दस हजार रु० के नोटों का चलन गैर-कानूनी ठहराया गया, और उन्हें खजानो और बैंकों में जमा करके १०० रु० के नोटों में बदलवाने का आदेश जारी किया गया, जिस में कहा गया कि दस दिन के भीतर इन नोटों के साथ तीन फार्म भर कर देना चाहिए। इन फार्मों के कुछ खानों का भाव यह है कि नोट कहाँ से, कब, और किस तरह से मिले; यदि नोट किसी व्यापार से हुए लाभ के रूप में हैं, तो उसका ब्योरा देना चाहिए। यदि पूछी हुई सब बातों का उत्तर संतोषप्रद होगा तो सरकार बड़े नोटों के बदले में छोटे नोट जो १००) रु० तक के होंगे, देदेगी; अन्यथा नहीं देगी। गलत हिसाब का ब्योरा देने वाले को दंड दिया जायगा। सरकार ने घोषणा की कि इन आर्डिनेन्सों का उद्देश्य चोर बाजार द्वारा पैदा की हुई बड़ी-बड़ी रकमों को, जो इन बड़े नोटों के रूप में बड़े-बड़े आदमियों के पास है, सरकार और इनकमटैक्स बिभाग के सामने पेश करने के लिए मजबूर करना

है। सरकार ने यह आश्वासन भी दिलाया कि इस कार्य से साधारण नागरिकों को असुविधा न होगी।

इन आर्डिनेन्सों से देश भर की आर्थिक अवस्था में बहुत खलबली मच गयी। एक तो बहुत सी जनता आशिक्षित, फिर अधिकारियों का सहानुभूति-हीन रुख, और इसके साथ जनता का सरकार के प्रति अविश्वास का भाव! कई स्थानों पर लोगों ने एक हजार के नोट के बदले छः सौ से सात सौ रुपये तक ही लेकर संतोष किया। कितने ही आदमियों की यह धारणा हो गयी कि सरकार दिवालिया हो गयी है, इसलिए उसने ये आर्डिनेन्स जारी किये गये हैं। जगह-जगह व्यापारिक संस्थाओं ने एक स्वर से इन आर्डिनेन्सों का विरोध किया। चोर बाजार को दूर करना तो सभी चाहते थे, पर इन आर्डिनेन्सों की सफलता में लोगों का विश्वास नहीं था। और, नोट बदलवाने की दस दिन की अवधि भी बहुत कम समझी गयी। इसमें संदेह नहीं कि सरकार ने यह कार्यवाही बहुत देर से की, और उसका ढँग भी जनता के लिए आपत्तिजनक और कष्टदायक रहा।



पन्द्रहवाँ अध्याय

विदेशी विनिमय की दर

भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन-देन—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में बहुत सा सामान विदेशों से आता है। साथ ही दूसरे देश भारतवर्ष से कई चीज़ें मँगाते हैं। इस आयात-निर्यात के सम्बन्ध में विशेष बातों का विचार अगले खण्ड में किया जायगा। यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना अभीष्ट है कि भारतवर्ष का दूसरे देशों से व्यापारिक सम्बन्ध है, इसलिए कभी उसे दूसरे देशों को रुपया देना होता है,

और कभी उनसे लेना होता है। व्यापारिक सम्बन्ध के अतिरिक्त, अन्य कारणों से भी रुपया लेना या देना होता है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष प्रतिवर्ष इंगलैंड को 'होम-चार्जेज' (इङ्गलैंड में होनेवाले, भारतवर्ष सम्बन्धी विविध खर्च) की रकम देता है।

भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन-देन इङ्गलैण्ड के पौंड नामक सिक्के में होता है। जब भारतवर्ष को किसी देश का रुपया देना होता है, तो पौंड के रूप में देता है; इसी प्रकार जब रुपया लेना होता है तो पौंड के द्वारा लेता है। सन् १६३१ ई० से इङ्गलैंड में कागजी पौंड का चलन है; परन्तु ब्रिटिश सरकार ने विदेशी व्यापार के लिए कागजी पौंड के बदले में स्वर्ण-पौंड दिये जाने की व्यवस्था कर रखी है। स्वर्ण-पौंड प्रामाणिक सिक्का होने के कारण दूसरे देशों के सिक्कों से बदला जा सकता है; रुपया नहीं बदला जा सकता, क्योंकि अधिकतर देशों में चाँदी के सिक्कों का चलन नहीं है, और चलन हो भी तो हमारा रुपया सांकेतिक सिक्का होने के कारण अन्य देशवाले उसे यहाँ के सांकेतिक मूल्य पर लेना स्वीकार नहीं करते।

भुगतान की विधि; सरकारी हुँडियाँ—भिन्न-भिन्न देशों के लेन-देन का भुगतान करने के लिए हमेशा सिक्कों की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए यदि हमें इंगलैण्ड के व्यापारियों से माल की कीमत लेनी है, और 'होम चार्जेज' आदि के लिए इंगलैण्ड में भारत-मन्त्री को रुपया देना है तो इस दशा में भारत-मन्त्री इङ्गलैंड के व्यापारियों के हाथ भारत-सरकार के नाम की हुँडियाँ (कौंसिल-बिल) बेचकर हमारा रुपया जमा कर लेते हैं। जो लोग हुँडियाँ खरीदते हैं, वे उन्हें यहाँ भेज देते हैं, और यहाँ के व्यापारी सरकार या बैंकों से हुँडियों का रुपया वसूल कर लेते हैं। इस प्रकार इंगलैंड के व्यापारी भारतीय व्यापारियों को, और भारत-सरकार भारत-मन्त्री को, बहुत सी नकदी भेजने की असुविधा और जोखिम से बच जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि फसल अच्छी न होने आदि के

कारण जब यहाँ से इङ्गलैंड को माल कम जाता है, तो हमें इङ्गलैंड को रुपया देना रहता है। इस दशा में भारत-सरकार भारत-मन्त्री पर की हुई हुंडियाँ * बेचती है और वहाँ व्यापारियों से रुपया लेती है। भारतीय व्यापारी भारत-सरकार से हुंडी खरीदकर इङ्गलैंड के व्यापारियों के पास भेज देते हैं, और इङ्गलैंड के व्यापारी उन हुंडियों के बदले भारत-मन्त्री से सावरेन (पौंड) ले लेते हैं। भारत-मन्त्री और भारत-सरकार, जल्दी भुगतान करने के लिए, तार द्वारा भी व्यापारियों का काम कर देते हैं। इसमें खर्च कुछ अधिक होता है।

सरकारी हुंडी का भाव—जब विलायत के व्यापारियों को यहाँ अधिक भुगतान करना होता है, तो सरकारी हुंडी की माँग बढ़ जाती है, अर्थात् अंगरेजी सिक्के के हिसाब से भारतीय सिक्के का मोल बढ़ जाता है; या यों कह सकते हैं कि हमारे विनिमय का भाव चढ़ जाता है। यह भाव इसी कदर चढ़ सकता है कि इंगलैंड के व्यापारियों को नकद रुपये भेजने की अपेक्षा हुंडी द्वारा भेजने में अधिक व्यय न करना पड़े। उदाहरण के लिए, इङ्गलैंड के किसी व्यापारी को भारत में १५) रु० का भुगतान करना है और उसके भेजने में छः आने खर्च होते हैं, तो वह भारत-मंत्री की १५) की हूँडी को १५।=) तक में लेने को तैयार हो जायगा।

विनिमय † की दर का आधार—'विनिमय की दर' शब्द-समूह का व्यवहार भिन्न-भिन्न देशों के पृथक्-पृथक् सिक्कों के पारस्परिक भाव के लिए होता है। भारतीय दृष्टि से रुपये, आने, पाइयों के जिस भाव से पौंड, शिलिङ्ग, पेंस बन सकते हैं, उसे विनिमय की दर कहते हैं। इङ्गलैण्ड, अमरीका आदि देशों में एक ही धातु (सोने) के प्रामाणिक सिक्के प्रचलित हैं। इनमें विनिमय की दर में घट-बढ़

* इन हुंडियों को उलटी हुंडियाँ (रिवर्स-कौंसिल-बिल) कहते हैं।

† इस अध्याय में 'विनिमय' शब्द का प्रयोग 'विदेशी विनिमय' के अर्थ में किया गया है।

नहीं होती, जितनी चीन और भारत जैसे देशों में जहाँ, चाँदी के सिक्के अपरिमित रूप से कानून-ग्राह्य हैं। सोने के भिन्न-भिन्न प्रामाणिक सिक्कों के परिवर्तन में दो बातों का ख्याल रखना होता है:—१—अगर एक सिक्का दूसरे देश को भेजा जाय, तो रास्ते का खर्च लगाकर उसकी कीमत क्या होगी? (जब विनिमय की दर, सिक्के की धातु की कीमत और भेजने के खर्च से ज्यादह होती है, तो लोग सिक्के ही पार्सल द्वारा, भेजने लगते हैं।); २—प्रत्येक सिक्के की टकसाली दर क्या है?

टकसाली दर—सोने के प्रामाणिक सिक्के रखनेवाले देशों के उन सिक्कों में लगे हुए असली सोने के परिमाण के पारस्परिक सम्बन्ध को "टकसाली दर" कहते हैं। उदाहरण के लिए यह दर बतलायेगी कि एक पौंड (इंगलैण्ड का सिक्का) में जितना सोना रहता है उतना कितने फ्रंक (फ्राँस का सिक्का) में पाया जायगा। जब तक कोई देश अपने प्रामाणिक सिक्के की धातु का परिमाण न बदल दे, उसके सिक्के की, अन्य देशों के प्रामाणिक सिक्कों में टकसाली दर नहीं बदलती; क्योंकि टकसाली दर तो सिक्कों के असली सोने का परिमाणिक सम्बन्ध-मात्र है। परन्तु ऐसी परिस्थिति वाले देशों में, जिनमें एक का स्टैंडर्ड-सिक्का तो सोने का और दूसरे का चाँदी का हो, टकसाली दर हमेशा बदलती रहती है; कारण, चाँदी की सोने में कीमत बदलती रहती है। यही दशा भारत में सन् १८६३ ई० के पहले थी। हमारा प्रामाणिक सिक्का (रुपया) चाँदी का था, और इङ्गलैण्ड तथा अन्य कई देशों का, सोने का। इसलिए जैसे-जैसे चाँदी की सोने में कीमत बदली, वैसे-वैसे भारत की टकसाली दर भी बदल गयी। परन्तु अब तो भारत में कोई प्रामाणिक सिक्का है ही नहीं। रुपये की बाजारू कीमत, उसमें जो चाँदी है, उसकी कीमत से कहीं अधिक है। इसलिए अब भारत और अन्य देशों के बीच में कोई टकसाली दर नहीं हो सकती।

भारतवर्ष की विनिमय-दर; सन् १६१६ ई० तक—इस देश का प्रचलित सिक्का रुपया है, और विदेशी व्यापार में पौंड का व्यवहार होता है, अतः रुपये और पौंड का पारस्परिक मूल्य का विषय अत्यन्त महत्व का है। सन् १८६३ ई० में भारत-सरकार ने एक रुपये का कानूनी मूल्य एक शिलिंग चार पेंस निर्धारित किया। पहले योरपीय महायुद्ध (१६१४-१८) के प्रारम्भ तक विनिमय की दर प्रायः १ शिलिङ्ग ४.२५ पेंस से अधिक नहीं बढ़ी, और न १ शिलिङ्ग ३.६३ पेंस से नीचे ही गिरी।*

युद्ध-काल में भारत से बहुत-सा अन्न आदि इङ्गलैंड गया, पर वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका। संसार में चाँदी आवश्यकतानुसार प्राप्त न होने के कारण, उसका भाव चढ़ता गया। अतः कौंसिल-बिलों का भाव धीरे-धीरे बढ़ाना पड़ा। १ अगस्त, सन् १६१७ ई० को एक रुपये के बदले में १ शिलिंग ५ पेंस मिलते थे; १५ अप्रैल सन् १६१८ ई० को यह दर १ शिलिंग ६ पेंस, और १ मई १६१६ ई० को १ शिलिंग ८ पेंस, हो गयी। (क्रमशः बढ़ते-बढ़ते यह दर १ फरवरी, सन् १६२० ई० को २ शिलिंग ८.५ पेंस तक चढ़ गयी।

सन् १६१६ ई० की करेंसी-कमेटी—विनिमय में अभूतपूर्व गड़बड़ी होते देख, मुद्रा-व्यवस्था के प्रश्न पर विचार करने के लिए सरकार ने मई, १६१६ ई० में एक करेंसी-कमेटी नियत की। इसमें श्रीयुत दादीबा मिरवानजी दलाल ही एकमात्र हिन्दुस्तानी सदस्य थे, और शेष सब सदस्य अंगरेज। श्री० दलाल ने अपना मत अलग प्रकट किया, और, सब अंगरेज सदस्यों का मत अलग रहा।

बहुमत की सलाह—बहुमत (अगरेजों) की खास-खास

---

* आवश्यकतानुसार कौंसिल-बिल (भारत-सरकार पर की हुई हुंडियाँ) और रिवर्स-कौंसिल-बिल (भारत-मंत्री पर की हुई हुंडियाँ) निकालकर विनिमय की यह दर स्थिर बनाये रखने में सहायता की गयी।

सलाहें ये थीं—(१) सरकार को रुपये का भाव सोने में तय करना चाहिए; क्योंकि इङ्गलैंड में नोटों का अधिक प्रचार हो जाने के कारण सोने और कागजी पौंड के पारस्परिक भाव में अब वह स्थिरता नहीं रही। एक रुपये का मूल्य ११·३ ग्रेन के सोने के मूल्य के बराबर रखा जाय, अर्थात् सावरेन (स्वर्ण-पौंड) का भाव १५ रु० कर दिया जाय। एक रुपये की कीमत दो शिलिंग (स्वर्ण) हो, (२) यह भाव स्थिर हो जाने पर सोने के आयात पर से सरकारी रोक उठा दी जाय। (३) जिनके पास सावरेन हैं, उन्हें कुछ समय तक उन सावरेनों को सरकारी खजाने से पंदरह पदरह रुपये में भुनाने दिया जाय। (४) बंबई में फिर सोने की टकसाल खोली जाय; और जो लोग सोना दें, उन्हें बदले में सावरेन ढालकर दिये जायँ। (५) चाँदी के आयात पर से सरकारी रोक, कुछ दिन बाद, उठा ली जाय, परन्तु उसकी निर्यात पर जारी रखी जाय। (६) प्रजा को अपनी पसन्द का सिक्का या नोट मिलना चाहिए, परन्तु अच्छा तो यही होगा कि विदेशी भुगतान के लिए सोना काम में लाया जाय, और देश में नोटों तथा रुपयों का विशेष व्यवहार रहे। (७) सरकार नोटों के बदले में रुपया देने के लिए सदा तैयार रहे।

श्री० दलाल की सलाह—(१) रुपये और सावरेन का भाव पहले-जैसा ही रखा जाय, १५ रु० का एक सावरेन रहे अर्थात् भारतवर्ष की विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पेंस हो। (२) प्रजा को, सोना और उसके सिक्के तथा चाँदी मँगाने और बाहर भेजने का बे-रोक-टोक अधिकार दिया जाय। (३) सरकार बम्बई की टकसाल में, बिना कुछ लिये ही, सोने के बदले में सावरेन ढालकर दिया करे। (४) रुपये में १६५ ग्रेन चाँदी रहती है। जब तक न्यूयार्क में चाँदी का भाव फी औंस ९२ सेंट* से उपर रहे, तब तक सरकार रुपये न ढाले, और एक अन्य

* भारतवर्ष में, उस समय के हिसाब से, लगभग साढ़े सतरह आने फी तोला।

सिक्का जारी करे, जिसका बाजारू मूल्य २ रु० हो। रुपये में अब जितनी चाँदी रहती है, उस नये सिक्के में उससे दुगनी न हो—कुछ कम हो। (५) प्रजा का प्रचलित सिक्के ढलवाने का जो अधिकार प्राचीन काल से रहा है, वह पुनः दिया जाय। (६) करेंसी-नोट भारतवर्ष में छपें। एक रुपये वाले नोट बंद कर दिये जायँ, और फिर कभी उन्हें जारी न किया जाय। (७) पेपर-करेंसी रिजर्व का जो धन इङ्गलैंड में रहता है, वह भारत में रखा जाय।

भारत-सरकार का निर्णय—भारत-मन्त्री ने श्रीयुत दलाल की सलाह न मानकर बहुमत की ही सलाह को स्वीकार किया। और, भारत-मन्त्री के आज्ञानुसार भारत-सरकार ने अपनी सूचनाएँ प्रकाशित कीं। सावरेन का क़ानूनी भाव दस रुपये कर दिया गया। सोने का आयात कुछ समय के लिए सरकार ने अपने हाथ में रखा, जिससे यहाँ सोना लाकर उसका भाव गिरा दिया जाय। सावरेन और आधे सावरेन के बदले में रुपया देना बंद कर दिया गया। चाँदी के आयात पर का चार आने फी-औंस कर उठा दिया गया, परन्तु निर्यात पर कर जारी रहा। सावरेन और रुपये को, सिक्के के सिवा और किसी काम में लाने की निषेधात्मक सरकारी आज्ञा वापस ले ली गयी। यह भी निश्चय किया कि सरकार को खास अपने काम के लिए जितनी हुंडियाँ करना आवश्यक होंगी, उतनी ही की जायँगी।

इसका परिणाम—जिस समय करेंसी कमेटी ने इस प्रश्न पर विचार करना आरम्भ किया था, यहाँ रुपये की दर बहुत बढ़ी हुई थी, तथा बढ़ती जा रही थी। परन्तु वह वृद्धि स्थाई नहीं थी। दर बढ़ने का विशेष कारण था, युद्ध-काल में भारत से इंगलैंड को माल बहुत अधिक गया, तथा वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका। पीछे इस स्थिति का बदलना अनिवार्य था, और वह बदली। अस्तु, अस्थाई स्थिति लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त स्थाई व्यवस्था का किया

जाना अनुचित था। अतः सरकार के इस निर्णय का घोर विरोध हुआ। साधारण नियम है कि जिस देश की मुद्रा की दर अन्य देशों की मुद्रा की तुलना में कुछ नीची होती है, उस देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संतुलन उसके पक्ष में होता है, अर्थात् उसकी निर्यात अधिक होती है, और आयात कम होती है। भारत-सरकार का रुपये की ऊँची दर कायम करने का उपर्युक्त निर्णय इस देश के लिए बहुत हानिकर सिद्ध हुआ; यहाँ का निर्यात-व्यापार बहुत घट गया और व्यापार-संतुलन इस देश के विपक्ष में हो गया। देश को प्रति वर्ष बहुत हानि उठानी पड़ी। विनिमय की दर में कमी करने की माँग उत्तरोत्तर प्रबल होने लगी।

हिलटन-यंग कमीशन—आरम्भ में सरकार ने कुछ ध्यान न दिया। जनता का असंतोष तथा हानि बढ़ती गयी। अन्त में अगस्त सन् १६२५ ई० में, जब कि सरकार ने यह समझा कि परिस्थिति काफी स्थाई हो गयी है, मुद्रा तथा विनिमय पर विचार करने के लिए एक शाही कमीशन नियत किया गया, जो अपने सभापति के नाम से हिलटन-यंग कमीशन कहलाया। इसकी रिपोर्ट अगस्त सन् १६२६ ई० में प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का मत-भेद था।

कमीशन (के बहुमत) ने भारतवर्ष में सोने के सिक्के का प्रचलन उचित नहीं समझा, और न यही कि रुपये के बदले में सोने का निर्धारित परिमाण कानून से निश्चित किया जाय। उसकी सिफारिशों में से मुख्य ये थीं :—१—रुपये की विनिमय-दर एक शिलिंग छः पेंस हो। २—कागजी-मुद्रा-कोष और मुद्रा-ढलाई-लाभ कोष मिलाकर इकट्ठे रखे जायँ। ३—रिजर्व-बैंक स्थापित किया जाय।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का विशेष विरोध भारतीय विनिमय-दर के सम्बन्ध में था। उनका मत था कि सितम्बर १६२४ ई० में रुपये की दर लगभग एक शिलिङ्ग चार पेंस थी, और यही दर अधिक उपयुक्त

एवं स्थाई है, तथा भारतवर्ष के हित की दृष्टि से उचित है।

सरकार ने कमीशन के बहुमत की रिपोर्ट पसन्द की और उसके आधार पर जनवरी १९२७ में तीन कानूनों के मसविदे प्रकाशित किये, जिनके उद्देश्य ये थे:—(१) ब्रटिश भारत के लिए स्वर्ण-परिमाण-मुद्रा का चलन और रिजर्व बैङ्क की स्थापना। (२) सन् १९२० ई० के इंपीरियल-बैङ्क-कानून का संशोधन, और (३) सन् १९०६ ई० के मुद्रा-कानून तथा १९२३ ई० के कागजी-मुद्रा-कानून का संशोधन। नया मुद्रा-कानून अप्रेल सन् १९२७ ई० से अमल में आया; इसके अनुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन कानून-ग्राह्य सिक्के न रहे। रुपये की दर एक शिलिंग छः पेंस निर्धारित कर दी गयी।

२१ सितम्बर १९३१ ई० से ब्रिटिश सरकार ने इङ्गलैण्ड में सोने के प्रामाणिक सिक्के का प्रचार स्थगित कर दिया। उस समय से कागजी पौंड की दर स्वर्ण-पौंड से भिन्न हो गयी है। अब एक कागजी पौंड के बदले उतना सोना नहीं मिलता, जिसका मूल्य एक स्वर्ण-पौंड के बराबर हो। भारत की विनिमय-दर भी कागजी पौंड के साथ ही स्थिर की गयी है, वह एक शिलिङ्ग छः पेंस स्टर्लिंग (कागजी पौंड) के बराबर रखी गयी है। भारतीय नेताओं का मत है कि यह दर एक शिलिङ्ग चार पेंस हो।

विनिमय-दर ऊँची होने का प्रभाव—भारत-मन्त्री और भारत सरकार की राय में भारतवर्ष की विनिमय-दर ऊँची रहने से इस देश को लाभ है। रुपये का भाव सोने और सावरेन में बढ़ जाने अर्थात् १६ पेंस के बदले १८ पेंस रहने के पक्ष में ये बातें कही जा सकती हैं—विलायती माल का भुगतान करने में, रुपया कम देना होता है, विदेशी माल सस्ता पड़ता है, और मशीन आदि मँगाने में कम व्यय होने से यहाँ के व्यवसाय को सहायता मिलती है। (२) होम-चार्जेज का भुगतान थोड़े रुपयों में ही हो जाने से प्रति वर्ष कई

करोड़ रुपये की बचत होती है। (३) भारतवर्ष में बहुत-सी विदेशी वस्तुओं का उपभोग होता है; विनिमय-दर ऊँची रहने से वे वस्तुएँ यहाँ कम मूल्य में मिलती हैं। (४) जिन भारतीयों को इङ्गलैण्ड आदि विदेश में रुपया देना होता है, वे अपेक्षाकृत कम रुपया देकर ही अपने ऋण से मुक्त हो सकते हैं। (५) अंगरेजों या अन्य देश-वालों की बचत या पेंशन आदि का रुपया यहाँ से बाहर भेजने में उन्हें या उनके परिवारवालों को अपेक्षाकृत अधिक धन मिलता है।

यह तो हुई लाभ की बात; अब हानि का विचार कीजिए। (१) भारत की विनिमय-दर बढ़ी होने से जर्मनी आदि योरपीय देश तथा अमरीका भारतवर्ष का माल कम खरीदते हैं, इसका प्रभाव विशेषतया भारत के गरीब ग्रामीणों पर पड़ता है, कारण कि यहाँ से अधिकाँश में कच्चे माल की निर्यात होती है, और कच्चा माल पैदा करनेवाले निर्धन किसान ही हैं। भारतवर्ष के प्रचलित सिक्के का मूल्य बढ़ा हुआ होने से विदेशी व्यापारी भारतीय माल के स्थान पर अन्य देशों का माल खरीदते हैं। गत वर्षों में रुई और चावल के व्यवसाय को भारी क्षति पहुँची है। (२) भारतवर्ष में स्वदेशी माल अपेक्षाकृत महँगा पड़ता है, उसका उपभोग करनेवालों को अधिक द्रव्य खर्च करना होता है। (३) जिन्हें विदेशवालों से रुपया लेना होता है, उन्हें अपने द्रव्य के बदले कम रुपया मिलता है। (४) विलायती माल सस्ता होने से उसकी खपत यहाँ बढ़ जाती है, और स्वदेशी व्यवसायों को धक्का पहुँचता है। हमें वैसा सस्ता माल बनाने का अवसर नहीं मिलता, इससे हमारे उद्योग-धन्धों को बहुत हानि होती है। (५) जो सावरेन या सोना यहाँ सरकारी कोषों में रखा हुआ है, उसका मूल्य घट जाने से हमें करोड़ों रुपये की हानि होती है।

इस प्रकार यद्यपि विनिमय की दर ऊँची होने से कुछ लाभ भी है, किन्तु उस लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। भारतीय नेताओं का मत है कि यहाँ विनिमय की दर कम, अर्थात् एक शिलिंग चार पेंस

होनी चाहिए। इससे देश के औद्योगिककरण में सहायता मिलेगी और उसकी आर्थिक उन्नति होगी। इसके लिए कुछ लोगों की थोड़ी-बहुत हानि हो तो वह सहन की जानी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—जापान, जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड आदि कई देशों ने अपने यहाँ प्रामाणिक सिक्का बंद करके, कागजी सिक्के का खूब प्रचार कर दिया है, जिसका मूल्य, सोने में, बहुत कम है। वे देश स्वतन्त्र हैं, उनकी सरकार उनके देश के हित को लक्ष्य में रख कर अपनी अर्थ-नीति में समयानुसार परिवर्तन करती रहती है। भारत-वर्ष में यह बात नहीं। यहाँ सरकार भारतीय जनता के प्रति उत्तरदाई नहीं है, और वह ब्रिटिश हित की अवहेलना नहीं कर सकती। उसे ब्रिटिश अधिकारियों के रुख को देखकर अपनी नीति स्थिर करनी होती है। यही कारण है कि भारत-सरकार पर भारतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा बारबार जोर डाले जाने पर भी उसने रुपये का दर अठारह पेंस से घटाकर सोलह पेंस करना स्वीकार नहीं किया। अधिकारी यही कहते हैं कि वे यहाँ की प्रचलित विनिमय-दर को स्वाभाविक और श्रेष्ठ समझते हैं। परन्तु वे केवल प्रयोग के लिए भी दर को घटा कर अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने को तैयार नहीं है। वास्तव में भारतीय हित की दृष्टि से काम होने की आशा, भारत-सरकार के, भारतीय जनता के प्रति, उत्तरदाई होने पर ही, हो सकती है।

युद्ध और विनिमय-दर—युद्ध का विनिमय-दर पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानने के लिए तीन दशाएँ विचारणीय होती हैं —(१) उन दो देशों की विनिमय-दर जो लड़ाई में भाग लेते हैं, और एक-दूसरे के शत्रु होते हैं। इन देशों में पारस्परिक व्यापार बन्द हो जाता है, इसलिए इनकी कोई विनिमय-दर नहीं रहती। (२) उन दो देशों की विनिमय-दर जो लड़ाई में भाग लेते हैं, परन्तु जो एक ही पक्ष के होते हैं, अर्थात् परस्पर में मित्र होते हैं। युद्ध में संलग्न प्रत्येक देश को

अपनी, विशेषतया कागजी मुद्रा बढ़ाने की आवश्यकता होती है। इस मुद्रा का जितना अधिक प्रसार होगा उतनी ही उसकी कीमत अन्य मुद्राओं तथा पदार्थों में कम होती जाती है। इस प्रकार युद्ध में भाग लेनेवाले एक ही पक्ष के दो देशों की मुद्रा की विनिमय-दर घटती-बढ़ती रहती है, और यह घट-बढ़ इस बात पर निर्भर होती है कि उक्त देशों ने अपनी कागजी मुद्रा का प्रसार कहाँ तक किया है, और ऐसा करने से उनकी मुद्राओं की कीमत कहाँ तक घटती है। (३) उन दो देशों की विनिमय-दर जिनमें से एक युद्ध में संलग्न हो और दूसरा तटस्थ हो अर्थात् युद्ध में भाग न ले रहा हो। इन दो देशों की विनिमय-दर युद्ध में संलग्न देश की कागजी मुद्रा की कीमत की घटबढ़ पर निर्भर होती है।



सोलहवाँ अध्याय

बैंक

—०—

इस अध्याय में भारतवर्ष के विविध प्रकार के बैंकों के सम्बन्ध में विचार करना है। बैंकों का काम साख पर निर्भर होता है, इसलिए पहले उसके विषय में लिखा जाता है।

साख का महत्व—हम कागजी मुद्रा के प्रसंग में यह कह आये हैं कि नोट आदि केवल साख की बदौलत ही सिक्कों का काम देते हैं। साख या विश्वास का मतलब उधार लेने की योग्यता या सामर्थ्य से है। जिस आदमी की साख अच्छी है, अर्थात् रुपया वादे पर दे देने का, जिसका विश्वास किया जाता है, उसीको ऋण आसानी से और कम सूद पर मिल सकता है। इसके विपरीत, जिसकी साख नहीं है, या कम है, उसे ऋण नहीं मिलता, या बहुत ब्याज पर मिलता

है; क्योंकि ऋण देनेवालों को, रुपया वापिस मिलने का भरोसा नहीं होता। कभी ऋण लेनेवाला अपने किसी मिलनेवाले विश्वासी आदमी की जमानत देता है, और कभी वह जमीन, मकान, जेवर आदि चीजें गिरवी रखता है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'जाय लाख, रहे साख।' व्यवसाय में साख निस्संदेह एक बड़ी पूँजी का काम देती है। व्यवसायी अपनी साख के बल पर माल खरीदकर, उस पर उतना ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेता है, जितना नकद रुपया देकर खरीदने से प्राप्त करता। साख के प्रभाव से सोने-चाँदी के सिक्कों की जरूरत कम हो जाती है; उनका बहुत सा काम नोट और हुंडी आदि से निकलता है। साख से ही महाजनी और बैंकिङ्ग का काम चलता है।

महाजनी—वास्तव में बैंकिंग तो आधुनिक काल की ही चीज़ है। पहले यहाँ विशेषतया महाजनी का चलन था। महाजनी को देशी ('इंडीजीनस') बैंकिंग कहा जाता है। बैंकिंग और महाजनी में अन्तर केवल यही है कि बैंक औरों से सूद पर रुपया कर्ज लेकर भी सूद पर उठाता है; पर महाजन पहले कर्ज नहीं लेते थे, वे अपने ही अथवा दूसरों के (बिना ब्याज पर रखे हुए) रुपये को सूद पर उठाते थे। इस प्रकार महाजन सूद लेते थे, पर देते नहीं थे। अब तो सूद देने भी लगे हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न जातियों के आदमी—विशेषतया मारवाड़ी, भाटिए, पारसी या दक्षिण-भारत के चेटी—लेन-देन करते हैं। महाजन लोग दूसरों का रुपया जमा करते हैं, हुंडी-पुर्जे का व्यवहार करते हैं, जेवर गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं, और सोना चाँदी, या इन धातुओं की चीजें खरीदते हैं। हुंडियों का यहाँ प्राचीन काल से ही खूब चलन है। वे महाजनी या सर्राफी नाम की एक विशेष लिपि में लिखी जाती हैं। शहरों में बैंकों के कारण महाजनी का काम कम हो गया है, किन्तु छोटे कस्बों और देहातों में अब भी बहुत होता है। छोटे व्यापारियों या कृषकों की पहुँच बड़े-बड़े बैंकों तक नहीं होती, उन्हें महाजनों द्वारा देश के भीतरी कारोबार में अच्छी सहायता मिलती है।

महाजन की सूद की दर अधिक होती है और कुछ दशाओं में तो बहुत ही ऊँची होती है। उसकी सूदखोरी की ही नहीं, बेईमानी करने या हिसाब ठीक न रखने की शिकायतें भी बहुधा प्रकाश में आती हैं। कई प्रान्तों में उस पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। परन्तु इससे समस्या हल नहीं होती। जब तक किसान की आर्थिक उन्नति तथा साख की उचित व्यवस्था नहीं होती, वह महाजन के आसरे रहेगा ही।

महाजन लेन-देन के अलावा व्यापार का कार्य भी करता है। केन्द्रीय बैंकिङ्ग कमेटी ने सिफारिश की थी कि महाजन केवल बैंकिङ्ग का ही धंधा करें, हिसाब ठीक-ठीक रखें, और रिजर्व बैंक उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करे, जैसा अन्य मिश्रित पूँजी के बैंकों से करता है, अर्थात् उन्हें अपने विश्वास के बैंकों की सूची में सम्मिलित करे, और उनकी सही की हुई हुंडियों को भुनाये तथा अन्य सुविधाएँ दे। ये बातें कार्य में परिणत नहीं हुईं। महाजन के सम्बन्ध में कुछ चर्चा आगे सूद के अध्याय में की जायगी।

बैंक—बैंकों का काम रुपया जमा करना, व्याज पर उधार लेना और देना, तथा हुंडी-पुर्जे, चेक या नोट आदि खरीदना और बेचना है। जो लोग अपनी बचत का कोई अन्य उपयोग नहीं कर सकते, या नहीं करना चाहते, उनसे बैंक कुछ कम सूद पर रुपया उधार ले लेते हैं, और ऐसे आदमियों को कुछ अधिक सूद पर उधार दे देते हैं, जो उस धन से कोई लाभदायक व्यवसाय चलाना चाहते हो। बैङ्क में जितने अधिक समय के लिए रुपया जमा किया जाता है, सूद उतना ही अधिक मिलता है; क्योंकि बैङ्कवाले उस रुपये से उतना ही अधिक लाभ उठा सकते हैं। जमा करनेवाले सब लोग अपना रुपया प्रायः एक ही साथ वापिस नहीं लेते; कुछ आदमी वापिस लेते हैं तो दूसरे जमा भी करते हैं। बैंकवाले अपने अनुभव से यह जान लेते हैं कि उन्हें जमा करनेवालों का भुगतान करने के लिए कितना रुपया हरवक्त तैयार रखने का प्रबन्ध करना चाहिए। इतना रुपया अपने पास रखकर, शेष रुपया

वे उत्पादक कार्यों में लगाते हैं।

बैंकों के भेद—भारतवर्ष में आधुनिक बैंकों के निम्नलिखित भेद हैं :—

१—सहकारी बैंक—(क) सहकारी साख-समितियाँ, (ख) सेंट्रल या जिला सहकारी बैंक, (ग) प्रांतीय सहकारी बैंक, और, (घ) भूमि-बंधक बैंक।

२—पोस्ट-आफिस सेविंग बैंक।

३—मिश्रित पूँजी के बैंक।

४—इंपीरियल बैंक।

५—रिजर्व बैंक।

६—एक्सचेंज बैंक।

सहकारिता—सहकारी बैंकों के विविध भेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पहले सहकारिता की उपयोगिता जान लेनी चाहिए। भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार सहकारिता के कई भेद हो सकते हैं। अर्थशास्त्र में इसके मुख्य तीन भेद हैं—उत्पादिकों की सहकारिता, उपभोक्ताओं की सहकारिता, और साख की सहकारिता। भारतवर्ष में साख की ही सहकारिता अधिक प्रचलित है, और इस अध्याय का विषय बैंक होने के कारण हमें यहाँ इसी का विचार करना है। अस्तु, जो पूँजी किसी व्यक्ति को, अकेले उसकी साख पर, कभी-कभी बहुत कष्ट उठाने तथा प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सकती, उसे कई मनुष्य मिलकर, सबकी साख के बल पर, कम व्याज पर, आसानी से और यथेष्ट मात्रा में ले सकते हैं। इस प्रकार साख के सम्बन्ध में सहकारिता का बड़ा महत्व है। भारतीय किसान जैसे निर्धन लोगों के लिए तो साख की सहकारिता बहुत ही उपयोगी है।

सहकारी साख-समितियाँ—यहाँ सहकारी साख-समितियों की स्थापना सब से पहले संयुक्तप्रान्त में, सन् १९०१ में हुई। इनके

सम्बन्ध में, भारत-सरकार द्वारा पहला कानून सन् १६०४ ई० में बनाया गया। इसके अनुसार हर एक प्रान्त के लिए एक-एक रजिस्ट्रार, सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देने के लिए, नियत हुआ। समितियाँ दो तरह की खोली गयीं—(१) किसानों के लिए और (२) शहर में रहनेवाले गरीब लोगों के लिए। यह नियम बनाया गया कि किसी गाँव या शहर में एक ही जाति या पेशे के कम-से-कम दस आदमी मिलकर अपनी एक सहकारी समिति बना सकते हैं। समिति के सदस्य वे हों, जो एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हों। कृषि-साख-समितियों का प्रत्येक सदस्य अपनी समिति का कुल कर्ज चुकाने के लिए जिम्मेदार हो, अर्थात् वे समितियाँ अपरिमित देनदारी के सिद्धान्त पर चलायी जायँ; और, नगर-साख-समियाँ परिमित देनदारी के सिद्धान्त पर।

कुछ अनुभव के बाद सन् १६१२ ई० में सहकारी समितियों का दूसरा कानून पास हुआ, जिसकी कुछ मुख्य बातें ये हैं—(क) देहाती और नागरिक समितियों का भेद दूर कर दिया गया। (ख) सहकारी साख समितियों के अतिरिक्त अन्य समितियाँ भी बनायी जाने की योजना कर दी गयी। (ग) केन्द्रीय संस्था के लिए परिमित देनदारी का सिद्धांत जारी किया गया, बशर्ते कि उससे कम-से-कम एक रजिस्टर्ड समिति सम्बद्ध हो। (घ) सरकार ने मुनाफे के बँटवारे का नियंत्रण और निरीक्षण अपने हाथ में ले लिया। बचत-कोष में काफी रकम जमा हो जाने पर मुनाफे का कुछ हिस्सा सभासदों को, बाँटे जाने की, और उसकी दस फी-सदी तक रकम दान-धर्म में दी जाने की, व्यवस्था की गयी। (च) 'सहकारी' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं समितियों के सम्बन्ध में किया जाने का नियम हुआ, जिनकी रजिस्टरी हो चुकी हो।

ब्रिटिश भारत में, और देशी रियासतों में भी, सहकारी समितियों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी—खासकर किसानों में इनका अधिक

प्रचार हुआ। सन् १९१४ ई० में सरकार ने सर एडवर्ड मेकलेगन के सभापतित्व में एक कमेटी कायम करके सहकारिता सम्बन्धी विषयों की जाँच करायी। सन् १९१९ ई० के शासन-विधान के अनुसार सहकारिता का विषय प्रान्तीय सरकारों को हस्तांतरित कर दिया गया। बम्बई प्रान्त की सरकार ने सन् १९२५ ई० में, और मदरास ने सन् १९३२ में अपने प्रान्त के लिए सहकारिता का पृथक् कानून बनाया। बिहार, संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रांत की सरकारों ने भी अपने-अपने प्रांत के लिए सन् १९१२ ई० के सहकारिता-कानून में कुछ संशोधन किया। सन् १९२६ ई० के शाही कृषि-कमीशन की सिफ़ारिशों से, तथा 'सेंट्रल-बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी' की अधीनता में नियुक्त प्रांतीय कमेटियों की जाँच के फल-स्वरूप भी कुछ सुधार हुए। भिन्न-भिन्न प्रांतों के कृषि-विभाग भी सहकारिता के सिद्धांतों के प्रचार में योग दे रहे हैं।

सेंट्रल और प्रांतीय सहकारी बैंक—सहकारी साख-समितियों की केंद्रीय संस्था 'सेंट्रल बैंक' कहलाती है। ये बैंक एक ज़िले या उसके किसी हिस्से की सहकारी समितियों की सहायता करते हैं। ये ब्रिटिश भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में हैं। कुछ सेंट्रल बैंक देशी रियासतों में भी हैं। इनका प्रधान कार्यालय बहुधा जिले के सदर-मुकाम में होता है। ये प्रायः परिमित देनदारी का व्यवहार रखते हैं, और इनकी पूँजी हिस्सों (शेयरों) द्वारा प्राप्त होती है। इनके सदस्य, सहकारी समितियों के अलावा दूसरे आदमी भी हो सकते हैं। ये सर्वसाधारण की अमानतें, मामूली सूद पर जमा करते हैं। ये अपने जिले की ग्राम-सहकारी-समितियों को, कुछ अधिक व्याज पर, रुपया उधार देते हैं। इन्हें जो लाभ रहता है, उसे ये निर्धारित नियमों के अनुसार अपने हिस्सेदारों में बाँट देते हैं। सेंट्रल बैंक और ग्राम-सहकारी-समितियों के बीच कहीं-कहीं 'गारंटी-यूनियन' होते हैं, जो अपनी सिफारिश से समितियों को सेंट्रल बैंक द्वारा ऋण दिलाते हैं। कुछ प्रांतों में प्रांतीय सहकारी बैंक

हैं। ये सेंट्रल बैंकों की सहायता तथा नियंत्रण करते हैं, तथा अन्य बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं, जैसे लोगों की, आभूषण आदि संपत्ति गिरवी रखकर रुपया उधार देना, तथा चेक और हुंडी का भुगतान आदि। इन बैंकों का इम्पीरियल बैंक, मिश्रित पूँजी के बैंक, तथा रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध है; और ये उनसे सहायता लेते हैं।

सहकारी बैंकों का प्रबंध प्रायः स्थानीय आदमी करते हैं। वे अपनी सेवाओं के बदले कुछ (रुपया) नहीं लेते। इन बैंकों की आय पर सरकार कोई कर आदि नहीं लेती। यदि कोई किसान किसी सहकारी बैंक का ऋण अदा न कर सके, तो सरकारी लगान दे चुकने पर बैंक का अधिकार किसान की जायदाद पर अन्य सब लेनदारों से पहले होता है।

इन बैंकों से कई लाभ हैं—(१) ये गरीब किसानों को कम सूद पर आवश्यक पूँजी दे सकते हैं। (२) ये बैंक केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही उधार देते हैं, इसलिए इनसे धन लेकर किसान लोग फिजूलखर्ची नहीं कर सकते। (३) किसानों और मजदूरों आदि की बचत इन बैंकों में रखी जा सकती है। इनमें व्याज अधिक मिलता है। (४) इन बैंकों से लोगों का एक दूसरे में विश्वास और सहायता का भाव बढ़ने के साथ-ही-साथ उनमें दूरदर्शिता और मितव्ययिता आदि गुणों का भी विकास होता है।

सहकारी समितियों और बैंकों का प्रधान उद्देश्य है, भारतीय किसानों की कर्जदारी दूर करना और उन्हें आर्थिक सहायता देना। यद्यपि इनके क्षेत्र में वृद्धि हो रही है, तथापि ये भारतवर्ष भर की आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्ति करती हैं, यह विचारणीय है। सन् १९४०-४१ ई० में इनकी संख्या १,४२,५१३ थी, और इनके सदस्यों की कुल संख्या ६४ लाख थी। समिति की सहायता, सभासद के अतिरिक्त, कुछ अंश में उसके कुटुम्ब को भी मिलती है। अब यदि एक कुटुम्ब में पाँच आदमियों का औसत माना

जाय तो कुल सहकारी समितियों द्वारा सवा तीन करोड़ आदमियों का थोड़ा-बहुत हितसाधन होता है। अतः भारतीय किसानों की संख्या देखते हुए अभी इन समितियों और बैंकों की संख्या बहुत कम है। देश के शुभचिंतकों को इन्हें बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

भूमि-बंधक बैंक—किसानों को कुछ ऋण की, अधिक समय के लिए भी आवश्यकता होती है; उदाहरणवत् पुराना ऋण चुकाने के वास्ते, भूमि की चकबंदी करने, उसे उपजाऊ बनाने, और बैल या कीमती यंत्र आदि खरीदने के वास्ते। अधिक समय का ऋण, सहकारी साख-समितियाँ या बैंक नहीं दे सकते। इस कार्य के वास्ते भूमि-बंधक बैंक अधिक उपयुक्त हैं, जो कृषि-योग्य भूमि को रहन रखकर बीस-तीस वर्ष या इससे भी अधिक अवधि के लिए रुपया उधार दें और पीछे उस रकम को, बहुत साधारण व्याज सहित, छोटी-छोटी किस्तों में वसूल करें।

ये बैङ्क ऐसी छोटी-छोटी रकमों के डिबेंचरों (ऋण-पत्रों) द्वारा पूँजी संग्रह करते हैं; जिन्हें साधारण स्थिति के आदमी खरीद सकें। ये बैंक तीन प्रकार के होते हैं (१) सहकारी, (२) अर्द्ध सहकारी, और (३) गैर-सहकारी। ब्रिटिश भारत के सब प्रांतों में, सन् १९४०-४१ में कुल भूमि-बन्धक बैङ्क और सोसायटियाँ केवल २५२ थे, इनमें से भी ११६ अकेले मदरास प्रांत में थे। इनको पूर्णतः सहकारी नहीं कहा जा सकता, ये अर्द्ध-सहकारी हैं; कारण, यद्यपि इनके अधिकतर सदस्य इनसे ऋण लेनेवाले व्यक्ति होते हैं, कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं, जो ऋण नहीं लेते। इन सदस्यों को, बैङ्क के प्रबन्ध में सहायता पहुँचाने तथा पूँजी प्राप्त करने के लिए, बड़े व्यापारियों आदि में से लिया जाता है। ये बैंक परिमित देनदारी के होते हैं, ये लाभ का लक्ष्य रखकर काम नहीं करते, वरन् सूद की दर घटाने का प्रयत्न करते हैं। इन बैङ्कों का भी कार्य-क्षेत्र भारतवर्ष की कृषक जनता की आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम है।

पोस्ट-आफिस सेविंग-बैंक—यद्यपि जनता की बचत का रुपया जमा करने का खाता कुछ दूसरे बैंकों ने भी खोल रखा है, सिर्फ बचत जमा करने का कार्य, विशेषतया डाकखानों के सेविङ्ग-बैंक करते हैं। सरकारी सेविंग-बैङ्क पहले बम्बई, कलकत्ता और मदरास में थे, ये सन् १८३३ और १८३५ ई० के बीच में स्थापित हुए थे। सन् १८७० ई० में कुछ चुने हुए खजानों से सम्बन्धित जिला-सेविंग-बैङ्क खुले। डाकखाने के सेविङ्ग-बैङ्क सन् १८८२ ई० और सन् १८८३ ई० में भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में, खोले गये। तब से ये सरकारी सेविङ्ग-बैङ्कों का काम करने लगे। सन् १८८६ ई० में इनमें जिला-सेविङ्ग-बैंकों का हिसाब मिला दिया गया। सन् १८६६ ई० में प्रेसिडेंसी-सेविंग-बैङ्कों का काम भी इन्हीं में मिल गया।

इन बैंकों का काम क्रमशः बढ़ रहा है। शहर और कस्बे की तो बात ही क्या, बहुत से बड़े-बड़े गावों के डाकखानों में भी सेविङ्ग बैङ्क का काम होता है। इनमें चार आने तक छोटी रकम भी जमा हो सकती है। ३१ मार्च १६३६ ई० को इन बैङ्कों की संख्या १२,१०६ थी। इन में बियालीस लाख आदमियों का हिसाब था और कुल मिला कर लगभग ८२ करोड़ रुपया जमा था। ३१ मार्च १६४३ को इन बैङ्कों में २५,६४,००० आदमियों का हिसाब था, और इनका सवा बावन करोड़ रुपये जमा था। यह ठीक है कि अधिकाँश जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से उनकी बचत जमा करने की विशेष सामर्थ्य नहीं, तथापि इन बैङ्कों में जमा की रकम बढ़ने की बहुत गुँजायश है।

मिश्रित पूँजी वाले बैंक—मिश्रित पूँजी की कम्पनियों के सम्बन्ध में पहले (पाँचवें अध्याय में) लिखा जा चुका है। भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी के बैङ्क विशेषतया पिछले पैंतीस वर्षों में ही अधिक हुए हैं। सन् १६०५-०७ के स्वदेशी आन्दोलन से यहाँ औद्योगिक कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिये जाने के कारण इनकी अच्छी

उन्नति हुई। सन १९१३ और १९ ३ में कुछ बैंकों का दिवाला निकलने से इनके कार्य को धक्का पहुँचा, परन्तु उसका प्रभाव अस्थाई रहा है। साधारणतया इनकी वृद्धि ही हुई है।

कम्पनियों की रजिस्टरी की बात पहले बतायी जा चुकी है। सन् १९३६ के संशोधित कम्पनी-कानून के अनुसार अन्य प्रतिबन्ध विशेषतया निम्नलिखित हैं:—(१) किसी बैंकिंग कम्पनी का कोई मेनेजिंग एजन्ट नहीं होत; हाँ, कोई बैंकिंग कम्पनी दूसरी कम्पनी के लिए मेनेजिंग एजन्ट का काम कर सकती है। (२) कोई बैंकिंग कम्पनी अपना कारोबार उस समय तक आरम्भ नहीं कर सकती, जब तक कि उसके हिस्सों की बिक्री से कम-से-कम पचास हजार रुपये की रकम प्राप्त न हो जाय। (३) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपने घोषित मुनाफे का पाँचवाँ हिस्सा सुरक्षित कोष में उस समय तक जमा करते रहना होगा, जब तक कि सुरक्षित कोष का परिमाण, प्राप्त हिस्सा-पूँजी तक न हो जाय। (४) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को प्रत्येक शुक्रवार की अपनी लेनी और देनी का हिसाब रजिस्ट्रार के पास हर महीने दस तारीख तक भेजना होगा, और उसे अपनी तात्कालिक या दर्शनी देनी का पाँच फी सदी, और मुद्दती देनी का डेढ़ फी सदी, रुपया नकद जमा रखना होगा।

सन् १९३८-३९ में मिश्रित पूँजी की कम्पनियों की संख्या दस हजार, और इनकी प्राप्त पूँजी पौने तीन करोड़ रुपये थी।

इम्पीरियल बैंक—इस बैंक की स्थापना सन् १९२० के कानून के अनुसार, १९२१ में बंगाल, बम्बई और मदरास के प्रेसीडेन्सी-बैंकों को मिला देने से हुई। उन तीनों बैंकों के संचालक-बोर्ड इस बैंक के स्थानीय बोर्ड बन गये। इम्पीरियल-बैंक-कानून का संशोधन १९३४ में हुआ और १९३५ में अमल में आया। अब इस बैंक का प्रबन्ध करनेवाले सेंट्रल बोर्ड में निम्नलिखित सदस्य होते हैं:—(क) तीनों स्थानीय बोर्डों के सभापति, उपसभापति और सेक्रेटरी, (ख)

तीनों स्थानीय बोर्डों के सदस्यों में से निर्वाचित एक-एक सदस्य, (ग) सेंट्रल बोर्ड द्वारा नियुक्त एक मेनेजिंग डायरेक्टर और एक डिप्टी मेनेजिंग डायरेक्टर, (घ) केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त गैर-सरकारी सदस्य जिन की संख्या दो से अधिक न हो। स्थानीय बोर्डों के डिप्टी मेनेजिंग डायरेक्टर और सेक्रेटरी सेंट्रल बोर्ड की मीटिंग में उपस्थित हो सकते हैं, पर उन्हें मत देने का अधिकार नहीं होता। केन्द्रीय सरकार एक सरकारी व्यक्ति को सेंट्रल बोर्ड की सभाओं में उपस्थित होने के लिए नामजद करती है, जिसे मत देने का अधिकार नहीं होता।

इम्पीरियल बैंक के मुख्य-मुख्य कार्य अब निम्नलिखित हैं:—

१—रिजर्व बैंक के हिस्सों, सरकार से सहायता-प्राप्त रेलवे कम्पनियों के ऋण-पत्रों (सिक्यूरिटियों), और मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों के ऋण-पत्रों (डिबेंचर) की जमानतों पर ऋण देना।

२—डिबेंचर या अन्य सिक्यूरिटियाँ बेचना।

३—प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति से कोर्ट-आफ-वार्ड्स के कृषि-कार्य के लिए, अधिक-से-अधिक नौ महीने के वास्ते, ऋण देना।

४—हुंडियाँ या अन्य साख-पत्र जारी करना, सकारना, क्रय-विक्रय करना।

५—सोना चाँदी क्रय-विक्रय करना, दूसरों का रुपया जमा करना, सुरक्षित रखने के लिए ऋण-पत्र लेना, कृषि के वास्ते नौ मास तक के लिए और अन्य कार्यों के लिए छः मास तक के लिए उन हुंडियों को खरीदना और जारी करना, जो देश से बाहर भुगतायी जायँ।

६—बैंक की सम्पत्ति के आधार पर उधार लेना और प्रायः अन्य सब बैंकिंग कार्य करना, जिनमें विदेशी विनिमय का कारोबार भी सम्मिलित है।

बैङ्क के कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध भी हैं यह कोर्ट-आफ-वार्ड्स के अतिरिक्त, और किसी को अपने ही हिस्सों अथवा अचल सम्पत्ति के

आधार पर कर्ज नहीं दे सकता। यह एक निर्धारित परिमाण से अधिक रुपया उधार नहीं दे सकता। साधारण दशाओं में यह व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं दे सकता और साख-पत्र नहीं भुना सकता।

इंपीरियल बैंक की, देश के भिन्न-भिन्न भागों में लगभग पौने दो सौ शाखाएँ हैं। सन् १९३४ ई० तक यही भारतवर्ष का सबसे बड़ा बैङ्क था। यह बैङ्क सरकार के बैंकिङ्ग कार्य करने का एकमात्र अधिकारी था, यह तमाम सरकारी अमानतों को बिना-व्याज जमा करता था; जहाँ-जहाँ इसकी शाखाएँ थीं, वहाँ सरकारी कोषाध्यक्ष का कार्य करता था और सरकार के खाते में जमा होनेवाली रकमें सर्वसाधारण से वसूल करता था। यह भारत-सरकार के सार्वजनिक ऋण का प्रबंध करता था।

सन् १९३५ ई० में, यहाँ भारतवर्ष के सर्वोच्च केंद्रीय बैंक के रूप में, रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर इंपीरियल बैंक ब्रिटिश भारत के उन स्थानों में रिजर्व बैङ्क का एकमात्र एजंट है, जहाँ रिजर्व बैंक की कोई शाखा न हो और इंपीरियल बैंक की शाखा हो। रिजर्व बैंक की स्थापना के समय इंपीरियल बैंक की जितनी शाखाएँ थीं, उतनी शाखाएँ इसे जारी रखनी होती हैं। इन कार्यों के लिए रिजर्व बैङ्क इंपीरियल बैंक को निर्धारित रुपया देता है। यदि इंपीरियल बैंक अपनी किसी शाखा के बदले दूसरी शाखा स्थापित करे तो उसे रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी होती है।

३१ दिसम्बर १९४३ को इस बैंक में कुल २१४ करोड़ रुपये जमा था, इसमें से १२७ करोड़ तो भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों में लगा हुआ था, ४० करोड़ रुपया लोगों को उधार दिया हुआ था, और ५४ करोड़ रुपया नकद था। बैंक का रिजर्व फंड ५८५ लाख रुपया और पूँजी ५६२ लाख रुपये थी।

रिजर्व बैंक—इस बैंक की स्थापना का विचार कई वर्ष पहले से था, अंततः इसका कानून सन् १९३४ ई० में बनाया गया। यह

शेयरहोल्डरों का बैंक हैं। भारतीय जनता के प्रतिनिधि चाहते थे कि इसे 'स्टेट-बैंक' बनाया जाय, (क्योंकि हिस्सेदारों का बैंक होने से उस पर अधिकांश में विदेशी और कुछ थोड़े से भारतीय पूँजी-पतियों का नियन्त्रण रहेगा), पर उनकी इच्छा पूरी न हुई। इस बैंक की हिस्सा पूँजी पांच करोड़ रुपया है। एक-एक हिस्सा सौ-सौ रुपये का है, पांच हिस्से लेनेवाले को एक मत का अधिकार होता है और एक हिस्सेदार के अधिक से अधिक दस मत हो सकते हैं। हिस्सेदारों के लिए भारतवर्ष और बर्मा को पाँच क्षेत्रों में विभक्त किया गया है, जिनके केंद्रीय स्थान बम्बई, कलकत्ता, देहली, मदरास और रंगून हैं। इन पांच स्थानों में इस बैंक के कार्यालय हैं। प्रत्येक कार्यालय में उसके क्षेत्र के हिस्सेदारों का रजिस्टर रहता है। उक्त स्थानों के अतिरिक्त, बैंक की एक शाखा लन्दन में खोली गयी है। विदेशों में या, किसी अन्य स्थान में, इस बैंक की शाखा या एजंसी गवर्नरजनरल की स्वीकृति से ही खोली जा सकती है।

बैंक का निरीक्षण और संचालन सेन्ट्रल-बोर्ड नाम की कमेटी द्वारा होता है। इसमें निम्नलिखित संचालक ('डायरेक्टर') होते हैं:—(क) एक गवर्नर और दो डिप्टी-गवर्नर ; इनकी नियुक्ति बोर्ड की सिफारिश पर गवर्नर-जनरल करता है; ये अधिक-से-अधिक पाँच वर्ष के लिए अपने पद पर रहते हैं। (ख) चार संचालक, जिन्हें गवर्नर-जनरल नामजद करता है, और (ग) आठ संचालक, जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के हिस्सेदारों द्वारा इस हिसाब से चुने जाते हैं :—बंबई २, कलकत्ता २, देहली २, मदरास १, और रंगून १। बोर्ड के गवर्नर और डिप्टी-गवर्नर के वेतन, भत्ते और कार्य-काल का निश्चय गवर्नर-जनरल करता है। बम्बई, कलकत्ता, देहली, मदरास और रंगून में एक-एक स्थानीय बोर्ड, स्थानीय कार्य के लिए रहता है। स्थानीय बोर्ड के सदस्यों में से पाँच को उस क्षेत्र के हिस्सेदार आपस में से, निर्वाचित करते हैं, और तीन सदस्य सेंट्रल बोर्ड द्वारा नामजद होते हैं।

इस बैंक के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:—(१) आवश्यकतानुसार नोट जारी करना (२) भारत-सरकार, प्रांतीय-सरकारों और देशी राज्यों तथा किसी व्यक्ति के रुपये बिना व्याज जमा करना। (३) निर्धारित नियमों के अनुसार, विशेष दशाओं में अधिक-से-अधिक नौ मास की हुंडी सकारना। (४) देशी राज्यों, और स्थानीय-स्वराज्य-संस्थाओं को, तथा अन्य बैंकों को सिक्यूरिटियों, हुंडियों, या सोना-चाँदी की जमानत पर, और भारत-सरकार तथा प्रांतीय सरकारों को बिना जमानत, तीन मास तक के लिए, रुपया उधार देना। (५) भारत-सरकार, प्रांतीय सरकारों, देशी राज्यों, तथा स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं के लिए सोना-चाँदी खरीदना और बेचना। (६) सार्वजनिक ऋण का प्रवन्ध करना। (७) सरकार का लेन-देन सम्बन्धी कार्य करते हुए ब्रिटिश भारत की आर्थिक स्थिरता और साख बनाये रखना, लोगों को निर्धारित दर पर रुपये के बदले स्टर्लिंग (कागजी पौंड). और, स्टर्लिंग के बदले रुपये देना। (८) निर्धारित नियमों के अनुसार देश के बैंकों का रक्षित धन (रिजर्व) जमा रखना। (यह बैंकों का बैंक है, इसमें अन्य बैंकों का रुपया जमा रहता है, जिससे आवश्यकता होने पर यह उनकी सहायता कर सके, और उन्हें आर्थिक संकट से बचा सके)। (९) सहकारी बैंकों को निर्धारित नियमों के अनुसार. तीन मास तक के लिए रुपया उधार देना, और कृषि-साख विभाग रखना, जो कृषि-सहकारी-बैंकों के अधिकारियों और महाजनी सम्बन्धी अन्य संस्थाओं को परामर्श और सहायता दे।

यह बैंक अपना रुपया व्यापार या उद्योग धंधे में नहीं लगा सकता, अपने या किसी अन्य बैंक के शेयर नहीं खरीद सकता, न उन शेयरों की जमानत पर, अथवा अचल संपत्ति (भूमि, मकान आदि) की जमानत पर, रुपया उधार दे सकता है। यह बैंक मुद्दती हुंडी जारी नहीं कर सकता, और न किसी जमा पर व्याज दे सकता है।

३० जून १९४३ को इस बैंक के नोट-विभाग द्वारा ७४६ करोड़

रु० के नोट जारी किये हुए थे, और उनके बदले ५७८ करोड़ रु० की स्टर्लिंग सिक्यूरिटी, और ११२ करोड़ रु० की भारत-सरकार की सिक्यूरिटी थी, और शेष सोना चांदी तथा सिक्के थे। उस समय बैंक की पूँजी ५ करोड़, रिजर्व फंड पांच करोड़, और सरकारी जमा १६ करोड़ तथा दूसरे बैंकों की जमा ५८ करोड़ थी।

जनवरी १६४६ में जारी किये हुए आर्डिनेन्स के अनुसार भारत-सरकार रिज़र्व बैंक को किसी भी बैंक के हिसाब और काम काज की जांच का आदेश कर सकती है। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट पाने के बाद सरकार जिस बैंक के बारे में उचित समझे, उस बैंक को नयी रकम जमा करने के लिए मना कर सकती है, अथवा उसे गैर-कानूनी घोषित कर सकती है, या उसे कानूनी या स्वीकृत बैंकों की सूची से हटा सकती है।

रिजर्व बैंक के संगठन में भारतीय हितों को सुरक्षित रखने तथा बैंक पर भारतीयों का (भारतीय व्यवस्थापक सभा का) नियंत्रण रहने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके हिस्सेदार या संचालक अधिकतर भारतीय ही हों; तथा इस के द्वारा कृषि और उद्योग धन्धों को विशेष लाभ पहुँचता रहे, ऐसा नियम होना चाहिए।

एक्सचेंज बैंक—एक्सचेंज या विदेशी-विनिमय-बैंक उसे कहते हैं, जिसकी स्थापना या प्रधान कार्यालय भारत से बाहर हो, और जो भारतवर्ष के विदेशी व्यापार का भुगतान करें। इन बैंकों की स्थापना अस्सी वर्ष से हुई है। पहले योरपीय महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद भारतवर्ष का कई देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने के कारण, उन देशों को यहाँ अपनी शाखाएँ खोलने में प्रोत्साहन मिला; उससे यहाँ इन बैंकों की संख्या बढ़ी। अब इनकी कुल संख्या १७ है, जिनमें से केवल एक भारतीय है। इन बैंकों में से कई-एक का प्रधान कार्यालय लंदन में है, और, शेष का अन्य देशों में है। कुछ बैंक तो अपना अधिकांश

कारोबार भारतवर्ष में ही करते हैं, परन्तु अधिकांश उन बड़ी-बड़ी विदेशी बैंकिंग संस्थाओं की शाखाएँ और एजंसियाँ मात्र हैं, जो अपना कारोबार भिन्न-भिन्न देशों में करती हैं। इन बैंकों में से प्रत्येक की कुछ शाखाएँ भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित हैं।

भारत के विदेशी विनिमय-बैंक विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाते हैं, भारतवर्ष के निर्यात-कर्ताओं से हुंडियाँ खरीदते हैं, और व्याज काटकर उनका रुपया विलायती बैंकों से, अथवा समय पूरा होने पर स्वयं उन व्यापारियों से, लेते हैं। ये अपने लदन के कार्यालयों द्वारा इङ्गलैंड के निर्यात-कर्त्ताओं की हुंडियाँ भी मोल लेते हैं। इस प्रकार ये भारतवर्ष के आयात-व्यापार में भी भाग लेते है। निर्यात-व्यापार पर तो इनका आधिपत्य-सा है। इन बैंकों द्वारा यहाँ खरीदी गयी हुंडियों का रुपया इंगलैंड में, और इंगलैंड में खरीदी हुई हुंडियों का रुपया यहाँ मिल जाता है। कभी-कभी जल्दी के लिए तार द्वारा भी काम किया जाता है; इसे 'टेलिग्राफिक ट्रांसफर' कहते हैं।

बिदेशी विनिमय बैंकों में भारतवासियों की अमानत की रकम क्रमशः बढ़ती जा रही है। इस रकम का बहुत-थोड़ा भाग ये यहाँ रखते हैं; अधिकांश भाग को विदेश भेज कर, स्वयं लाभ उठाने के अतिरिक्त, विदेशी व्यापारियों और कल-कारखाने वालों को लाभ पहुँचाते हैं। जातीय पक्षपात रखने के कारण, ये भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्ति भी नहीं करते। इन का लक्ष्य अपना और अपने देश का स्वार्थ-सिद्ध करना होता है, ये भारतीय व्यापार से मनमाना लाभ उठाते हैं। इन पर भारत-सरकार का यथेष्ट प्रतिबन्ध नहीं है।

बीमा-कम्पनियाँ—बैंकों के प्रसंग में बीमा-कम्पनियों का भी विचार किया जाना आवश्यक है; कारण, ये लोगों को न केवल सेविंग-बैंकों की तरह, वरन् उनसे भी अधिक, बचत करने के लिए उत्साहित करती हैं; इसके अतिरिक्त ये जमा की हुई उस बचत के द्वारा उद्योग-धन्धा करनेवालों के डिबेंचर (ऋण-पत्र) खरीद कर उनके काम में भी

सहायक होती हैं। बीमा किसी वस्तु या प्राणी की, अग्नि या बाढ़ आदि से, सुरक्षा के लिए होता है।

भारतवर्ष में कुल बीमा-कम्पनियाँ सन् १९४३ के अन्त में ३१४ थीं; इनमें से २२० भारतीय थीं, और शेष विदेशी थीं। भारतीय कम्पनियों में से ८४ अकेले बम्बई प्रान्त में, ५३ बंगाल में, और ३५ मदरास में थीं। विदेशी कम्पनियों में से दो-तिहाई इंगलैंड की हैं। भारतीय बीमा-कम्पनियाँ अधिकतर जीवन-बीमा करती हैं, और विदेशी कम्पनियाँ जहाज़ों, या आग आदि के बीमे का कार्य करती हैं। पिछले वर्षों में बीमा कम्पनियों की संख्या और कार्य में खासी प्रगति हुई है; तथापि अन्य देशों की तुलना में, तथा भारतवर्ष की जनसंख्या के विचार से स्थिति कुछ संतोषप्रद नहीं है। कुल भारतीय जीवन-बीमा-कम्पनियों की पूँजी सन् १९४२ में लगभग ७६ करोड़ रुपये थी, इसका अधिकांश भाग सरकारी सिक्यूरिटियों (ऋण-पत्रों) में लगा हुआ है। भारत की विदेशी बीमा-कम्पनी अपनी पूँजी का बड़ा भाग विदेशों में उधार दे देती हैं। सन् १९४२ में बीमे के नये कार्य १,७८,००० हुए, इनकी कुल रकम लगभग ४३ करोड़ रु० थी।

उन्नति के उपाय—भारतवर्ष की बैंकिंग सम्बन्धी संस्थाओं की स्थिति तथा उन के गुण-दोषों का विचार हो चुका। यह स्पष्ट है कि वे संस्थाएँ न तो पर्याप्त ही हैं, और न उनमें राष्ट्र-हित की समुचित व्यवस्था ही है। भारतीय बैंकिंग की उन्नति और सुधार करने के लिए ये बातें आवश्यक हैं:—(१) भारतीय बैंकों की विदेशी बैंकों की प्रतियोगिता से रक्षा की जाय। कानून द्वारा विदेशी बैंकों की वृद्धि और कार्य-विस्तार पर आवश्यक प्रतिबन्ध हो (२) रिजर्व बैंक की स्थापना भारतीय हितों का समुचित ध्यान रखकर नहीं की गयी है, जब तक इसके कानून में यथेष्ट परिवर्तन न हो, इसे इसके वर्त्तमान नियमों के अनुसार अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाया जाय। (३) भारत के विदेशी व्यापार, उद्योग-धन्धों और कृषि को आर्थिक सहायता देने के

लिए यहाँ स्वदेशी विनिमय-बैंक, औद्योगिक-बैंक और कृषि-सहायक-बैंक स्थापित हो। (४) भारतीय बैंकों का आपस में सहयोग हो। संकट के समय ये एक दूसरे के काम आवें, और, जब आर्थिक संकट व्यापक हो तो सरकार रिजर्व बैङ्क द्वारा उनकी समुचित सहायता करे, और उन्हें फेल होने से बचाए। (५) देशी भाषाओं को अपनाया जाय। प्रत्येक प्रांत के बैंक का काम उस प्रांत की प्रधान भाषा में हो, राष्ट्र-भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी हर जगह मान्य हो; सिर्फ रिजर्व बैंक और एक्सचेंज-बैंकों के प्रधान कार्यालयों को अंगरेजी में कार्य करने की अनुमति हो। (७) भारतीय जनता का भारतीय बैंकों के प्रति पूर्ण विश्वास स्थापित हो, और वे विदेशी बैंकों की अपेक्षा इन्हें अधिक अपनाए।*

भारतवर्ष की बैंक सम्बन्धी आवश्यकताएँ—भारतवर्ष में बैंकों की आवश्यकता दिन दिन बढ़ती जा रही है। लोगों में अपनी बचत का रुपया महाजनों के पास अथवा मिश्रित पूँजीवाले तथा दूसरे बैङ्कों में जमा करने की रुचि बढ़ रही है। तथापि यहाँ की आवश्यकताओं को देखते हुए बैंकों की बहुत कमी है। उदाहरण के लिए, कृषि की सहायता के वास्ते यहाँ बैंकिङ्ग की क्या व्यवस्था है! एक्सचेंज बैंकों का तो एकमात्र लक्ष्य विदेशी व्यापार की सहायता करना है। रिजर्व बैङ्क भी कृषि की विशेष सहायता नहीं कर सका है। मिश्रित पूँजी के बैङ्कों का क्षेत्र देशी व्यापार है। सहकारी बैङ्क कृषि के लिए कुछ करते-धरते हैं, पर उनकी शक्ति कितनी अल्प है, यह पहले बताया जा चुका है।

यही बात उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में है। यहाँ अधिकतर बड़े-बड़े बैंक विदेशी पूँजी के, और विदेशी प्रबन्ध वाले हैं। उनका इस ओर ध्यान ही नहीं होता तथा उनसे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वे यहाँ की परिस्थिति से अच्छी तरह परिचित हों, और यहाँ की

* 'भारतीय बैंकिंग' पुस्तक के आधार पर।

औद्योगिक उन्नति से यथेष्ट क्रियात्मक सहानुभूति रखें। अस्तु, यह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक उत्थान के वास्ते, खासकर कृषि और उद्योग-धन्धों के, विशेष प्रकार के बैङ्कों की अत्यन्त आवश्यकता है। भारतवर्ष के बैङ्क पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत क्षुद्र से मालूम होते हैं। इङ्गलैंड के कई बैंक तो ऐसे हैं कि उनमें से किसी एक की पूँजी यहाँ के सब बैङ्कों की पूँजी से दुगनी-तिगनी है। देश-हितैषी सज्जनों को यहाँ बैङ्कों की उन्नति तथा प्रचार की ओर यथेष्ठ ध्यान देना चाहिए; आर्थिक स्वतन्त्रता में इसका बड़ा महत्त्व है।

क्लियरिंग हाउस या चेक-चुकाई भवन—पहले बैङ्कों को आपसी चेक भुनाने में बड़ी कठिनाई होती थी। एक बैंक का चपरासी या कर्मचारी चेक लेकर जब दूसरे बैंक में जाता तो वहाँ से उस चेक का रुपया लेकर आता था। इसमें समय और परिश्रम तो लगता ही था, इसके अलावा इस काम में जोखम भी बहुत रहती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए क्लियरिङ्ग हाउस या चेक-चुकाई भवन की पद्धति चलायी गयी है। क्लियरिंग हाउस का काम खासकर कलकत्ता, बम्बई, मदरास, रंगून, कराची और कोलम्बो में होता है। इन स्थानों में से कोलम्बो यह काम इम्पीरियल बैङ्क के साथ और अन्य स्थानों में रिजर्व बैङ्क के साथ होता है। सब बड़े-बड़े बैङ्क इनके सदस्य होते हैं। उन बैङ्कों के प्रतिनिधि नियत समय पर वहाँ जमा होकर आपसी लेन-देन का हिसाब कर लेते है और अन्त में हिसाब का विवरण रिजर्व बैंक को (या इम्पीरियल बैंक को) दे देते हैं, जो उसे ठीक ठाक कर लेता है।

पाँचवाँ भाग

विनिमय और व्यापार

सतरहवाँ अध्याय

कीमत

विनिमय और कीमत—विनिमय की आवश्यकता इस पुस्तक के पहले भाग में बतायी जा चुकी है। आधुनिक संसार में विनिमय का कार्य तभी होता है, जब पदार्थों की कीमत रुपये-पैसे आदि के रूप में निश्चित कर दी जाती है। मुद्रा का वर्णन हम पिछले भाग में कर चुके हैं। अब कीमत के सम्बन्ध में विचार करना है। किसी वस्तु की कीमत का उसके बाजार से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः पहले बाजार का ही विवेचन करते हैं।

पदार्थों का बाजार—अर्थशास्त्र में किसी पदार्थ के बाजार से उस स्थान का ही अभिप्राय नहीं होता, जिसे हम अपनी साधारण बोल-चाल में बाजार या मंडी कहते हैं, वरन् उस सारे क्षेत्र से होता है, जिसमें बेचने और खरीदनेवालों की ऐसी प्रतियोगिता हो कि उस क्षेत्र में उस पदार्थ की कीमत समान होने की प्रवृत्ति हो। यदि किसी वस्तु का व्यापार संसार के भिन्न-भिन्न देशों में आसानी से और थोड़े खर्च से होता हो, तो उसका बाजार तमाम दुनिया हो सकती है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार कहते हैं। किसी एक वस्तु के कई-कई बाजार होते

हैं। उनमें उसकी कीमत पूर्ण रूप से समान नहीं होती; क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में चीजों के लेजाने में खर्च पड़ता है; कस्टम, चुंगी या अन्य व्यापारिक कर, इस खर्च में ही शामिल हैं।

तार, टेलीफोन, रेल, नहर, सड़कें, सामान ढोने की मोटरें आदि—जिनके द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाया जाता है, अथवा जो व्यापार के साधनों में हैं, और जिनसे समय और धन, दोनों में किफायत होती है—बाजार के क्षेत्र को बढ़ानेवाली होती हैं।

किसी वस्तु का बाजार विस्तृत होने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

(१) वह वस्तु आसानी से ले जायी जा सके; मकान आदि की तरह स्थिर, अथवा कई प्रकार के फलों या मछली आदि की तरह जल्दी बिगड़नेवाली न हो।

(२) उसके लेजाने में समय और खर्च कम लगे।

(३) उसकी माँग विस्तृत हो।

(४) उसका वर्णन किये जाने की सुगमता हो।

वस्तु के वर्णन की सुगमता ऐसी होनी चाहिए कि दूर-दूर रहनेवाले खरीददार अच्छी तरह यह जान लें कि वे किस प्रकार का माल मँगा रहे हैं। फिर, वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि वह बिना टूटे या सड़े हुए दूर-दूर तक जा सके। फल आदि चीज़ें ऐसी हैं कि जब तक उन्हें वैज्ञानिक रीति से न रखा जाय, उनका बाजार विस्तृत नहीं हो सकता। पत्थर की नक्काशी तथा शीशे की वस्तुएँ आदि को दूर भेजने के लिए बड़ी सावधानी से 'पैक' करना पड़ता है, इसका व्यय तथा मार्ग में उनके टूट जाने की संभावना उनकी कीमत को बढ़ा देती है।

संसार-भर जिन वस्तुओं का बाजार है, उनका उत्तम उदाहरण सोना, चाँदी, तथा सरकारी सिक्यूरिटियाँ (ऋण-पत्र) हैं। इनसे कम विस्तृत बाजार बड़ी-बड़ी कंपनियों के स्टाक या शेयरों का होता है। यद्यपि खेती के पदार्थों की सबको आवश्यकता रहती है, तथापि इनका

बाजार बहुत विस्तृत नहीं होता; कारण, दूर-दूर के आदमियों को इन का ठीक-ठीक परिचय देना कठिन होता है; और कीमत के विचार से ये सोना चाँदी आदि की अपेक्षा बहुत वज़नी होते हैं, तथा बहुत स्थान घेरते हैं। सब से कम विस्तृत बाजार भूमि का है। मकानों अथवा व्यक्तिगत रुचि के अनुसार बने हुए सामान की भी प्रायः ऐसी ही दशा है।

कीमत की घटबढ़—अब हम यह विचार करेंगे कि बाजार में, पदार्थों की कीमत में घटबढ़ क्यों हुआ करती है। पहले यह जान लेना चाहिए कि कीमत की घटबढ़ का आशय क्या है। पदार्थों की कीमत घटी हुई उस समय कही जाती है, जब उनके निर्धारित परिमाण के बदले रुपया कम देना होता है; दूसरे शब्दों में पदार्थों की कीमत घटना, रुपये की कीमत बढ़ना है। इसी प्रकार पदार्थों की कीमत बढ़ने का मतलब रुपये की कीमत गिरना कहा जा सकता है। साधारण बोलचाल में पदार्थों की कीमत की घटबढ़ की बात कही जाती है, रुपये की कीमत की घटबढ़ की बात नहीं कही जाती; तथापि ऊपर कही हुई बात याद रहनी चाहिए।

कुछ विशेष पदार्थों की कीमत घटने-बढ़ने के कारण—कीमत की घटबढ़ के कारणों पर विचार करते हुए, हमें दो अलग-अलग दशाओं को सामने रखना है, (१) जब किसी एक या कुछ विशेष पदार्थों की कीमत में घटबढ़ हो, और (२) जब सब पदार्थों की कीमत एक-साथ घट जाय, अथवा एक-साथ बढ़ जाय। पहले इनमें से पहली दशा का विचार करते हैं।

वस्तुओं की कीमत उनकी माँग और पूर्ति के अधीन है। माँग की अपेक्षा पूर्ति कम होने पर वस्तु के खरीददार चढ़ा-ऊपरी करने लगते हैं। जिसे जिस चीज की ज़रूरत होती है, वह यही चाहता है कि औरों को वह मिले या न मिले, पर मुझे मिल जाय। इस चढ़ा-ऊपरी

के कारण चीज़ की कीमत भी चढ़ जाती है—वह महँगी हो जाती है। इसी तरह वस्तु की माँग की अपेक्षा, पूर्ति अधिक होने से उसके बेचनेवाले चढ़ा-ऊपरी करते हैं, और माल की कीमत गिर जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि चीज की अधिक पूर्ति या कम माँग होने पर कीमत कम होती है, और पूर्ति के कम, या माँग के अधिक होने पर कीमत अधिक हो जाती है। किसी वस्तु की कीमत वही होती है, जिस पर जितनी उसकी माँग हो, उतनी उस समय उसकी पूर्ति भी हो।

खेती के पदार्थों की मांग जनसंख्या की वृद्धि से बढ सकती है; और, पूर्ति, वर्षा न होने या कम होने से घट जाती है। भारतवर्ष की जनसंख्या तथा सिंचाई के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। इसके अतिरिक्त आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बृद्धि से विदेशों की स्थिति का भी भारतवर्ष की भाँग और पूर्ति पर बड़ा असर पड़ता है। यदि इंगलैंड या अमरीका आदि में किसी पदार्थ की फसल मारी जाय, अथवा पैदावार बहुत अधिक हो जाय तो भारतवर्ष पर उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकता। संसार में समय-समय पर युद्ध होते रहते हैं, इनमें बहुत से पदार्थ नष्ट होते हैं, तथा अनेक आदमियों के युद्ध में प्रवृत्त होने, तथा पीछे बहुत-सों के मरजाने या जख्मी हो जाने से उत्पादन-कार्य कम होता है। इससे पूर्ति कम हो जाती है, और माँग बढ़ जाती है; फल-स्वरूप कीमत बहुत चढ़ जाती हैं।

पदार्थों की कीमत बढ़ने का एक कारण भौतिकवाद तथा आवश्यकताओं की वृद्धि भी है। यहाँ लोगों में शौकीनी या विलासिता बढ़ रही है। बहुत से आदमी ऐसे तैयार माल का उपयोग करते है, जो विदेशों से मँगाना पड़ता है और जिसके बदले में यहाँ से खाद्य पदार्थों की खूब निर्यात करनी पड़ती है। यदि भारतवासी अपना रहनसहन सादा रखें, और विदेशी सामान का उपयोग बहुत ही कम करदें तो निश्चय ही यहाँ खाद्य कुछ पदार्थ सस्ते हों। वर्त्तमान अवस्था में

खाद्य पदार्थों की कीमत कुछ ऊँची होने का कारण यह भी है कि विदेशों में जूट, रुई आदि की माँग अधिक होने से, और वहाँ इनके दाम अधिक मिलने के कारण, भारतवर्ष में इन पदार्थों की पैदावार बढ़ाने की ओर ध्यान रहता है; नतीजा यह होता है कि खाद्य पदार्थों की पैदावार कम की जाती है।

विदेशी वस्तुओं की कीमत बढ़ने का एक कारण उन पर लगने वाला संरक्षण-कर भी होता है, जो स्वदेशी वस्तुओं के प्रारम्भिक अवस्था वाले उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए लगाया जाता है। यह कर आवश्यक और उपयोगी होता है, किन्तु इससे कुछ समय के लिए उपभोक्ताओं को विदेशी पदार्थों की कीमत अधिक देनी पड़ती है; हाँ, पीछे उन्हें इस कर से अच्छा लाभ होता है।

यातायात के साधनों की वृद्धि का भी पदार्थों की कीमत पर प्रभाव पड़ता है; क्योंकि इससे पदार्थों के बाजार का क्षेत्र बढ़ता है; और, बाजार का क्षेत्र जितना बढ़ता है, उतनी पदार्थों की माँग बढ़ती है, और इससे (यदि उत्पत्ति न बढ़े) कीमत बढ़ती है। कभी-कभी इसका उलटा परिणाम भी होता है। कल्पना करो, भारतवर्ष का यातायात-सम्बन्ध किसी ऐसे देश से हो जाता है, जहाँ आदमियों की किसी आवश्यकता की पूर्ति करनेवाला कोई पदार्थ सस्ता पैदा या तैयार होता है; अब वह पदार्थ यहाँ अधिक परिमाण में आने लगेगा, नतीजा यह होगा कि भारतवर्ष के उस स्वदेशी पदार्थ की कीमत गिर जायगी।

चीजों की कीमत की घटबढ़ में उत्पादन-व्यय का भी बड़ा असर पड़ता है। उत्पादन-व्यय में कच्चे माल की कीमत, लगान, सूद, वेतन आदि सम्मिलित हैं। जब किसी पदार्थ की उत्पत्ति में इन मदों का खर्च बढ़ेगा, तो उस पदार्थ की कीमत भी बढ़ जायगी; इसी प्रकार इन मदों का खर्च कम होने पर वह पदार्थ कुछ सस्ता हो जायगा। उत्पादन-कार्य में काम आने योग्य किसी नयी बढ़िया मशीन का

आविष्कार हो जाने से, अथवा कोई अच्छी उत्पादन-विधि मालूम हो जाने से भी पदार्थ का उत्पादन-व्यय, और, फल-स्वरूप पदार्थ की कीमत घटेगी।

सब पदार्थों की कीमत एक-साथ घटने-बढ़ने के कारण—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक-साथ सभी चीजों की कीमत में अंतर हो जाता है। उदाहरण के लिए पिछले महायुद्ध के बाद पहले की अपेक्षा, सब पदार्थों का मूल्य तिगना-चौगुना हो गया। इसका कारण रुपये पैसे के परिमाण या चलन-गति की वृद्धि थी। इसका वर्णन कागजी मुद्रा के अध्याय में किया जा चुका है। क्योंकि आदमी अपनी साख के बल पर माल खरीदकर उस पर वैसा ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, जैसा नकद रुपया देकर खरीदने से होता है, यह स्पष्ट है कि साख तथा बैंकिंग कार्य की कमी या वृद्धि से से भी कीमत की घट-बढ़ होती है।

सब पदार्थों की कीमत एक-साथ घटने-बढ़ने का एक कारण विनिमय की दर का चढ़ाव-उतार भी होता है। मिसाल के तौर पर इस समय यहाँ रुपये का विनिमय-मूल्य, अंगरेजी सिक्के में अठारह पेंस (एक शिलिङ्ग छः पेंस) है; यदि भारत-सरकार इसे १६ पेंस करदे तो अंगरेज व्यापारी हमारा माल अधिक खरीदेंगे। कल्पना करो कि यहाँ गेहूँ रुपये का छः सेर मिलता है, तो वर्त्तमान दशा में अंगरेज व्यापारी को १८ पेंस खर्च करने से छः सेर गेहूँ मिलते हैं।* रुपये की विनिमय-दर १६ पेंस हो जाने पर उसे छः सेर गेहूँ खरीदने के लिए दो पेंस कम खर्च करने होंगे। ऐसी स्थिति में वह स्वभावतः गेहूँ भारत के बाजार में अधिक खरीदेगा। इससे यहाँ गावों और कस्बों में गेहूँ की खरीद बढ जायगी, उसका भाव चढ़ जायगा; गेहूँ रुपये का छः सेर के बजाय

---

* उदाहरण को सरल करने के लिए, यहाँ रुपया भेजने या माल मँगाने के खर्च का विचार नहीं किया जाता।

सम्भव है साढ़े पाँच सेर बिकने लगे (इससे किसानों को लाभ होगा, उन्हें अधिक रुपया मिलेगा)।

विनिमय की दर गिरने से इङ्गलैंड का माल भारतवर्ष में मँहगा पड़ने लगेगा। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में लंकाशायर का कोई कपड़ा इस समय यहाँ रुपये का चार गज मिलता है, तो अंगरेज व्यापारी अठारह पेंस में चार गज कपड़ा दे रहा है, जब रुपये का विनिमय मूल्य सोलह पेंस हो जायगा तो अंगरेज व्यापारी एक रुपये में अर्थात् सोलह पेंस में लगभग साढ़े तीन गज कपड़ा दे सकेगा, (इससे उसके माल की खपत यहाँ कम होने लगेगी, और यहाँ के स्वदेशी वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलेगा)।

इसी प्रकार उदाहरण देकर यह बताया जा सकता है कि भारतीय विनिमय की दर अंगरेजी सिक्के में चढ़ने से यहाँ इंगलैण्ड का माल सस्ता मिलेगा और भारतवर्ष का सामान इङ्गलैण्ड वालों को मँहगा पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि विनिमय की दर का चढ़ाव-उतार भी कीमत की घट-बढ़ का कारण होता है।

एकाधिकार में कीमत—अब तनिक इस बात का भी विचार करलें कि एकाधिकार का कीमत पर क्या प्रभाव पड़ता है। आम तौर से यह ख्याल किया जाता है कि एकाधिकारी किसी वस्तु की कीमत अधिक-से-अधिक ऊँची रखता है। परन्तु कीमत बढ़ाने की भी एक सीमा होती है। एकाधिकारी हमेशा यह चाहता है कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इसलिए वह किसी चीज की कीमत को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जहाँ तक वह वस्तु इतनी मात्रा में बिक सके कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इस सीमा के बाद वस्तु की कीमत बढ़ाने से एकाधिकारी को उतना लाभ न होगा।

जीवन-रक्षक पदार्थों का एकाधिकार होने तथा उनका मूल्य बढ़ जाने से जन-साधारण को बड़ा कष्ट होता है। पर यदि विलासिता के पदार्थों का (एकाधिकार होने से) मूल्य बढ़ता है, तो थोड़े से धनी

आदमियों पर ही उसका असर पड़ता है।

नमक यद्यपि एक जीवन-रक्षक पदार्थ है, तो भी भारत में सरकार को इसका एकाधिकार प्राप्त है। सिद्धान्त से तो यह ठीक है कि सरकार के हाथ में किसी जीवन-रक्षक पदार्थ का एकाधिकार रहने से देश को हानि नहीं पहुँचती; क्योंकि वह जनता की हितचिन्तक होती है। किन्तु जब सरकार जनता के प्रति यथेष्ट उत्तरदाई न हो, तब नमक आदि किसी जीवन-रक्षक पदार्थ का एकाधिकार उसके हाथ में रहना उचित नहीं है। फिर यह भी सर्वथा सम्भव है कि अगर दूसरे व्यापारी ऐसे पदार्थ का एकाधिकार पा लें, तो वे भी मूल्य बढ़ाकर अनर्थ करने लगें। इसलिए ऐसे पदार्थ का किसी को भी एकाधिकार न होना चाहिए।

ऊपर कहा गया है कि एकाधिकार में पदार्थों की कीमत बढ़ने की सम्भावना होती है; हाँ, उसकी एक सीमा है। कीमत बढ़ने से होने-वाली हानि को रोकने के लिए सरकार द्वारा भी कीमत का नियन्त्रण किया जाता है। उदाहरण के लिए बहुत से स्थानों में सरकार पाठ्य पुस्तकों की कीमत निश्चित कर देती है, अथवा ऐसा नियम बना देती है कि उनकी कीमत प्रति रुपया इतने पृष्ठ के हिसाब से रखी जाय।

कीमत की घट-बढ़ का प्रभाव—जब कुछ पदार्थों की कीमत बढ़ती है, तो उनका प्रभाव उन व्यक्तियों पर पड़ता है, जो उन पदार्थों का उपयोग करते हैं। परन्तु जब सब पदार्थों की कीमत में घट-बढ़ होती है, तो सभी मनुष्यों पर उसका प्रभाव पड़ता है। देश में कई प्रकार के आदमी रहते हैं, उनमें से किस प्रकार के आदमियों पर कीमत की घट-बढ़ का क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी सर्वसाधारण को ठीक कल्पना नहीं होती। वास्तव में यह विषय बहुत विशद है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ सब श्रेणियों के मनुष्यों का विचार न कर कुछ खास-खास का ही विचार करेंगे; और केवल कीमत बढ़ने का ही विषय लेंगे। अन्य श्रेणियों पर कीमत बढ़ने का,

तथा विविध श्रेणियों पर कीमत घटने का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका पाठक स्वयं विचार कर लें।

कीमत बढ़ने का प्रभाव; कृषकों पर—प्रायः लोगों की यह धारणा होती है कि खेती के पदार्थों की महँगाई से किसानों को लाभ होता है। किन्तु लाभ उन्हीं किसानों को तो होगा, जिनके पास अपने खाने-खर्चने के उपरांत बेचने को कुछ शेष होगा; और, इनको भी केवल उस दशा में, जब कि जो चीज़ें इन्हें मोल लेनी हों, उनकी कीमत इस अनुपात से न बढ़ी हो। फिर साधारण किसानों को उत्पन्न पदार्थों की कीमत मिलते-मिलते उसमें से दस्तूरी, दलाली, तुलाई, या धर्मादे आदि में इतना अंश निकल जाता है, तथा उन्हें खेती में, और वस्त्र आदि की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में, खर्च इतना अधिक करना होता है, कि पदार्थों की बढ़ी हुई कीमत से उनकी आर्थिक अवस्था में विशेष अन्तर नहीं आता।

जबकि अपनी भूमि में काश्त करनेवालों को, या उन लोगों को जो भूमि दीर्घकाल या लम्बी मुद्दत के पट्टे पर लेकर अपने श्रम से काश्त करते हैं, कीमत बढ़ने से उपज बेचने की दशा में लाभ होता है, यह बात उन लोगों के विषय में लागू नहीं होती, जिन्हें लगान देना होता है, जिन्होंने अनाज देने की शर्त पर कुछ रुपया पेशगी ले लिया है, अथवा जिनका भूमि का पट्टा थोड़े समय का है, या जो मज़दूरों से काम कराते हैं।

देहाती मज़दूरों पर—पदार्थों की कीमत की घट-बढ़ का, गाँवों के मज़दूरों की वेतन पर तुरन्त विशेष असर नहीं होता। कुछ समय तक जिसे जितना वेतन मिलता है, उतना ही मिलता रहता है। ऐसी दशा में गावों के जो मज़दूर जिन्स में वेतन पाते हैं—और अधिकतर व्यक्ति जिन्स में ही वेतन पानेवाले होते हैं—उन्हें महँगी से कुछ लाभ हानि नहीं होती। हाँ, जिनका वेतन नकदी में ठहरा हुआ होता है,

उनके लिए कुछ समय बड़े संकट का बीतता है। जैसा कि पहले कहा गया है, भारतवर्ष के अनेक छोटे-छोटे किसानों के पास भूमि इतनी कम है कि उसकी उपज से उनका निर्वाह नहीं हो सकता; उन्हें किसी जमींदार के यहाँ श्रम करना होता है। उनपर भी पदार्थों की कीमत बढ़ने का कुछ समय के लिए वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा उपर्युक्त मजदूरों पर।

ज़मींदारों पर—लगान आजकल नकदी में लिया जाता है, लगान देनेवाले मौरूसी काश्तकार होते हैं, अथवा गैर-मौरूसी। मौरूसी काश्तकारों पर, पदार्थों की कीमत बढ़ने की दशा में, लगान जल्दी नहीं बढ़ता, अतः इनसे लगान लेनेवालों को तत्काल कुछ लाभ नहीं होता, वरन् हानि ही रहती है। इसके विपरीत, गैर-मौरूसी काश्तकारों पर लगान, पदार्थों की कीमत बढ़ने पर, जल्दी ही बढ़ा दिया जाता है, इससे, जहाँ तक लगान पाने का संबंध है, जमींदार नफे में रहता है।

कस्बों और शहरों के श्रमियों पर—हमने पहले कहा है कि कीमत बढ़ने के साथ कस्बों और शहरों के श्रमियों का वेतन एकदम नहीं बढ़ जाता, अतः इनमें असंतोष पैदा होता है; और क्योंकि ये श्रमी देहाती श्रमियों की अपेक्षा अधिक बड़े-बड़े समूहों में मिलकर काम करते हैं, तथा अधिक संगठित होते हैं, इनका असंतोष व्यापक स्वरूप धारण करता है, वेतन-वृद्धि का आंदोलन बढ़ता है, अनेक स्थानों में हड़तालें होती हैं, और कहीं-कहीं तो लूट-मार और उपद्रव के दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। कल-कारखानेवाले इतने दूरदर्शी तथा उदार नहीं होते कि पदार्थों की कीमत बढ़ने का आभास पाते ही श्रमियों का वेतन बढ़ा दें; हाँ, अन्त में तो उन्हें यह करना ही पड़ता है। वेतन काफी बढ़ने की दशा में, श्रमियों की आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार ही होता है।

दस्तकारों पर—हाथ से बनी वस्तुओं की, कल-कारखानों में

बने हुए माल से, प्रतियोगिता रहने के कारण, दस्तकारों की दशा प्रायः अच्छी नहीं रहती। पदार्थों की कीमत बढ़ने से वह प्रतियोगिता बढ़ती ही है; और, इस प्रकार दस्तकारों को पहले की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं।

कल-कारखाने वालों पर—पदार्थों की कीमत बढ़ने के साथ, उत्पादन-व्यय, जिसका एक भाग श्रमियों का वेतन है, एक-दम नहीं बढ़ जाता। इसलिए कल-कारखाने वालों को कीमत बढ़ने से, कम-से-कम आरम्भ में कुछ दिन लाभ ही रहता है; हाँ, पीछे क्रमशः श्रमियों का वेतन आदि बढ़ने लगता है; अगर वेतन पदार्थों की कीमत की वृद्धि के अनुपात से अधिक बढ़ जाय तो उनको हानि होना निश्चित है।

निर्धारित वेतन पानेवालों पर—पदार्थ की कीमत बढ़ने से, सबसे अधिक हानि सरकारी तथा अन्य कर्मचारियों की, पेन्शन पानेवालों, कलर्कों, सिक्यूरिटी या शेयर आदि से होनेवाली आय पर निर्वाह करने वालों की, तथा ऐसे व्यक्तियों की होती है जो बंधा हुआ या निर्धारित शुल्क, वेतन अथवा मेहनताना पाते हैं। इनको सामूहिक रूप से मध्य श्रेणी का कहा जा सकता है। कीमत बढ़ने से इनका भोजन, वस्त्र, रोशनी-किराये का, और जिनके यहाँ घरू नौकर हों, उनके यहाँ इन नौकरों के वेतन का, खर्च बढ़ जाता है। अस्तु, पदार्थों की कीमत बढ़ने पर इन्हें विशेष हानि होती है।

ऋणग्रस्तों और साहूकारों पर—कीमत बढ़ने से ऋण-ग्रस्तों को लाभ होता है, यदि वे निर्धारित वेतन पानेवाले न होकर, पदार्थों के उत्पादक हों; कारण, उन्हें पदार्थों की कीमत अधिक मिलेगी और साहूकार उनसे रुपया और सूद पहले जितना ही लेगा, वह सूद का परिमाण नहीं बढ़ा सकता। इसके विपरीत, साहूकार को, पदार्थों की कीमत बढ़ने से कोई लाभ नहीं, वरन् हानि ही है,

कारण अब उसे जो रुपया या सूद मिलता है, उसका पदार्थों-में-मूल्य पहले से कम होता है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर हमने कुछ ही श्रेणियों के आदमियों के सम्बन्ध में विचार किया है। देश में इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के आदमी रहते हैं कि सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थों की कीमत बढ़ना लाभप्रद है या हानिकर। साधारण तौर से आदमी यही चाहते हैं कि कीमत में स्थिरता रहे, विशेष उतार-चढ़ाव न हो। कीमत की घट-बढ़, कीमत घटने के बाद बढ़ना, तथा बढ़ने के बाद घटना, आर्थिक जगत की एक साधारण घटना है; यह धूप के बाद छाया, अथवा दुख के बाद सुख की तरह है। इसे बंद नहीं किया जा सकता। हाँ, यदि व्यवासाई तथा सरकार चाहें तो कुछ अंश तक इस का नियंत्रण कर सकते हैं।

मनुष्यों को चाहिए कि दोनों प्रकार की स्थिति के लिए तैयार रहें; यदि कीमत की घट-बढ़ से हमारी आय बढ़ती है, तो उसे व्यर्थ के अपव्यय में न उड़ादें, उसमें से कुछ संकट-काल के लिए भी रख छोड़ें; और जब हमारी आय घटती हो तो अपनी आवश्यकताएँ कम करके उसी में अपना निर्वाह करने का प्रयत्न करें; व्यर्थ में दुख न मानें।

कीमतों पर युद्ध-समाचारों का प्रभाव—पहले कहा गया है कि चीजों की कीमत उनकी माँग और पूर्ति के अधीन है; माँग बढ़ने से कीमत चढ़ने लगती है, और पूर्ति बढ़ने से कीमत उतरने लगती है। लेकिन यह साधारण परिस्थिति की बात है। युद्ध-काल में कीमतों पर सब से अधिक असर युद्ध-समाचारों का पड़ता है। दूसरे योरपीय महायुद्ध (१६३६-४५) की बात लीजिए। युद्ध शुरू होने की संभावना मालूम होते ही, सन् १६३६ में ही, सोने चांदी, लोहे, कपड़े, चूने, सीमेंट आदि सब वस्तुओं की कीमत कुछ-न-कुछ बढ़ने लग

गयी। लड़ाई शुरू होने पर तो बाजार में और भी खलबली मच गयी। पीछे तो मुद्रा-प्रसार आदि का भी प्रभाव पड़ने से साधारण चीजों की कीमतें तिगुनी चौगुनी, और कुछ की तो इससे भी अधिक बढ़ गयीं, और लोगों को भयंकर संकट और अकाल का सामना करना पड़ा। युद्ध-काल में जब-जब मित्र-राष्ट्रों के तेजी से बढ़ने, युद्ध समाप्त होने, या संधि की सम्भावना का समाचार फैला तो बाजार कुछ नीचे उतर आया; और जब धुरी-राष्ट्रों (जर्मनी, इटली और जापान) की ताकत बढ़ने की खबर आयी तो बाजार ऊँचा हो गया। यह अनुमान किया जाता है कि बहुत से बड़े और प्रभावशाली व्यापारी सस्ते भाव से माल खरीदने के लिए अकसर अपने विशेष सूत्रों द्वारा संधि की अफ-वाह फैलाने की कोशिश किया करते हैं। जो हो; युद्ध-समाचारों का कीमतों पर भारी असर पड़ता है।

युद्ध और कीमत-नियंत्रण—पहले कहा गया है कि एका-धिकार में सरकार पदार्थों की कीमत का नियंत्रण करती है, वह उसे एक सीमा के अधिक नहीं बढ़ने देती। एकाधिकार शान्ति-काल में भी रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि शान्ति-काल में भी कीमत-नियंत्रण होता है, पर वह केवल खास-खास वस्तुओं का ही होता है। दूसरे महायुद्ध से पहले बड़े पैमाने पर कीमत - नियंत्रण केवल रूस में ही था। युद्ध-काल में, युद्ध से प्रभावित सभी देशों में इस का अवसर आ जाता है।

युद्ध-काल में जो राष्ट्र लड़ाई में भाग लेते हैं, उनका तो विशेष ध्यान युद्ध-सामग्री तैयार करने में लगता ही है, अकसर दूसरे देश भी उनके लिए युद्ध-सामग्री तैयार करने लग जाते हैं। इस प्रकार अन्य पदार्थों का उत्पादन कम हो जाता है, और इनका बाहर से मँगाना भी कठिन तथा अधिक व्यय साध्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त, कुछ व्यापारी अपने स्टाक को, इसलिए रोक रखते हैं कि पीछे खूब मुनाफा ले सकें। बाजार में माल कम होने से कीमत चढ़नेवाली

ठहरी। इसे रोकने के लिए सरकार कीमत का नियंत्रण करती है। जो व्यापारी निर्धारित कीमत से अधिक लेता है, या अपना स्टाक छुपा कर रखता है, उसे दंड दिया जाता है।

पिछले युद्ध के समय भारतवर्ष में भी सरकार ने कीमत-नियंत्रण सम्बन्धी कुछ कार्यवाही की, परन्तु वह सफल नहीं हुई। प्रायः जिस पदार्थ की कीमत नियंत्रित की गयी, उस पदार्थ का बाजार में मिलना ही दुर्लभ हो गया। किस प्रकार लोगों को एक-एक रुपये के गेहूँ लाने के लिए घंटों परेशान होना पड़ा, तथा अनेक स्थानों में मंडी की दुकानें दिन-दहाड़े लूटी गयीं, यह साधारण अनुभव की बात है। इससे स्पष्ट है कि कीमत-नियंत्रण का कार्य यथेष्ट सोच विचार कर, और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के यथेष्ट सहयोग से ही किया जाना चाहिए। प्रत्येक आवश्यक वस्तु के उत्पादन-व्यय का ध्यान रखते हुए उसकी कीमत नियंत्रित की जाय, उस वस्तु की उत्पत्ति बढ़ाने का भी यथेष्ट प्रयत्न किया जाय। इसके वास्ते उत्पादकों को समुचित परामर्श, पथ प्रदर्शन और सहायता दी जाय; और यातायात के साधनों की सुविधा की जाय, जिससे देश भर के उत्पन्न पदार्थों का भिन्न-भिन्न भागों की जनता में अच्छी तरह वितरण हो सके। लोकहित की ऐसी आर्थिक व्यवस्था किसी अनुत्तरदाई सरकार से नहीं हो सकती, इसके लिए अधिकारियों को राष्ट्र का विश्वास-पात्र होना आवश्यक है।

अठारहवाँ अध्याय
व्यापार के साधन

पिछले अध्यायों में मुद्रा और कीमत का विचार कर चुकने पर अब व्यापार का विवेचन करना सुगम है; पहले व्यापार के मार्ग और साधनों का विचार हो जाना चाहिए।

व्यापार के मार्ग—व्यापार के तीन मार्ग हैं—स्थल-मार्ग, जल-मार्ग और वायु मार्ग। स्थल-मार्ग में कच्चा-पक्की सड़कों पर ठेलों, पशुओं, मोटरों आदि से, या लोहे की पटरी पर रेल से माल ढोया जाता है। कहीं-कहीं जमीन के नीचे भी रेलें जाती हैं। जल-मार्ग पर नाव, स्टीमर और जहाज चलते हैं। गत महायुद्ध के समय जर्मनी ने पनडुब्बियों द्वारा माल ढोने का रास्ता पानी के नीचे-नीचे भी निकाला था। आकाश-मार्ग से काम थोड़े ही समय से लिया जाने लगा है; हवाई जहाजों द्वारा कहीं-कहीं थोड़ा-थोड़ा माल आता जाता है।

सड़कों की आवश्यकता और उन्नति—सड़कों की उपयोगिता सर्वविदित है। ये किसानों को खेती की उपज को नजदीक की मंडी तथा रेलवे स्टेशन पर लाने में और इस प्रकार उसके अधिक दाम प्राप्त करने में सहायक हैं। उद्योग-धन्धों के लिए दूर-दूर से कच्चा माल लाने, तथा तैयार माल को दूर-दूर के ग्राहकों तक पहुँचाने का काम रेलें करती हैं; परन्तु सड़कों की सहायता के बिना, रेलों को भी ढोने के लिए, काफी माल नहीं मिल सकता। इस प्रकार सड़कों से उद्योग-धन्धों की उन्नति और विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है।

शहरों की भीतरी (म्युनिसिपल) सड़कों को छोड़कर ब्रिटिश भारत में २ लाख ८५ हज़ार मील, और देशी रियासतों में ६२ हज़ार मील, इस तरह भारतवर्ष में कुल मिलाकर ३ लाख ४७ हज़ार मील सड़कें हैं, जिनमें से पक्की सड़क तो एक-चौथाई से भी कम हैं। सब से प्रसिद्ध पक्की सड़क 'ग्रांड-ट्रंक रोड है, जो उत्तर भारत में कलकत्ते से इलाहाबाद और देहली होकर, पेशावर जाती है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य सड़कें भी विशेष उल्लेखनीय हैं। ये कलकत्ते को मदरास से, मदरास को बम्बई से, और बम्बई को दिल्ली से मिलाती है। इन चारों सकड़ों की लम्बाई लगभग पाँच हजार मील है। यहाँ की सड़कों में से कुछ तो दूर तक गयी हैं, परन्तु अनेक पास की ही बस्ती में जाकर खत्म हो जाती हैं। कुछ सड़कें ऊँची हैं, और बारहों महीने खुली रहती

हैं। कितनी ही सड़कें बरसात में बेकाम हो जाती हैं। बरसाती नदियों पर कहीं तो पुल हैं, और कहीं उन्हें बरसात में नाव से, और खुश्की के दिनों में पैदल ही पार करना पड़ता है। आम तौर से लोग सामान ढोने के लिए पुराने ढङ्ग की बैलगाड़ी टट्टू, खच्चर, गधे, ऊँट, भैंसे आदि से काम लेते हैं। मोटरों के चलने के लिए अच्छी सड़कें केवल ७६ हजार मील हैं; इनमें से दस हजार मील सड़क सीमेंट आदि की है।

कुछ वर्षों से मोटर द्वारा माल और सवारियाँ लाने-लेजाने के काम में प्रगति करने की ओर सरकार अधिक ध्यान देने लगी है। नवम्बर सन् १९२७ ई० में सरकार ने सड़क-सुधार कमेटी ('रोड डिवेलपमेंट-कमेटी') नियुक्त की। इस कमेटी की सिफारिशों के आधार पर सन् १९२९ ई० के बजट में सरकार ने पेट्रोल का कर प्रति गैलन चार आने से बढ़ाकर छः आने किया; और इस कर-वृद्धि से होनेवाली अधिक आय को सड़कों के काम में लगाने का निश्चय किया। इस विषय के प्रस्ताव में समय-समय पर कुछ संशोधन हुआ है। सड़क-सुधार के विषय में विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष एक कान्फ्रेंस करती है। अब कई सड़कें प्रान्तीय कर दी गयी हैं, उनकी मरम्मत आदि का जो काम म्युनिसिपेलटियों और जिला-बोर्डों द्वारा, धनाभाव के कारण अच्छी तरह नहीं होता था, अब प्रान्तीय सरकारें कर रही हैं। सन् १९४१-४२ के अन्त में सड़क सम्बन्धी कोष ('रोड फन्ड') का हिसाब इस प्रकार था—पेट्रोल-टेक्स से इस वर्ष में प्राप्त तथा गत वर्षों की बाकी का कुल १७ करोड़ २० लाख रुपया जमा था। इसमें २ करोड़ ७४ लाख रु० रक्षित कोष रखा गया; ११ करोड़ ६० लाख ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को, और १ करोड़ ८० लाख रियासतों को, पेट्रोल के खर्च के अनुपात से दिया गया; शेष किसी खास कार्य के लिए निर्धारित न होकर बाकी रहा। गाँवों की सड़कों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। परन्तु देश के विस्तार और पिछली कई दशाब्दियों से होने वाली अवहेलना का विचार करते

हुए कहना होगा कि अभी बहुत काम करने को पड़ा है।

केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने हजारों मील लम्बी सड़कें बनाने की योजना बनायी है, पर उसका रहस्य यह है कि सड़कों द्वारा विदेशी माल देश के भीतरी भागों में पहुँच सके, और यहाँ विदेशी मोटर और उनके पुर्जे आदि की आयात को प्रोत्साहन मिले। लोगों को इस विषय में सतर्क रहना चाहिए।

रेल—यातायात के साधनों में रेलों का स्थान प्रमुख है। इनके द्वारा भारतवर्ष के दूर-दूर के भागों में पदार्थों का व्यापार होने लगा है, और भारतवर्ष का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने में बहुत सहयोग मिला है। रेलों में हजारों मन माल इधर से उधर भेजा जाता है। यदि देश में एक जगह अकाल पड़ रहा हो, तो खाने के पदार्थ दूसरी जगह से, जहाँ वे अधिक हों, जल्दी ही लाये जाकर बहुत-से आदमियों को भूखा मरने से बचाया जा सकता है। रेलों के कारण, पदार्थों का बाजार बढ़ जाने से, उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने की अनुकूलता हो गयी है। श्रमियों को अब, जहाँ अधिक लाभदायक तथा रुचिकर काम मिलता है, वहाँ जाने की सुविधा बढ़ गयी है।

रेलों से हानियाँ भी हैं। व्यापारी अपने लाभ के लिए बहुत-से ऐसे पदार्थों को भी विदेशों में भेज देते हैं, जिनकी यहाँ आवश्यकता होती है, परन्तु जिनके यहाँ इतने दाम नहीं मिलते, जितने दाम विदेशी दे सकते हैं। निर्यात होने से यहाँ ये पदार्थ महँगे हो जाते हैं। फिर, आज-दिन भारतवर्ष के नगरों और कस्बों में जहाँ देखो, बिसातखाने, कपड़े और फुटकर सामान की दूकानें विलायती पदार्थों से भरी पड़ी हैं। हमारे उद्योग-धन्धे या दस्तकारी नष्ट हो गयी हैं। विदेशी पूँजीपति अपनी पूँजी लगाकर, यहाँ के सस्ते कच्चे माल और सस्ती मजदूरी से अपरिमित लाभ उठा रहे हैं, और देश का आर्थिक शोषण कर रहे हैं। इसमें रेलों का भाग स्पष्ट है।

सन् १९४२-४३ के अन्त में भारतीय रेलें कुल ४०,५०५

मील थीं। ११ मार्च सन् ११४३ को रेलवे की नौकरी में ८,२६,०४६ आदमी थे। रेलों में ८५० करोड़ रुपये लगा हुआ है। इन्होंने सन् १९४२-४३ में कुल १६७ करोड़ रुपया कमाया, इसमें से ८६ करोड़ रुपया खर्च हो जाने पर, शेष ८१ करोड़ का मुनाफा रहा।

भारतवर्ष में अधिकतर रेलवे लाइनों की मालिक सरकार हैं; इनमें से कुछ का प्रबन्ध वह स्वयं करती है, शेष का प्रबन्ध विविध कम्पनियों के हाथ में है। अन्य रेलों में से कुछ, डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों या देशी राज्यों की हैं। स्वयं कंपनियों की रेलें बहुत कम हैं। प्रबन्ध करनेवाली कंपनियाँ, शर्तनामे के अनुसार, कुछ मुनाफा पाती हैं। बाकी मुनाफा सरकार को मिलता है।

रेलें चार तरह की हैं—(१) स्टैंडर्ड माप की—अर्थात् साढ़े पाँच फुट चौड़ी, (२) मीटर माप की—अर्थात् ३.२६ फुट चौड़ी (३) छोटे माप की अर्थात् ढाई फीट चौड़ी और (४) छोटी लाइन—अर्थात् दो फीट चौड़ी। अधिकांश रेलवे लाइन प्रथम दो प्रकार के ही माप की हैं। अधिक आमदरफ्त वाले स्थानों में ये लाइनें दोहरी हैं—एक लाइन जाने के लिए और दूसरी आने के लिए। इससे दोनों तरफ की गाड़ियाँ एकसाथ ही आ-जा सकती हैं।

भारतवर्ष की रेलों की व्यवस्था में कई दोष हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य का ही हम यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) रेलों में विदेशी पूँजी लगी हुई है, जिससे उसका सूद हर साल बाहर भेजना पड़ता है।

(२) कई रेलों का प्रबन्ध विदेशी कंपनियों के हाथों में होने के कारण, बहुत-सा सालाना मुनाफा भी बाहर भेजना पड़ता है। उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्तियाँ बहुत कम होती है, रेलों के भारतीयकरण की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता।

(३) रेलवे कम्पनियाँ देशी उद्योग-धंधों तथा व्यापार के ह्रास

अथवा उन्नति का विचार न कर, सिर्फ अधिक माल ढोने और उसके द्वारा अधिक लाभ उठाने का ही ख्याल रखती हैं। वे बन्दरगाहों से देश के भीतर आनेवाले विदेशी माल पर, तथा भीतर से बन्दरगाहों को जानेवाले (भारतीय) कच्चे माल पर महसूल कम लेती हैं। यदि यहाँ के कच्चे माल को कोई बाहर न भेजकर देशी कारखानों में ले जाना चाहे तो ज्यादा भाड़ा देना पड़ता है।

(४) जैसी सुविधा और रियायतें कच्चे माल के निर्यात को दी जाती हैं, वैसी तैयार माल के निर्यात को नहीं। उदाहरण के लिए तेलहन की अपेक्षा तेल बाहर भेजने में किराया बहुत अधिक देना पड़ता है।

(५) रेलवे कम्पनियों के स्वार्थ अलग-अलग हैं और प्रबन्ध भी पृथक्-पृथक्। इसलिए वे सब अपना-अपना लाभ देखती हैं, देश के लाभ का उन्हें ध्यान नहीं। यदि सबका स्वार्थ और प्रबन्ध एक ही हो तो व्यापरियों की असुविधाएँ कम हो जायँ।

(६) लगभग ९६ फी सैकड़े यात्री तीसरे दर्जे में सफर करते हैं। उन्हीं से अधिक आय होती है। परन्तु विदेशी कम्पनियाँ और सरकार उनके अपार कष्टों की कुछ परवा नहीं करती।

(७) जब रेलें खुलीं, तो बड़े-बड़े शहरों और व्यापार की मंडियों से होती हुई गयीं। उस समय देश के भीतरी भागों का ध्यान नहीं रखा गया। सड़कों और नदियों के पुलों का भी सुधार नहीं हुआ। पीछे ब्राँच (शाखा)-लाइनें खुलने लगीं। पर उनमें यथेष्ट वृद्धि नहीं हुई। इसलिए सब धन्धे घने शहरों में ही इकट्ठे होते गये।

(८) रेलों की माप अलग-अलग हैं। इसलिए जब माल को एक लाइन से उतार कर दूसरी लाइन पर लादना पड़ता है, तो बहुत खर्च पड़ता है; साथ ही टूटने और चोरी जाने की जोखिम भी बढ़ जाती है।

(९) इस देश में रेलवे लाइनें वर्षों से खुली हुई हैं; किन्तु रेल

के पहिए, एंजिन आदि अधिकांश सामान अभी विदेशों से ही आता है। आवश्यकता है कि रेलों का सब सामान यहीं तैयार कराया जाय और उसके लिए करोड़ों रुपया विदेश न भेजा जाय।

(१०) रेलवे में घूसखोरी बहुत बढ़ी हुई है, वह बन्द की जानी चाहिए।

सन् १९३५ ई० के शासन-विधान के अमल में आने से पूर्व रेलवे विभाग पर भारत-सरकार और भारतीय व्यवस्थापक मंडल का नियंत्रण था; भारत-सरकार का एक सदस्य रेलवे विभाग का कार्य करता था। उस वर्ष के विधान के अनुसार निश्चय किया गया कि इस विभाग का कार्य 'संघीय रेलवे अथारिटी' के सुपुर्द रहे। इसके सात सदस्य हों, जिनमें से सभापति और कम-से-कम तीन अन्य सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर-जनरल अपनी मरजी से करे। गवर्नर-जनरल की अनुमति बिना रेलों के माल तथा यात्रियों के किराये-भाड़े आदि के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में उपस्थित न किया जाय। संक्षेप में, रेलों के प्रबन्ध और संचालन आदि में जनता के प्रतिनिधियों का कुछ विशेष नियंत्रण न हो; रेलवे अथारिटी तथा गवर्नर-जनरल जैसा चाहें कर सकें; यद्यपि रेलों में जो लगभग नौ सौ करोड़ रुपये लगे हुए हैं, वह भारतीय जनता के हैं, तथा उन पर दी जानेवाली व्याज की रकम जो प्रति वर्ष तीस-बत्तीस करोड़ रुपये होती है, उसे भारतीय कर-दाता ही देते हैं। रेलवे अथारिटी की योजना बहुत असंतोषप्रद रही। इसकी चहुं ओर बहुत निन्दा हुई। यह अभी तक अमल में नहीं आयी है।

मोटर—मोटरों द्वारा यात्रा ही नहीं होती, सामान भी ढोया जाता है। बहुत-से स्थानों में रेलें जारी नहीं हुई हैं। गाँवों की तो बात ही क्या, अनेक नगर और कस्बे ऐसे हैं जहाँ रेल नहीं पहुँचती, और जो रेलवे स्टेशनों से पचास-पचास या सौ-सौ मील तक दूर हैं। ऐसे स्थानों में यदि सड़कें ठीक हों तो मोटर अच्छी तरह काम दे सकती है। रेल से दूर के बहुत से स्थानों में डाक पहुँचाने का भी काम मोटर

करती हैं। जहाँ रेल जाती है, वहाँ भी बहुधा आमदरफ़्त बढ़ जाने पर मोटरें खूब चलती हैं। प्रायः इनमें महसूल या किराये की दर रेल के बराबर ही रहती है। इनमें रेलों की तरह भारी पूँजी की आवश्यकता नहीं होती; कितने ही व्यक्ति अकेले अपनी पूँजी से कई-कई मोटरें चलाते हैं; सरकार को केवल सड़कें ठीक कराने की जरूरत रहती है।

मोटरों की सफलता गत वर्षों में इतनी अधिक हुई है कि सरकार को रेलों के विषय में चिन्ता हो चली। कई स्थानों में मोटरों की प्रतियोगिता के कारण रेलवे कम्पनियों को रेल का किराया कम करना पड़ा, तथा मोटरों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये गये। पेट्रोल पर आयात-कर बढ़ाये जाने की बात पहले कही जा चुकी है। कहीं-कहीं मोटरवालों पर पुलिस की भी धौंस रहती है। इतनी प्रतिकूलताओं के होते हुए भी मोटरवाले कुछ कमाते ही हैं, जब कि रेलों को बहुधा घाटे का रोना रहता है। इसका रहस्य यह है कि मोटरवाले मितव्ययिता से काम लेते हैं, और रेलों में विशेषतया उच्च पदों के लिए भारी वेतन और भत्ता आदि दिया जाता है, तथा अनेक प्रकार से लापरवाही से खर्च किया जाता है। यदि कहीं मोटरों को उपर्युक्त बाधाओं का सामान न करना पड़े, और सरकार इन्हें रेलों का प्रतिद्वंदी न समझकर इन पर भी कृपा-दृष्टि रखे तो इनके कार्य में विलक्षण उन्नति हो।

रेल-रोड़ योजना—सरकार ने एक रेल-रोड़ योजना बनायी है। देश भर की मोटर लारियों का एक ट्रस्ट हो, सब लारियाँ इसी ट्रस्ट की ओर से चलायी जायँ, दूसरी कोई लारी स्वतंत्र रूप से न चले। हर एक लारी का किसी स्थान से चलने का समय, किराया तथा उसकी सवारियों की संख्या निश्चित रहे। इस ट्रस्ट के ४६ प्रतिशत हिस्सेदार पुराने मोटर-मालिकों में से हों, और शेष हिस्सेदार रेलवे कम्पनियों के या सरकार की ओर से हों। इस ट्रस्ट को जो मुनाफा हो, वह हिस्सेदारों में बट जाया करे।

यह योजना इतनी खर्चीली है कि इसमें मुनाफे की कोई आशा नहीं; कारण, इसके प्रबन्ध में इंजीनियर और डायरेक्टरों को ही हजारों रुपये माहवार चाहिएँ; फिर मिस्त्री, क्लर्क, मुन्शी, ड्राइवर, कन्डक्टर आदि की तनख्वाहें अलग रहीं। असल में बात यह है कि रेलवे कम्पनी बहुत कोशिश करने पर भी मोटर वालों का मुकाबला न कर सकी। वह सरकार द्वारा उन्हें कानूनी प्रतिबन्ध में लाना चाहती है। अधिकारियों ने कुछ धनी मोटर-मालिकों को, डायरेक्टर आदि बनाने का प्रलोभन देकर, इस योजना के पक्ष में कर लिया है। योजना से बड़े-बड़े मोटर-मालिकों को भले ही फायदा हो, अधिकांश छोटे-छोटे मोटर वालों के रोजगार को इससे बहुत धक्का पहुँचने की आशंका है। हाँ; इस बात की आवश्यकता हम स्वीकार करते हैं कि मोटरों के मालिक मुसाफिरों के साथ अच्छा बर्ताव करें, सवारियों की संख्या निश्चित रहे, उससे अधिक सवारियाँ न बैठायी जायँ; मोटरों में सामान परिमित परिमाण से अधिक न रखा जाय, और वे हर जगह से रवाना होने का समय यथा-सम्भव निश्चित रखें। आशा है, इन सुधारों की ओर ध्यान दिया जायगा।

नदियाँ और नहरें—स्थल-मार्ग की अपेक्षा, जल-मार्ग से माल लेजाने में बहुत कम खर्च होता है। नदियाँ प्राकृतिक साधन हैं, उन्हें बनाना नहीं होता; मामूली खर्च से उन्हें व्यापार के लिए ठीक रखा जा सकता है। जल-मार्ग से माल लेजाने में शक्ति भी कम लगती है; बहाव की तरफ लेजाने में तो प्रायः कुछ भी शक्ति नहीं लगानी पड़ती। भारतवर्ष में जल मार्ग का उपयोग प्राचीन समय से हो रहा है। यह भी एक कारण है कि नदियों के किनारे बड़े-बड़े शहर, तीर्थ तथा व्यापार-केन्द्र बन गये। मुगल बादशाहों के शासन में भी यहाँ जल-मार्गों की अच्छी स्थिति रही। परन्तु अङ्गरेजों के शासन में दशा बिगड़ गयी, सरकार ने रेलों पर तो असंख्य रुपया लगाया, पर प्राकृतिक जल-मार्गों के उपयोग की ओर ध्यान न दिया। सरकारी

संरक्षण और सहायता के अभाव, और रेलों की प्रतिस्पर्द्धा ने इन्हें प्रायः नष्ट कर दिया। इधर कुछ वर्षों से इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी विशेष कार्य नहीं हुआ। अस्तु, देश की आर्थिक उन्नति के लिए, लाखों नाविकों को काम के काम देने के लिए, और मालढुलाई के कार्य को विदेशी पूँजी के प्रभाव से मुक्त करने के लिए, इस कार्य के उद्धार की बड़ी आवश्यकता है।

भारतवर्ष की नाव चलाने योग्य नदियों में सिंध, गंगा, और ब्रह्मपुत्र मुख्य हैं। इनमें मुहाने से लेकर सैकड़ों मील तक प्रायः बारहों महीने नाव चल सकती हैं। सिंध नदी की सहायक चनाव और सतलज में भी खासी दूर तक बारहों महीने नाव चलती हैं। हुगली, महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों में भी डेल्टा के ऊपर कुछ दूर तक नावें जा सकती हैं। वर्षा ऋतु में तो छोटी नदियों में भी नाव लेजाने की सुविधा रहती है। पूर्वी बंगाल में नावों के लिए सुभीता सबसे अधिक है; इस भाग में अधिकाँश जूट और धान आदि नावों से ही ले जाया जाता है।

नहरें यहाँ विशेषतया आबपाशी के लिए बनायी गयी हैं। इनके द्वारा व्यापार बहुत कम होता है। ये बड़े-बड़े शहरों और मुख्य-मुख्य मंडियों से होकर नहीं गुजरतीं, और न इनका सम्बन्ध समुद्र से ही है। बहुधा नहरों के चक्करदार रास्ते से माल ढोने में रेल की अपेक्षा समय और खर्च भी अधिक पड़ता है। कुछ नहरें केवल सामान ढोने के लिए भी बनायी गयी हैं; परन्तु उनकी आमदनी से उनका खर्च और पूँजी का केवल सूद ही निकलता है। नहरों को, सामान ढोने में उड़ीसा, सिंध, मदरास और दक्षिण-बङ्गाल के, नदियों के मुहानेवाले स्थानों में ही सफलता मिल सकती है, जहाँ रेलों के लिए पुल बनाना बहुत कठिन, एवं बड़े खर्च का काम है।

जहाज—अति प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारतवर्ष अपने ही जहाजों तथा जहाज-चलानेवालों से तटीय

(समुद्र के किनारे का) तथा विदेशी व्यापार करता था। पीछे यह कार्य धीरे-धीरे बन्द हो गया। वणिक-बुद्धि-प्रधान अंगरेज व्यवसायी भारतवासियों को इस से लाभ उठाते देखना सहन न कर सके। वे यहाँ से जहाजों के उपयोगी सामान अपने देश को लेजाने और वहाँ ही जहाज बनाने लगे। अब भारतवर्ष का तटीय तथा समुद्री व्यापार विदेशी जहाजों द्वारा होता है, इससे हमें करोड़ों रुपया उन जहाजों को देना होता है। यहाँ अधिकतर माल इङ्गलैंड और अमरीका के जहाजों से आता-जाता है।

इस परिस्थिति में सुधार करने की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता। बहुत आंदोलन होने के बाद सरकार ने सन् १९२३ ई० में 'इन्डियन-मरकेंटाइल-मेरीन-कमेटी' की नियुक्ति की थी, जिसका उद्देश्य यह जाँच करना था कि भारतीय जहाज चलाने, तथा जहाज बनाने के काम में किन-किन उपायों से उन्नति हो सकती है। इस कमेटी की सिफारिश के अनुसार डफरिन-नामक बेड़े पर जहाजों के कर्मचारियों तथा इंजिनियरों की शिक्षा की व्यवस्था की गयी। परंतु इस शिक्षा का उपयोग ही क्या है, जबकि कोई स्वदेशी जहाजी बेड़ा ऐसा न हो, जिसमें वे काम करसकें!

यहाँ कुछ स्वदेशी जहाज-कम्पनियों को भीषण प्रतियोगिता सहनी पड़ती है। सन् १९२८ ई० में श्री० हाजी जी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में इस विषय का प्रस्ताव उपस्थित किया था कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित किया जाय; यदि कोई मिश्रित पूँजी की कम्पनी जहाज चलाये तो उसका संचालन, प्रबन्ध और व्यवस्था अधिकांश में भारतीयों द्वारा हो। सरकार को इस प्रस्ताव में जातीय भेद-भाव की वृद्धि की गंध प्रतीत हुई, और उसने इसे टाल ही दिया।

सन् १९३७ में सर गजनवी का इस आशय का प्रस्ताव सिलेक्ट कमेटी में भेजा गया कि तटीय व्यापार में भारतीय जहाजी कम्पनियों

को विदेशी कम्पनियों की किराये आदि की अनुचित प्रतियोगिता न सहनी पड़े। इस प्रस्ताव का कोई अच्छा नतीजा जनता के सामने नहीं आया।

अगर भारतवर्ष अपने आयात-निर्यात का काम अपने जहाजों द्वारा करे, तो उसे प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये (जो अब विदेशों को जाते हैं) किराये के बचते रहें, और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के हज़ारों आदमियों को रोजगार मिल जाय। परन्तु यहाँ भारत-सरकार इस ओर उदासीन है। व्यापारिक जहाज बनाना या इस उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक सहायता देना तो दूर रहा, वह स्वयं अपने लिए जो सामान मँगाती है या अपनी ओर से सामान बाहर भेजती है, उसके भी लाने-लेजाने का अवसर देशी कम्पनियों को नहीं देती। सरकार की बाधाओं और उदासीनता की वर्त्तमान नीति अत्यंत हानिकारक और निन्दनीय है। जब तक इसका परित्याग न होगा, जहाज बनाने के उद्योग का भविष्य अंधकारमय रहेगा, तथा समुद्री व्यापार भारत के लिए यथेष्ट लाभदायक न हो सकेगा।

बंदरगाह—भारतवर्ष के आधुनिक व्यापार में बन्दरगाहों का बड़ा महत्व है। अब तो हमारे व्यापार की दशा ही बन्दरगाहों की ओर है। वहाँ पहुँचने वाले माल का परिमाण खूब बढ़ गया है। बन्दरगाहों में माल दो उद्देश्यों से तो जाता ही है—वहाँ से जहाजों द्वारा विदेशों में जाना, और दूसरे बन्दरगाहों में जाना। वहाँ माल जाने का एक कारण रेलवे महसूल सम्बन्धी वर्त्तमान नीति भी है। जैसा कि पहले कहा गया है, यहाँ रेलें बन्दरगाहों पर जाने वाले कच्चे माल पर जो महसूल लेती हैं, वह उस माल के महसूल की अपेक्षा कम होता है, जो उस बन्दरगाह के नज़दीक किसी दूसरी जगह के लिए भेजा जाय। इस लिए जब किसी व्यापारी को किसी ऐसे नगर के कारखाने के लिए कच्चा माल भेजना हो, जो किसी बन्दरगाह के निकट हो, तो उसे उस माल को कारखाने में सीधा न भेजकर बन्दरगाह के रास्ते भेजने में किफ़ायत

रहती है। अस्तु, अब विविध कारणों से बन्दरगाहों पर माल बहुत भेजा जाता है। फिर, हमारे यहाँ विदेशी माल की खपत बहुत बढ़ गयी है, यह माल दूसरे देशों से हमारे बन्दरगाहों पर ही आकर उतरता है। माल के इस आने और जाने का काम बढ़ने से बन्दरगाहों का विशेष महत्व हो गया है। बड़े-बड़े जहाजों का चलन हो जाने के कारण प्राचीन काल के बहुत-से बन्दरगाह अब व्यापार के लिए उपयोगी नहीं रहे हैं। इसके विपरीत, कुछ नये बन्दरगाहों की बहुत उन्नति हुई है। भारत-सरकार की, विदेशी व्यापार में, विशेषतया इंगलैंड से होने वाले व्यापार में खूब दिलचस्पी है। इस लिए वह बन्दरगाहों की उन्नति में काफी ध्यान देती है।

हवाई जहाज—पिछली सदी तक यातायात तथा आमदरफ्त के प्रायः दो ही मार्ग थे—स्थल-मार्ग और जल मार्ग। अब वायु-मार्ग का भी उपयोग होने लगा है, और क्रमशः बढ़ता जा रहा है। भारतवर्ष में इसकी वृद्धि की बहुत सम्भावना है; कारण, वायु-मार्ग के विचार से इस देश की प्रकृतिक स्थिति बहुत अनुकूल है; उस समय को छोड़ कर, जबकि जल बर्साने वाली हवाएँ चलती हैं, यहाँ की जल-वायु आदर्श है। हवाई जहाज़, उनके उतरने के स्थान तथा ठहरने के स्टेशन, और प्रकाश-भवन आदि बनाने में रेलवे लाइन और रेलवे स्टेशन आदि की अपेक्षा कम खर्च होता है। अभी हवाई जहाजों के लिए कच्चे माल आदि का भारी सामान ढोना कठिन है, परन्तु जब बहुत-से हवाई जहाज जाने लगेंगे तो यह कठिनाई न रहेगी। सोने और चांदी का माल ढोने के लिए हवाई जहाज बहुत ही उपयुक्त हैं। उन पर बहुत कम लोगों के हाथ लगते हैं, इसलिए चोरी का डर कम रहता है। इसी से हवाई डाक से ऐसी चीज़ें भेजी जाती हैं।

भारतवर्ष के बड़े-बड़े नगर हवाई जहाज़ द्वारा जोड़े जा चुके हैं, बीच में स्थान-स्थान पर हवाई जहाज़ों के उतरने के लिए जगह तैयार की जा रही है। हवाई जहाज से यात्रा करने या डाक भेजने में समय

की बहुत बचत होती है।

दिसम्बर सन् १६४० में श्री० वालचन्द हीराचन्द ने चालीस लाख रुपये की पूँजी से जहाज बनाने के लिए एक कम्पनी बनायी, जिसका नाम 'हिन्दुस्थान एअर-क्राफ्ट कम्पनी' है। कम्पनी ने बंगलौर में एक कारखाना खोला, जहाँ कि सस्ती बिजली और अच्छे फ़ौलाद मिलने की सुविधा है। कम्पनी की पूँजी पीछे ७५ लाख रुपये की करदी गयी। इस में मैसूर सरकार का भी अच्छा हिस्सा है। युद्ध-काल के लिए इस कम्पनी का कारोबार भारत सरकार ने अपने अधीन रखा। इस का पहला जहाज जुलाई १६४१ में उड़ा था।

डाक, तार, टेलीफ़ोन और रेडियो—डाक और तार से भी व्यापार की वृद्धि होती है। यह कार्य सरकार द्वारा संचालित होता है। डाक और तार विभाग अपने काम के लिए हवाई जहाजों, रेलों, मोटरों, और जहाजों का उपयोग करता है। इस विभाग का सन् १६४२-४३ ई० का काम नीचे लिखे अंकों से मालूम हो जायगा :—

डाक में भेजी गयी कुल वस्तुओं की संख्या	१,३७,६०	लाख
रजिस्टर्ड वस्तुओं की संख्या	४,३३	,,
बीमे द्वारा भेजी गयी वस्तुओं की संख्या	२८	,,
मनिआर्डरों की संख्या	५,१०	,,
बीमों का मूल्य	रु० १,१४,३०	,,
डाक महसूल	रु० १०,४६	,,
मनिआर्डरों का मूल्य	रु० १,१३,६०	,,
पोस्टल आर्डर बिके, उनका मूल्य	रु० ३३	,,
वी० पी० द्वारा संग्रह किया गया	रु० १७,५०	,,

इस विभाग को कुल आय १२ करोड़ ४६ लाख रुपया हुई, और खर्च ११ करोड़ ५६ लाख रुपया हुआ। कुल डाकखानों की संख्या २५,६७१ थी। सन् १६४२-४३ के अन्त में मेल लाइन (डाक जाने का मार्ग) १ लाख ५६ हजार मील थी, और इसमें १ लाख २२

हजार आदमी काम करते थे। वर्ष के अन्त में तार की लाइन एक लाख मील से अधिक थी। इस साल देश तथा विदेशों में दो करोड़ उनतालीस लाख तार भेजे गये। डाक और तार से, खर्च काटकर, इस वर्ष कुल ४ करोड़ ५२ लाख रुपये का मुनाफा रहा।

टेलीफोन का अधिकतर सम्बन्ध एक ही देश के अन्दर भिन्न-भिन्न स्थानों से या कहीं-कहीं एक ही नगर के भीतर रहता है। बड़े-बड़े शहरों में एक जगह से दूसरी जाने-आने में काफी समय लगता है; टेलीफोन के द्वारा व्यवसायी अपनी-अपनी दुकान या दफ्तर में बैठे हुए कई-कई मिनट तक बातचीत कर सकते हैं। ३१ मार्च सन् १९४३ को भारतवर्ष में डाक और तार विभाग द्वारा स्थापित टेलीफोन-एक्सचेंज कार्यालय २९३ थे, इनके २९,६०० सीधे सम्बन्ध (कनेक्शन) थे। सरकार को इस मद से लगभग एक करोड़ रुपये की आय हुई। कलकत्ता, बम्बई, मदरास, करांची और अहमदाबाद में विविध कम्पनियों द्वारा स्थापित टेलीफोन-एक्सचेंज २९ थे और इनकी ६६,२६५ टेलीफोन लगी हुई थीं।

बेतार-के-तार द्वारा एक नगर से दूसरे नगर में, तथा अन्य देशों के प्रधान नगरों में, समाचार बहुत जल्द आ-जा सकता है। समुद्र-पार के स्थानों में, अथवा समुद्र में एक जहाज से दूसरे जहाज पर समाचार भेजने के लिए यही साधन काम में लाया जाता है। सन् १९३९-४० के अन्त में डाक और तार विभाग की ओर से बेतार-के-तार के २२ स्टेशन थे; इनमें से तीन स्टेशन जनसाधारण के तार लेते थे। छः स्टेशन समुद्र में स्थित जहाजों से बातचीत करने का कार्य करते थे, और छः स्टेशन हवाई जहाजों से सम्बन्ध रखने वाले थे।

रेडियो द्वारा दूर-दूर के देशों में समाहार भेजने की व्यवस्था हो गयी है। एक वक्ता का भाषण या गाना-बजाना हजारों मील दूर के आदमी, अपने-अपने घरों में इस यंत्र के पास बैठकर, अच्छी तरह सुन सकते हैं। रेडियो-कम्पनियाँ इसके द्वारा चीजों का विज्ञापन भी करती

हैं; उदाहरण के लिए कुछ स्थानों में रेडियो द्वारा नयी-नयी पुस्तकों का परिचय दिया जाता है। भारतवर्ष में रेडियो का केन्द्रीय (अखिल भारतवर्षीय) हेडक्वार्टर नयी देहली में है। इसके कुल नौ स्टेशन हैं—देहली, बम्बई, मदरास, कलकत्ता, लाहौर, लखनऊ, त्रिचनापली, ढाका और पेशावर। जनवरी १६४१ के अन्त में १,२१,५६४ व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इसका लेसन्स ले रखा था। लेसन्स डाक और तार विभाग के डायरेक्टर-जनरल (नयी देहली) की ओर से बड़े डाकखानों तथा छोटे डाकखानों (सब-पोस्ट आफिस) द्वारा जारी किये जाते हैं।

व्यापार के साधनों की उन्नति और उसका प्रभाव—माल ढोने की उन्नति के कारण, देश के भीतर एक जगह से दूसरी जगह तथा बन्दरगाहों से माल का आना-जाना बढ़ा है। रेलों ने नयी सड़कों की माँग बढ़ा दी है, व्यापार के पुराने रास्तों को बदल दिया है, और प्राचीन मंडियों को बन्द करके नये व्यापार-केन्द्र खोल दिये हैं, जो रेलवे लाइनों के किनारे बसे हैं। रेलें और माल ढोनेवाली मोटरें पुराने ढङ्ग की बैल-गाड़ियों तथा लद्दू जानवरों का काम कर रही हैं। किन्तु देश के भीतरी भागों में अभी उनकी पूरी पहुँच नहीं हुई है। सामान-ढुलाई का खर्च कम हो गया है। जहाजों तथा कुछ अंश में वायुयानों ने भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध दूर-दूर के देशों से कर दिया है। यहाँ का देशी तथा विदेशी व्यापार खूब बढ़ गया है। हमारा कच्चा माल विदेशों को चला जा रहा है, और उनका तैयार माल हमारे बाजारों को पाट रहा है। स्वदेशी उद्योग धन्धे नष्ट हो रहे हैं। हमारे किसान पहले खासकर यहाँ के आदमियों के लिए ही आवश्यक चीजें पैदा करते थे। अब उनका ध्यान ऐसे पदार्थ पैदा करने की ओर रहता है, जिनकी कीमत अच्छी मिले, चाहे उनकी यहाँ वालों को आवश्यकता न हो, और वे केवल दूसरे देशों में ही भेजे जाने योग्य हों। आजकल बन्दरगाहों की उन्नति हो रही है,

क्योंकि देश का माल यहीं आकर विदेशों को जाता है, और विदेशी माल भी यहीं आकर देश भर में फैलता है। अस्तु, व्यापार के साधनों की उन्नति तो होनी चाहिए, परन्तु उसके साथ ही उनके भारतीय जन-प्रतिनिधियों के नियंत्रण में रहने की बड़ी आवश्यकता है, जिससे उनके द्वारा व्यापार की जो वृद्धि हो, वह हमारे लिए हितकर हो।

युद्ध, और व्यापार के साधन—भारतवर्ष में व्यापार के साधन शान्ति-काल के लिए भी कम हैं, फिर युद्ध-काल की बात ही क्या! वर्त्तमान युद्ध में युद्ध-सामग्री तथा सैनिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान लाने-लेजाने में ही बहुत सी सवारी गाड़ियाँ, तथा माल-गाड़ी के डिब्बे और एंजिन लग गये। सर्वसाधारण के वास्ते इनकी कमी पड़ गयी। व्यापारियों को बढ़े हुए किराये पर भी मालगाड़ी के डिब्बे काफी संख्या में न मिल सके, माल के निर्धारित स्थान पर पहुँचने में बहुत अधिक समय लगा, कुछ माल तो रास्ते में खराब ही हो गया। बहुत सी अच्छी अच्छी मोटर-लारियाँ लड़ाई के काम के वास्ते ले ली जाने से, तथा पेट्रोल का नियंत्रण होने से मोटर-लारियों से भी माल ढोने का काम यथेष्ट रूप में नहीं लिया जा सका। इससे व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया। देश में पहले यातायात का बहुत सा काम बैल-गाड़ी, ऊँट-गाड़ी, खच्चर, और गधों द्वारा होता रहा है, परन्तु इनसे माल बहुत दूरी के स्थानों में ले जाना आसान बात नहीं है। फिर, लम्बे फासलों के लिए इनका उपयोग करने का हमें अब अभ्यास या आदत भी नहीं रही है। युद्ध-काल में जनता ने इनकी ओर ध्यान दिया, और जहाँ तहाँ इनका उपयोग भी किया, तथापि अनेक स्थानों के आदमियों के पास बाहर के पदार्थ नहीं पहुँच सके और उन्हें भोजन-वस्त्र का भयंकर कष्ट उठाना पड़ा। इससे लोगों को उस युग की याद आयी, जब रेल और मोटर का प्रचार न होने पर भी वे आजकल की तरह कष्ट नहीं पाते थे; कारण, उस

समय प्रत्येक ग्राम और नगर यथा-सम्भव स्वावलम्बी था, आदमी अपनी आवश्यकताओं की चीजें पैदा करते थे, और यातायात का काम अपने ही अधीन साधनों से, बैलगाड़ी, ऊँट, गधों आदि से ले लेते थे। अब रेल मोटर आदि बढ़िया-बढ़िया साधन हैं। परन्तु, अफसोस! वे समुचित रूप से जनता के काम नहीं आते; वे सरकार के नियंत्रण में हैं, जो उनकी व्यवस्था जनहित की दृष्टि से नहीं करती। उदाहरण के लिए उसने इस समय भी भारतवर्ष के लिए जहाज यहाँ न बनवाकर आस्ट्रेलिया में बनवाये। यह परिस्थिति अब असह्य है। इसमें अविलम्ब सुधार होना चाहिए।

उन्नीसवाँ अध्याय

देशी व्यापार

पहले बताया जा चुका है कि आजकल अधिकांश विनिमय-कार्य रुपये-पैसे द्वारा होता है। हम अपनी चीज बेचकर रुपया लेते हैं, और किसी चीज को खरीदने के लिए रुपया देते हैं। इस खरीद-फरोख्त या क्रय-विक्रय के कार्य को व्यापार कहते हैं। व्यापार खासकर दो प्रकार का होता है—देशी और विदेशी। देशी व्यापार देश की सीमा के भीतर का व्यापार है। विदेश से आनेवाले तथा विदेश को जानेवाले माल के व्यापार को विदेशी व्यापार कहते हैं।

देशी व्यापार के भेद—इस अध्याय में देशी व्यापार का वर्णन किया जाता है। इसके दो भेद मुख्य हैः—(१) आंतरिक या भीतरी व्यापार, और (२) तटीय व्यापार जो समुद्र के किनारे के स्थानों में होता है।

आजकल सट्टे और जुए का भी, व्यापार से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि कुछ लोग इनमें और व्यापार में कोई भेद नहीं

समझते। ऊपर जिन व्यवसायों का उल्लेख है, उन्हें छोड़कर जो क्रय-विक्रय केवल तेजी-मन्दी होने की सम्भावना पर, नफा होने की आशा से, किया जाता है, उसे सट्टा ('स्पेक्यूलेशन') कहते हैं। इसमें बेचे तथा खरीदे हुए माल को देना-लेना होता है, कुछ दशाओं में माल के विनिमय से होनेवाले हानि-लाभ की रकम ही दी या ली जाती है। जो सौदा बेशुमार लाभ होने की आशा से, हैसियत से अधिक किया जाता है, और जिसमें माल का देना-लेना नहीं होता, उसे जुआ कहते हैं। इसके लेन-देन की सुनवाई अदालत में नहीं होती।

आंतरिक व्यापार और उसके केन्द्र—देशी व्यापार में निम्नलिखित कार्यों का समावेश होता है:—(क) देश में उत्पन्न या तैयार किये गये पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचा कर बेचना, या उन्हें विदेशों में बेचने के लिए बड़े-बड़े बन्दरगाहों में पर भेजना। (ख) विदेशों से देश के बन्दरगाहों पर आये हुए माल को देश के भीतरी भागों में पहुँचा कर बेचना।

ज्यों-ज्यों आमदरफ्त और यातायात के साधनों की उन्नति होती जाती है, भारतवर्ष का भीतरी व्यापार बढ़ता जाता है। लोगों की आर्थिक अवस्था सुधरने पर इसमें और भी अधिक प्रगति होने की आशा है। व्यापार के केन्द्र या मंडियाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में हैं। कलकत्ता और बम्बई मुख्य बन्दरगाह होने के अतिरिक्त महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र भी है। सूती माल की आयात को पश्चिम भारत में वितरण करने का कार्य बम्बई से होता है। यहाँ का व्यापार प्रधानतया भारतीयों के हाथ में है, जबकि कलकत्ते में योरपियनों का जोर है। कराची गेहूँ के व्यापार का केन्द्र है। मदरास आदि बन्दगाहों का भी व्यापार और उद्योग में खासा स्थान है। बन्दरगाहों के अतिरिक्त, व्यापार के अन्य बड़े-बड़े केन्द्र कानपुर, देहली,. अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लाहौर, लखनऊ, नागपुर आदि हैं। कानपुर संयुक्तप्रान्त में एक बड़ा रेलवे जंक्शन है, और बम्बई तथा

कलकत्ते के बीच में होने से यहाँ से देशी तथा विदेशी माल चारों तरफ भेजने में सुविधा रहती है। देहली नौ रेलवे लाइनों का जंकशन है; यहाँ से पंजाब में तथा संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी जिलों में खासकर रूई, रेशम और ऊनके कपड़े का खूब व्यापार होता है। अहमदाबाद, बम्बई प्रान्त में, बम्बई से दूसरे दर्जे का व्यापारी तथा औद्योगिक नगर है। अमृतसर में कालीन, चमड़े आदि का कारोबार है। आगरे में दरी, कालोन, गोटा-किनारी संगमरमर आदि का काम अच्छा होता है। इसी प्रकार और भी कितने ही नगरों का व्यापारिक तथा औद्योगिक दृष्टि से अपना-अपना महत्व है।

भारतवर्ष के भीतरी व्यापार के महत्व को बहुधा ठीक-ठीक ध्यान में नहीं लाया जाता। यह व्यापार यहाँ के विदेशी व्यापार की अपेक्षा कई गुना है, तथापि देश की विशाल जनसंख्या को देखते हुए अन्य देशों की तुलना में यह बहुत कम ही है। इसका कारण कुछ तो अधिकाँश लोगों का सादा रहनसहन है, जिससे वे अपने नज़दीक की चीज़ों से ही अपना निर्वाह कर लेते हैं, और कुछ कारण यह भी है कि जनता में इतनी आर्थिक शक्ति ही नहीं कि वे बहुत से पदार्थों को इस्तेमाल के लिए खरीद सकें।

अन्तर्प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता—भारतवर्ष के देशी व्यापार में रेल आदि की कमी या इन पर लगाये हुए प्रतिबन्धों से जो बाधा होती है, उसका ज़िक्र पहले किया चुका है। दूसरी बाधा यह है कि बहुधा एक प्रान्त में अनाज की कमी होने पर दूसरे प्रान्त की सरकार वहाँ काफी उदारता से अन्न आदि नहीं भेजती; यहाँ तक कि कुछ दशाओं में एक जिले से दूसरे जिले में खाद्य पदार्थ जाने में भी बड़ी रुकावट लगादी जाती है। देशी राज्यों मे तो माल बाहर जाने की मनाही प्रायः हमेशा ही रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि कभी-कमी एक जगह एक चीज़ की बहुत कमी होती है, और वहाँ से कुछ मील के फासले पर ही वह चीज़ बहुत सस्ती होती है। ये सब

बातें राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध है। भारतवर्ष के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में प्रत्येक वस्तु का निर्बाध व्यापार होना चाहिए। इस विचार से भारतवर्ष के शासन विधान में परिवर्तन हो जाना आवश्यक है।

तटीय व्यापार—तटीय व्यापार में वह सब व्यापार सम्मिलित होता है, जो समुद्र-तट के एक स्थान का, दूसरे स्थान से होता है; चाहे वह व्यापार स्वदेशी वस्तुओं का हो या विदेशी का। इस प्रकार, इसके अंतर्गत ऐसे पदार्थों के व्यापार का भी समावेश होता है, जिनके क्रय-विक्रय का देश के भीतरी भागों से कुछ सम्बन्ध न हो। परन्तु ऐसे व्यापार का परिमाण थोड़ा ही होता है। अतः तटीय व्यापार अधिकतर देशी व्यापार का ही भाग माना जाता है। भारतवर्ष के तटीय व्यापार का ६० फीसदी से अधिक व्यापार कलकत्ते से होता है, उसके पीछे का क्षेत्र बहुत धनी और उपजाऊ है। कलकत्ते के बाद प्रायः बम्बई, कराची और मदरास का नम्बर है। शेष व्यापार छोटे-छोटे कई बन्दरगाहों में बटा हुआ है; इनमें चटगाँव प्रसिद्ध है। कुल तटीय व्यापार प्रतिवर्ष लगभग दो सौ करोड़ रुपये के माल का होता है। यदि भारतवर्ष का स्वदेशी व्यापारी बेड़ा हो और उसे सरकार द्वारा यथेष्ट संरक्षण मिले तो यह व्यापार बहुत बढ़ सकता है।

व्यापारी और उनका संगठन—हमारे व्यापार की प्रमुख संचालक बड़ी-बड़ी एजंसी-कम्पनियां हैं, जो अधिकांश में विदेशी हैं। इन कम्पनियों की प्रधान शाखाएँ यहाँ के बड़े बन्दरगाहों में हैं, कुछ ने अपनी छोटी शाखाएँ भिन्न-भिन्न शहरों में खोल रखी हैं। इन कम्पनियों के नीचे का व्यापार प्रायः भारतवासियों के ही हाथ में है। इस प्रकार के व्यापार में मारवाड़ियों ने बड़ा भाग लिया है। इनके अतिरिक्त बम्बई में पारसियों, भाटियों, बोहरों और खोजा लोगों ने, पंजाब में खत्रियों और मुसलमानों ने, सयुक्तप्रान्त में बनियों (वैश्यों)

ने बङ्गाल और बिहार में मारवाड़ियों ने तथा मदरास में चेटी और कोमाटियों ने बड़ी प्रवीणता दिखाई है। खेद है कि अधिकाँश व्यापारियों को व्यापार का विशेष ज्ञान नहीं होता, वे भले-बुरे उपायों से पैसा प्राप्त करने को ही व्यापार समझते हैं, और व्यापारी के नाम को लज्जित करते हैं। व्यापारियों को जानना चाहिए कि जनता की आवश्यकता की कौन-कौनसी वस्तु वदेशों में पैदा या तैयार होती है, वे चीजें यहाँ किस प्रकार प्राप्त की जा सकती हैं, जिससे देश स्वावलम्बी हो। इसी प्रकार व्यापारी इस बात का पता लगाते रहें कि हमारे यहाँ के कौन-कौनसे उपयोगी पदार्थ ऐसे हैं, जो यहाँ बहुत अधिक होते हैं, और विदेशों में नहीं होते, अथवा कम परिमाण में होते हैं। इन पदार्थों को बाहर भेजने की व्यवस्था करने में उनका उद्देश्य न केवल धन पैदा करना, वरन् लोकहित भी होना चाहिए। यहाँ के व्यापारिक संगठनों में योरपियन संस्थाएँ प्रमुख और प्राचीन हैं—यथा एसोशिएटेड चेम्बर-आफ-कामर्स आफ इंडिया, तथा चेम्बर-आफ-कामर्स कलकत्ता (सन् १८३४), बम्बई (१८३६), मदरास (१८३६), और कराची आदि। बम्बई की चेम्बर को छोड़कर, अन्य चेम्बरों में अधिकांश सदस्य योरपियन ही हैं। इन चेम्बरों के अतिरिक्त, कुछ संस्थाएँ व्यापार की भिन्न-भिन्न शाखाओं से सम्बन्धित हैं, जैसे जूट मिल एसोशिएशन या काटन मिल एसोशिएशन। मुख्य-मुख्य शहरों में फुटकर बेचनेवालों की भी कुछ संस्थाएँ हैं।

भारतीय व्यापारियों ने बहुत समय तक अपना संगठन नहीं किया था, इससे उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी, और उनकी शिकायतों पर सरकार ने कुछ ध्यान नहीं दिया। क्रमशः उनमें जागृति हुई; उन्होंने अपनी संगठित संस्थाएँ बनायीं। अब करीब-करीब हर प्रान्त में उनकी चेम्बर-आफ-कामर्स स्थापित हो गयी है। इनकी सब से पुरानी संस्था बंगाल नेशनल चेम्बर-आफ-कामर्स (१८८७) है। अन्य कुछ संस्थाएँ

निम्नलिखित हैं :—मारवाड़ी चेम्बर आफ-कामर्स (१६०७); इंडियन मर्चैन्ट्स चेम्बर एँड ब्यूरो, बम्बई (१६०७); साउथ इंडयन चेम्बर-आफ-कामर्स, मद्रास (१६०६); इडियन चेम्बर-आफ-कामर्स, कलकत्ता (१६२५); और महाराष्ट्र चेम्बर-आफ-कामर्स (१६२७)। भारतवर्ष की व्यापारिक और औद्योगिक चेम्बरों का अखिल भारतीय संघ (फेडरेशन) भी है। ऐसी संस्थाओं द्वारा भारतीय व्यापार की बहुत उन्नति हो सकती है, और ये सरकार तथा रेलों पर भारतीय हित की दृष्टि से काम करने के लिए बहुत प्रभाव डाल सकती हैं। परन्तु प्रायः योरपियन संस्थाओं का ही बोलबाला होने से इसमें सफलता नहीं मिलती। इसका एक कारण यह है कि भारतीय व्यापारियों में एकता नहीं, अनेक व्यापारी परस्पर में ईर्षा और अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। ये उधार देकर, माल का दाम गिराकर, या ग्राहकों को बहकाकर जैसे-भी-बने अपना माल बेचना, नफा कमाना और दूसरे व्यापारियों को नीचा दिखाना चाहते हैं। ये सब बातें हमारे व्यापार की उन्नति में बड़ी बाधक हैं। इनका निवारण करने की ओर व्यापारिक संस्थाओं को यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। युद्ध-काल (१६३६-४५) में यहाँ की व्यापारिक संस्थाओं ने अपने संगठन को मज़बूत बनाने की ओर ध्यान दिया, उन्हों ने समय-समय पर सरकार को अपने सामूहिक मत से परिचित किया और अपने सदस्यों को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का ज्ञान कराया।

तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता—हमारे अंतर्प्रांतीय व्यापार की वृद्धि में एक बाधा तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता या अलहदगी है। गत वर्षों में इनकी पृथक्ता कुछ घटी है, परन्तु अभी यथेष्ट सुधार नहीं हो पाया है। अधिकतर व्यापार में ८० तोले का सेर माना जाता है, तो अनेक स्थानों में कम या ज्यादह वज़न के सेर का भी प्रचार है। मध्यप्रान्त आदि में दाल चावल आदि माप कर दिये जाते हैं, इससे जब वहाँ कोई नया खरीददार पहुँचता है

तो आरम्भ में उसे हिसाब समझने में कठिनाई होती है। कपड़े आदि के माप में सोलह गिरह या छत्तीस इंच के गज़ का आम चलन है, तथापि कितनी ही जगह भिन्न-भिन्न माप के कच्चे गज़ का व्यवहार है। सिक्कों में ब्रिटिश भारत का रुपया देश भर में कानून-ग्राह्य है, प न्तु कई देशी राज्यों में उनका अलग-अलग मूल्य का रुपया चलता है। इससे बहुत असुविधा होती है। राष्ट्र-हितैषियों को इस ओर समुचित ध्यान देना चाहिए, और अपनी निजी भावनाओं को कुछ अंश में त्याग कर भी व्यापारिक एकता और राष्ट्र-निर्माण कार्य में योग देना चाहिए।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी असुविधाएँ—भारतीय व्यापार की एक प्रधान समस्या क्रय-विक्रय की जटिलता है। पहले कहा जा चुका है कि यहाँ अधिकतर किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। वे माल खरीदने और बेचने के ज्ञान से वंचित होते हैं, और फल-स्वरूप उन्हें दोनों ओर से बड़ी हानि सहनी पड़ती है। पहले माल खरीदने का विचार करें। किसान को बीज आदि खरीदना होता है, उसे अपने गाँव से बाहर का भाव मालूम नहीं होता, और मालूम भी हो तो क्योंकि उसे माल थोड़े परिमाण में खरीदना होता है, उसके लिए किसी दूर के स्थान में जाकर उसे लाना कठिन होता है। अनेक दशाओं में तो उसके पास नकद दाम ही नहीं होते, उसे अपनी आवश्यकता की वस्तु उधार मोल लेनी होती है। अस्तु, गाँव का महाजन जिस भाव से उसे देता है, उसी भाव से वह लेलेता है।

इसी प्रकार बेचने की बात है। बहुधा किसान को लगान चुकाने के लिए खेती की पैदावार बेचने की बहुत जल्दी रहती है। वह उसके अच्छे दाम उठाने के लिए कुछ इंतजार नहीं कर सकता। फिर प्रायः उसे अपनी फसल का माल गाँववाले महाजन को ही बेचना होता है, जिसका वह प्रायः ऋणी रहता है। अधिकतर किसानों को न बाहर की मंडियों का भाव मालूम होता है, और न उन्हें बाहर जाकर बेचने का सुभीता है, इसलिए उन्हें अपने माल की जो-कुछ कीमत मिलती

है, उसी में सन्तोष करना होता है। कुछ-थोड़े-से किसान ऐसे होते हैं, जिन्हें अधिक पैदावार बेचनी होती है, ये पास के किसी कस्बे की मंडी में जाकर बेचते हैं। यहाँ उन्हें कई प्रकार के शुल्क या महसूल आदि देने होते हैं। चुँगी (म्युनिसिपल टेक्स) के अलावा, मंडी में गाड़ी ठहराने का शुल्क, दलाल की दलाली, माल की तुलाई, तथा गोशाला और प्याऊ आदि का चन्दा—न-जाने उनसे क्या-क्या लिया जाता है। बेचारे किसान को पहले तो यही निश्चय नहीं होता कि उसका माल उचित भाव से बिक रहा है, और उसे ठीक-ठीक दाम मिल रहे हैं; फिर, जब दाम मिलने लगते हैं तो उपर्युक्त विविध शुल्क आदि में उस की खासी रकम निकल जाती है।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी इस हानि को दूर करने का उपाय यह है कि स्थान-स्थान पर सहकारी क्रय-विक्रय समितियाँ बनायी जायँ। समिति के सदस्य को जिस, और जितने माल की आवश्यकता होती है, उसकी सूचना वह समति को देता है। समिति बाजार के उतार-चढ़ाव का ध्यान रखते हुए इकट्ठा माल थोक भाव से खरीद लेती है, और साधारण कमीशन लेकर अपने सदस्यों को, उनकी आवश्यकतानुसार, माल दे देती है। इस से सदस्यों को बहुत किफायत रहती है। यह तो क्रय-सम्बधी बात हुई। इसी प्रकार, समिति अपने सदस्यों का माल बेचने का उचित प्रबन्ध कर सकती है; वह बाजार सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त करके माल को अंतिम खरीददार के हाथ बेचने का प्रयत्न कर सकती है, जिससे बीच के कई-एक दलालों को दलाली तथा अन्य नाना प्रकार के शुल्क आदि से छुटकारा होकर किसानों को अधिक-से-अधिक दाम मिलें। कुछ स्थानो में ऐसी समितियाँ बन गयी हैं, उनका क्षेत्र क्रमशः बढ़ रहा है।

दलालों की अधिकता—हमारी व्यापार-पद्धति में एक बड़ा दोष यह है कि उसमें दलाल बहुत अधिक होते हैं, चाहे माल का उपभोग भारतवर्ष में ही हो, या वह विदेश में भेजा जाता हो। उदाहरण

के लिए चावल के व्यापार का विचार करें, इसमें कितने दलाल होते हैं! साधारणतः गाँव के आदमी चावल अपने गाँव के ही महाजन के हाथ बेच देते हैं। ये महाजन उसे रेल-किनारे के बाजारों के दुकानदारों या आढ़तियों के पास पहुँचा देते हैं। ये दुकानदार या आढतिये उस चावल को किसी केंद्रीय मंडी के व्यापारियों के हाथ बेचते हैं, जो चावल के व्यापार के लिए विशेष प्रसिद्ध हों।* इस मंडी के व्यापारियों से चावल को भिन्न-भिन्न स्थानों के दुकानदार मँगाकर स्थानीय उपभोक्ताओं को फुटकर बेचते हैं। इस प्रकार उत्पादकों से उपभोक्ताओं तक कई आदमी इस व्यापार में भाग लेते हैं, और दलाली खाते हैं।

दलालों की अधिकता का दूसरा उदाहरण पुस्तकों का व्यवसाय है। आजकल कुछ स्थानों में साठ और सत्तर ही नहीं, पिछत्तर फी सदी तक कमीशन दिया और लिया जाने लगा है। जो आदमी इतना अधिक कमीशन लेते हैं, वे दूसरे कमीशन-एजंटों को पचास फी सदी के लगभग कमीशन पर माल बेच देते हैं। ये कमीशन-एजंड छोटे विक्रेताओं को प्रायः पचीस फी सदी कमीशन देते हैं। ये पुस्तक-विक्रेता अपने से छोटे पुस्तक-विक्रेताओं को, अथवा अध्यापक, पुस्तकाध्यक्ष लाइब्रेरियन या विद्यार्थी आदि किसी विशेष श्रेणी के ग्राहकों को, और दस-पाँच रुपये की इकट्ठी पुस्तक लेनेवाले साधारण ग्राहक को भी, छः से बारह फी सदी तक कमीशन दे देते हैं। कुछ दुकानदार तो फुटकर ग्राहकों को, चाहे वे आठ आने की ही किताब क्यों न लें, कुछ-न-कुछ कमीशन काटते हैं। अस्तु, इस व्यापार में मूल विक्रेता जिस पुस्तक पर ७५ फी-सदी कमीशन काट कर चार आने मूल्य लेता है, वह अंतिम ग्राहक यानी पाठक को एक रुपये में मिलती है; बीच

---

*यदि इस माल का निर्यात किया जाना हो तो मंडीवाले इस को बन्दरगाह पर भेजते हैं। फिर, बन्दरगाहवाले इस माल के चालान को उस एजंसी के हाथ बेचते हैं, जो विदेशों को माल भेजने का कारोबार करती है।

के बारह आने दलालों में बँट जाते हैं। इससे पाठकों को होने वाली हानि स्पष्ट है। वास्तव में उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में कई-कई दलालों का पड़ना अनुचित और हानिकारक है। सहकारी विक्रय-समितियों द्वारा इस विकराल दलाली-प्रथा का निवारण किया जाना बहुत आवश्यक है, जिससे जनता की इस व्यापार के नाम से होनेवाली भयंकर लूट से समुचित रक्षा हो।

पदार्थों का भाव-ताव करने के विषय में—हमारे यहाँ प्रायः पदार्थों के दाम निश्चित नहीं होते; दुकानदार उसके अधिक-से-अधिक दाम माँगता है, और ग्राहक उसके कम-से-कम दाम लगाता है। बहुत देर तक वाद-विवाद और हाँ-ना के बाद उक्त दोनों दामों के बीच के किसी दाम पर सौदा तय होता है। यह हमारे दैनिक जीवन की बात बन गयी है, और प्रायः हम इसे दोष नहीं मानते। पाठक तनिक विचार करें कि इस पद्धति में कितना समय और शक्ति नष्ट होती है। बाजार से सौदा लाना कितना कठिन हो गया है! भोले-भाले आदमियों की तो बात ही क्या, कभी-कभी अच्छे-अच्छे होशियार भी ठगे जाते हैं। इसे रोकने के लिए वस्तुओं के दाम निर्धारित रहने की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक वस्तु की कीमत सुनिश्चित हो, और, जिन वस्तुओं की कीमत उन पर लिखी जानी सम्भव हो, उनकी तो लिखी हुई ही हुआ करे। कीमत निर्धारित करने में मुनाफा साधारण ही जोड़ा जाना चाहिए।*

यह तो एक पक्ष की बात हुई। हम लोग प्रायः दुकानदारों के व्यवहार पर आक्षेप किया करते हैं। परन्तु क्या ग्राहक सदा ईमानदारी या नेकनीयती का परिचय देते हैं? क्या जब कभी उन्हें अवसर मिलता है, वे दुकानदार को धोखा देने से चूकते हैं? अनेक बार ग्राहक कम

* दुकानदारों को यथा-सम्भव त्याग भाव रखना चाहिए। निर्धन या मोहताज आदमियों को उनकी आवश्यकता के पदार्थ देते समय, कुछ हानि सहकर भी उनसे विशेष रियायत की जानी चाहिए।

दाम देने, या अपना खोटा सिक्का दुकानदार के सिर मढ़ देने में बड़ी चतुराई समझते हैं। अगर दुकानदार पर कोई ऐसी मुसीबत आजाय कि वह अपना माल सस्ते दामों पर लुटा देने को मजबूर हो तो हम ऐसे अवसर का स्वागत ही करते हैं। उदाहरण के लिए बाढ़ या आंधी आने पर जब कोई आदमी अपने फल या शाक भाजी बहुत कम दामों पर बेचना चाहता है, तो हम उसके बताये दाम से भी कम में सौदा करने के इच्छुक रहते हैं। यदि किसी का माल नीलाम होता हो तो हम कितनी खुशी से अनावश्यक वस्तुएँ सस्ते दामों पर लाने को तैयार रहते हैं! अगर किसी के घर में आग लग जाने से उसका सामान बिगड़ जाय तो हम नाममात्र कीमत देकर उस सामान से अपना घर भरने में कब संकोच करते हैं! विधवाओं और अनाथों की जायदाद या सामान की पूरी कीमत चुकानेवाले वीर हममें से कितने हैं! इस प्रकार, मानो हम इसी इन्तजार में रहते है कि दूसरों पर मुसीबत आये और हमें खूब लाभ उठाने का मौका मिले। दूसरों का घर जले, और हम सेकने का आनन्द लें! निदान, वर्तमान स्थिति में दुकानदार और खरीददार दोनों की भावना बिगड़ी हुई है। प्रत्येक दूसरे को ठगने का प्रयत्न करता है। इसमें सुधार होने की सख्त जरूरत है।

हाट-व्यवस्था—सन् १६३५ ई० में खेती के पदार्थों की बिक्री की व्यवस्था करने के लिए भारत-सरकार द्वारा एक केन्द्रीय विभाग की स्थापना हुई है। इस के काम ये हैं:—(१) कुछ खास-खास महत्व के पदार्थों के बाजारों की वर्त्तमान परिस्थिति तथा भावी उन्नति की जाँच करे और उनके सम्बन्ध में व्योरेवार रिपोर्ट प्रकाशित करे, और (२) उन पदार्थों के भौतिक तथा रासायनिक लक्षणों की जाँच करके उनकी उचित कक्षा निर्धारित करे। इस विभाग द्वारा यह विचार किया गया है कि किस प्रकार कुछ शीघ्र बिगड़नेवाले पदार्थों को ऐसे ठंढे स्थान में सुरक्षित रखा जाये, जिससे ये बहुत समय तक खराब न हों, और दूर दूर के स्थानों में भेजे जा सकें। इसने बहुत-से पदार्थों के

बाजारों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भी इस विषय सम्बन्धी अधिकारी नियत किये जाकर इस दिशा में कुछ काम हो रहा है। इस विभाग को जनता के सम्पर्क में आने की बहुत जरूरत है।

सन् १९३७ ई० में केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा द्वारा खेती के पदार्थों की कक्षा निर्धारित करने और निशान लगाने ('ग्रेडिंग और मार्किंग') का कानून पास किया गया था। कक्षा-निर्धारण पद्धति के आधार पर होने वाला व्यापार क्रमशः बढ़ रहा है। सन् १९४० में इस प्रकार का २०२ लाख रुपये का माल बेचा गया, जबकि १९३९ में इस व्यापार का परिमाण ६१ लाख रुपये था। इस व्यापार के पदार्थों में घी का विशेष स्थान है; कुछ अन्य पदार्थ अंडे, पशुओं की खाल, तेल, गुड़, चावल, आटा, आलू, तमाखू, रूई, सेव और आम आदि हैं।

माल का विज्ञापन—विज्ञापन आधुनिक व्यापार की जान है। कोई माल कितना ही अच्छा क्यों न हो, जबतक दूसरे आदमियों को उसकी जानकारी न हो, वे उसे कैसे मँगाएँ! हमारे यहाँ विज्ञापन का प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है। उसी का यह प्रताप है कि सुख-संचारक-कंपनी बम्बई से घड़ियाँ मथुरा मँगाकर, बम्बई के पास के स्थानों तक के ग्राहकों के हाथ बेच रही है। डोंगरे का बालामृत, पंडित ठाकुरदत्तजी की अमृतधारा, बाबू हरिदास को 'चिकित्सा चंद्रोदय' पुस्तक आदि का नाम आज-दिन नगर-नगर ही नहीं, गाँवों तक में प्रसिद्ध है। यद्यपि अभी यहाँ विज्ञापनबाजी बढ़ने की बहुत गुंजाइश है, पिछले वर्षों में इस की खासी वृद्धि हुई है; बहुत-से व्यापारी इस मद में काफी खर्च करते हैं।

हमारे ज्यादहतर अखबार खासकर विज्ञापनों को आमदनी के ही भरोसे चल रहे हैं। इससे विज्ञापन देनेवालों, और अखबारों के मालिकों के अलावा अखबारों के ग्राहकों और पाठकों को भी लाभ है;

उन्हें साधारण कीमत में काफी पढ़ने की सामग्री मिल जाती है। परन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। कितने ही व्यापारी अपनी चीज का विज्ञापन देने में झूठ-सच का विचार नहीं करते। अपनी चीज के गुणों का बखान खूब बढ़ा-चढ़ाकर करते हैं। उसमें बहुधा नब्बे फी सदी तक झूठ होता है; हाँ, भाषा आकर्षक और लच्छेदार होती है। ग्राहक झूठे प्रलोभन में फंस जाते हैं। उनको बहुत हानि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक आदमियों का विज्ञापनों पर विश्वास नहीं होता। वे विज्ञापनों को पढ़ते तक नहीं। अस्तु, यहाँ विज्ञापन-वृद्धि की आवश्यकता है, पर विज्ञापन का अर्थ झूठा प्रचार, और उसका उद्देश्य जैसे-भी-बने लोगों के पैसे ठगना, नहीं होना चाहिए।

व्यापारिक सफलता और ईमानदारी—क्या व्यापारिक सफलता के लिए ईमानदारी भी आवश्यक है? आजकल खाने-पीने के पदार्थों में कैसी हानिकारक मिलावट रहती है, इसका उल्लेख हम 'उपभोग के पदार्थ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। व्यापारी अधिक मुनाफा पाने के लिए ग्राहकों को तरह-तरह से धोखा देते हैं। खराब तथा पुरानी चीज को अच्छी और नयी कहना तो मामूली बात है। दीजानेवाली चीज को कम तोलना और लीजानेवाली को अधिक, यह भी व्यापार-कुशलता का लक्षण माना जाता है। हाथ के बुने साढ़े ग्यारह या पौने बारह गज के थान को बारह गज का कहकर बेचा जाता है। माल ऊपर कुछ-और रहता है, तथा भीतर कुछ-और; संख्या में कुछ कमी करदी, या बीच में कुछ चीजें टूटी-फूटी या खराब रख दी जाती हैं।

इन बातों से थोड़ी देर लाभ भले ही हो; अन्त में हानि ही होती है। सफलता वही है, जिसका आधार ईमानदारी और शुद्ध व्यवहार हो। फिर, यदि बेईमानी से व्यापार करके किसी ने कुछ द्रव्य जोड़ भी लिया तो कौन विवेकशील व्यक्ति इसे अभिनन्दनीय

कहेगा ! द्रव्य के कुछ लाभ के बदले यदि हमें चरित्र की हानि उठानी पड़ती है तो असल में हम घाटे में ही रहते हैं। हमारा कारोबार, हमारा व्यापार सब ऐसा होना चाहिए, जिससे हमारा विकास हो। द्रव्य की अपेक्षा मनुष्यत्व कहीं बढ़ कर है, व्यापार मानवी गुणों के विकास का एक साधन मात्र है, स्वयं-साध्य नहीं है। अतः व्यापार वही किया जाना चाहिए, जिसमें हमारा, समाज का, देश का, एवं मनुष्य-मात्र का हित हो।

युद्ध और देशी व्यापार—युद्ध के समय विदेशी माल का आयात कम होने से, देश में अधिकतर स्वदेशी माल का ही व्यापार होता है। किसानों एव कल-कारखाने वालों का ध्यान देश की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर रहता है। इससे स्वदेशी माल के व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जबकि देश में यातायात के साधनों की कमी होती है, और अधिकतर रेल और मोटर-लारियाँ सैनिकों या सैनिक सामग्री को ही लाने-लेजाने में लग जाती हैं तो व्यापारियों को अपना माल एक जगह से दूसरी जगह भेजने की बड़ी असुविधा हो जाती है, और देशी व्यापार बहुत रुक जाता है। भारतवर्ष में पिछले महायुद्ध में ऐसा ही अनुभव हुआ है। इसका जिक्र पिछले अध्याय में किया जा चुका है। युद्ध के समय सैनिक सामग्री, रेल, जहाज, मोटर, हवाई जहाज, सैनिकों की वर्दी आदि की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है, इससे इन चीजों का व्यापार स्वभावतः अधिक हो जाता है। पर इसमें सरकार की नीति का बड़ा प्रभाव पड़ता है। भारत-सरकार खासकर इगलैंड और उसके स्वतंत्र उपनिवेशों के हित-साधन में लगी रहती है, इसलिए यहाँ इनमें से बहुत से पदार्थों का व्यापार बढ़ने का प्रसंग नहीं आता।

पिछले महायुद्ध का खास प्रभाव यहाँ सन् १६४१ के अन्त में पड़ने लगा। आयात काम होने से व्यापारियों ने चीजों के दाम बढ़ा दिये, और वे माल रोकने लगे। तब सरकार ने मूल्य-नियंत्रण

शुरू किया और नफाखोरी के विरुद्ध कानून बना कर कड़े दंड दिये, और राशनिंग तथा स्टैंडर्ड क्लाथ (कपड़े) की 'व्यवस्था' की। बहुत से काम धंधों के लिए लायसेन्स लेना लाजमी कर दिया गया। इससे लायसेन्स देनेवाले अफसरों की घूसखोरी बढ़ी, और जिन लोगों का प्रकट रूप से कोई रोजगार न चला उनमें से बहुत सों ने चोर-बाजार चेतन किया। सरकार ने घूसखोरी और चोर-बाजार को बन्द करने की कोशिश की, परन्तु वह जनता का सहयोग न पा सकने के कारण, इसमें प्रायः असफल रही। मध्य और नीचे की श्रेणी के आदमियों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा। अस्तु; सन् १६४२ से अधिकतर व्यापार सरकार के हाथ में, अथवा सरकार द्वारा नियंत्रित है। यदि सरकार राष्ट्रीय हो तो यह बात इतनी हानिकर नहीं, जितनी इस समय हो रही है।

बीसवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—जिस तरह एक देश के निवासी आपस के व्यापार करते हैं, उसी तरह सभ्यता का विकास, आयात-निर्यात करने के साधनों में उन्नति, और आवश्यकताओं की वृद्धि होने पर एक देश के निवासी दूसरे देश वालों से भी व्यापार करने लगते हैं। अपने देश की, जरूरत-से-अधिक चीजें दूसरे देश को देकर बदले में वहाँ की चीजें, अपनी आवश्यकतानुसार, ले ली जाती हैं। इसी को विदेशी व्यापार कहते हैं। इससे एक देश में न होनेवाली चीजें दूसरे देश से मिल जाती हैं।

भारतवर्ष का प्राचीन व्यापार—भारतवासियों ने शिल्प

और उद्योग-धंधों की उन्नति, अन्य अनेक देशों की अपेक्षा बहुत पहले की। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि ईस्वी सन के हजारों वर्ष पहले से लेकर १८ वीं सदी तक भारतवर्ष अन्य देशों में विविध बढ़िया और बहुमूल्य सामान भेजता था। चीन, साइबेरिया, फारस, बैबिलन, जेनेवा, मिस्र आदि देश अपने वैभव के दिनों में भारतीय कारगरी, व्यापार और संपत्ति से ईर्षा किया करते थे।

जैसा कि श्री० राधाकृष्ण जी झा ने लिखा है,* ईस्वी सन् के प्रारंभ में भारतवर्ष का विदेशी व्यापार काफ़ी बढ़ चुका था। तभी तो सुप्रसिद्ध रोम-इतिहास का लेखक प्लिनी इस बात की शिकायत करता है कि कम-से-कम साढ़े पाँच करोड़ 'सेस्टर्स' (७० लाख रुपये) का सोना और चाँदी रोम से प्रतिवर्ष भारतवर्ष को जाता है। आठवीं शताब्दी से क्रमशः तुर्कों का बल बढ़ा, यहाँ तक कि सन् १४५३ ई० में कुस्तुन-तुनिया उनके हाथ आ गया। फिर धीरे-धीरे भूमध्य सागर और मिस्र पर भी इनका अधिकार हो जाने के कारण योरपवालों को इस रास्ते से व्यापार करके मनमाना लाभ उठाने में बाधा पड़ने लगी। अंत में, सन् १४९८ ई० में पुर्तगाल वालों ने "उत्तम आशा" अंतरीप के रास्ते अफ्रीका के गिर्द होकर, भारतवर्ष आने का रास्ता ढूँढ़ निकाला और पूर्वी व्यापार पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे हालैण्ड इङ्गलैंड और फ्राँस वालों ने भी अपनी-अपनी कम्पनियाँ खोलीं। इन सब में खूब लड़ाई-झगड़े होते रहे। अन्त में अंगरेज़ों की जीत हुई। उन दिनों सड़कें, बन्दरगाह, माल ढोने के साधन आदि उन्नत अवस्था में नहीं थे। सफर लम्बा था, खर्च बहुत पड़ता था। तो भी भारत का व्यापार, (जो अधिकांश शिल्पीय पदार्थों का होता था) कम लाभदायक नहीं था। सन् १६८२ ई० में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने १५० प्रति सैकड़े का मुनाफा बाँटा था।

* 'भारत की साम्पत्तिक अवस्था' के आधार पर।

मध्यकाल में इस देश के आंतरिक कलह-फूट और आलस्य ने क्रमशः इसके आर्थिक महत्व का नाश कर दिया। तथापि मुगल-शासन के अधिकाँश समय तक यहाँ के किसान और कारीगर सुख की नींद सोते रहे। बादशाहों की सुरुचि तथा शौक़ीनी के कारण, इस देश का कला-कौशल और शिल्प विदेशों के लिए आदर्श बना रहा। सतरहवीं ही नहीं, अठारहवीं सदी में भी इस देश के बने हुए ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रों तथा खाँड, रंग, ममाले आदि अन्य चीज़ों के लिए सारा योरप लालायित रहता था। किन्तु उन्नीसवीं सदी से परिस्थिति पलटने लगी। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान की उन्नति, एवं कोयले और लोहे का उपयोग, करके भाप की शक्ति से कल-कारखाने चलाने शुरू किये। इससे वहाँ धीरे-धीरे उत्पादन-व्यय घट गया, और वे अपनी ज़रूरत की चीज़ें वहीं बनाने लगे।

सन् १८६६ ई० में स्वेज़-नहर खुल जाने के कारण, भारत से योरप का तीन महीने का सफ़र सिर्फ़ तीन ही हफ़्ते में तय होने लगा। इससे किराये में भी बहुत बचत होने लगी। फिर भारतवर्ष में रेल निकल जाने के कारण, यहाँ के भीतरी भागों का बन्दरगाहों से संबन्ध हो गया। इससे योरपियन कारखानों के दलाल यहाँ के दूर-दूर के देहातों में पहुँचकर, अन्न तथा कच्चा माल बन्दरगाहों पर सुगमता से ज़ाकर विदेशों को भेजने लगे। इस प्रकार लगभग सन् १८७० ई० से भारतवर्ष ज्यादहतर कच्चे पदार्थों का निर्यात करनेवाला रह गया।

सन् १८८५ ई० के लगभग, परिस्थिति में कुछ सुधार होने लगा। भारतवर्ष की जूट और रुई की मिलों की बदौलत यद्यपि हमारे तैयार माल के निर्यात तथा कच्चे पदार्थों के आयात में कुछ थोड़ी-सी वृद्धि हुई, तथापि अभी देश का अधिकाँश आयात तैयार माल का, और अधिकाँश निर्यात कच्चे पदार्थों का ही होता है।

व्यापार का परिमाण—इस बात पर आगे विचार किया जायगा कि वर्त्तमान परिस्थिति में व्यापार की वृद्धि से भारतवर्ष को

कैसे अधिक हानि हो रही है। यहाँ हम भारतवर्ष के विदेशों से होनेवाले समुद्री व्यापार के परिमाण के संबध में कुछ बातों का उल्लेख करते हैं। अब से सौ वर्ष पहले विदेशी व्यापार (आयात तथा निर्यात) प्रति वर्ष कुल मिलाकर लगभग पचीस करोड़ रुपये के माल का होता था। विगत वर्षों में इस के मूल्य का परिमाण छः सौ करोड़ रुपये तक रह चुका है। यद्यपि किसी-किसी वर्ष उसके पहले वर्ष की अपेक्षा इस परिमाण में कुछ कमी भी हुई है, आमतौर से पिछले योरपीय महायुद्ध के समय तक इसमें वृद्धि ही हुई। उस महायुद्ध के समय यह व्यापार कम रह कर, उसके बाद फिर बढ़ा। किन्तु कई वर्षों से इसका परिमाण कम ही है, इसका कारण कुछ अंश में जनता की राष्ट्रीय जागृति है, जिससे स्वदेशी उद्योग-धंधों की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इस समय यह व्यापार प्रतिवर्ष तीन-साढ़ेतीन सौ करोड़ रुपये के माल का होता है।

व्यापार का स्वरूप—अब हम यह बतलाते हैं कि हमारे आधुनिक विदेशी व्यापार का स्वरूप क्या है। (क) पहले भारतवर्ष से खाँड़, नील, दुशाले मलमल आदि तैयार माल विदेशों को जाता था; किन्तु अब अन्न या रुई, सन, तेलहन आदि कच्चे माल का, जिसकी विदेशी कारखानों को आवश्यकता होती है, निर्यात बढ़ रहा है। विदेशों से आनेवाला माल प्रायः तैयार पदार्थों का होता है; हम अधिकतर कच्चा माल भेजते हैं, और तैयार माल मँगाते हैं। (ख) भारतवर्ष का निर्यात आयात की अपेक्षा बहुत अधिक कीमत का होता है। हमारे निर्यात और आयात की कीमत में जो अन्तर होता है, उसकी अपेक्षा हमारे व्यापार की बाकी की रकम बहुत कम होती है। [इसका कारण यह है कि हमें इगलैण्ड को सूद की रकम तथा सरकारी (अंगरेज) कर्मचारियों की पेन्शन आदि का बहुत-सा रुपया प्रतिवर्ष देना होता है।] यह व्यापार की बाकी, कीमती धातुओं के रूप में आती है, जिसकी मात्रा बहुत मालूम पड़ने पर भी भारतीय जनसंख्या की

दृष्टि से बहुत कम होती है। (ग) हमारे आयात का बहुत बड़ा भाग अकेले इङ्गलैण्ड से ही आता है, जो हमारे निर्यात का अपेक्षाकृत बहुत कम भाग लेता है। (घ) व्यापार का नफा, जहाज का किराया तथा बीमे और साहूकारी आदि की अधिकतर आमदनी योरपियनों को मिलती है। खासकर पिछले सत्तर-पिछत्तर वर्षों में विदेशी माल अधिकाधिक मँगाने और विनिमय में उससे भी अधिक कच्चे माल की निकासी करते रहने का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय जनता को इस बात की और ज्यादा जरूरत पड़ती जा रही है कि वह अपना निर्वाह खेती पर करे।

आयात की वस्तुएँ—यों तो भारतवर्ष में बहुत-सी चीजों का आयात होता है, परन्तु हमें यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य वस्तुओं के ही आयात के सम्बन्ध में वक्तव्य है। ये वस्तुएँ विशेषतया निम्नलिखित हैं:—रुई और सूती माल, रेशमी और ऊनी माल, लोहे और फौलाद का सामान, मशीन, मिलों का तथा रेल का सामान, मोटर, चीनी, कागज, रङ्ग, शराब और दवाएँ आदि।

रुई और सूती माल—भारतवर्ष की आय में प्रमुख स्थान रुई और सूती माल का है। यहाँ रुई काफी पैदा होती है, तथापि हम कुछ रुई बाहर से मँगाते हैं। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में जो कपास पैदा होती है, उसमें से अधिकांश की रुई का रेशा छोटा होता है। कुछ वर्षों से यहाँ लम्बे रेशे की रुई भी होने लगी है, पर वह काफी नहीं होती। इसलिए विदेशों से लम्बे रेशे की रुई मँगायी जाती है। इसके अलावा यहाँ की रेलों की दर सम्बन्धी नीति ऐसी है कि बम्बई की मिलों को पंजाब से रुई मँगाने की अपेक्षा कई दूसरे देशों से मँगाने में फायदा रहता है। इसका सुधार करने के लिए आवश्यक है कि देश में लम्बे रेशे की रुई की, काफी उत्पत्ति हो; तथा, रेलों की दरों में, भारतीय उद्योग-धन्धों की दृष्टि से, समुचित परिवर्तन किया जाय।

भारतवर्ष में छोटे रेशेवाली रुई काफी मात्रा में होती है, उसमें से कुछ तो विदेशों में भेजी जाती है। ऐसी दशा में इङ्गलैण्ड आदि से सूती माल मँगाना बहुत अनुचित और हानिकर है। हमें अपनी रुई से स्वयं ही अपने लिए आवश्यक परिमाण में वस्त्र तैयार करना चाहिए। यों तो मिलों में बननेवाले माल की भी वृद्धि हो सकती है, पर हाथ से बुने हुए वस्त्र का परिमाण बढ़ने की तो बहुत ही गुँजाइश है। गतवर्षों में चर्खा-संघ ने खादी की उत्पत्ति बढ़ाने का उद्योग किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन से, अन्य विदेशी वस्तुओं में कपड़े के आयात में भी कुछ कमी हुई है, तथापि अभी वह विदेशों से काफी परिमाण में मँगाया जाता है। इसे कम करने, और भारतवर्ष को अपने वस्त्र-व्यवसाय में स्वावलम्बी बनाने में प्रत्येक देश-प्रेमी को भाग लेना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वदेशी वस्त्र को खरीदें चाहे वह विदेशी वस्त्र की अपेक्षा कुछ मोटा तथा कुछ महँगा ही हो।

भारतवर्ष में करोड़ों रुपये के विदेशी सूत की भी आयात होता है; कारण, यद्यपि यहाँ की मिलों ने महीन सूत कातने में पिछले वर्षों में, कुछ उन्नति की है, वे अभी तक यहाँ के महीन सूत की माँग पूरी नहीं कर सकतीं। अखिल भारतीय चरखा-संघ के उद्योग से अब यहाँ हाथ से महीन सूत भी काता जाने लगा है, और उस सूत के कपड़े भी बुने जाने लागे हैं। परन्तु अभी इस दिशा में और अधिक उद्योग होते रहने की आवश्यकता है।

रेशमी और ऊनी माल—भारतवर्ष में रेशमी और ऊनी माल भी बहुत परिमाण में आता है। पिछले वर्षों में जापान आदि से नकली रेशम का माल बहुत आया। वह देखने में तो चटकीला-भड़कीला होता है, वैसे बहुत कमज़ोर रहता है, जल्दी ही फट जाता है। उसमें उपभोक्ताओं की बहुत हानि होती है। आवश्यकता है कि भारतवर्ष में रेशमी और ऊनी वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय। यहाँ रेशम और ऊन दोनों होते हैं, उद्योग करने

पर वे और बढ़िया हो सकते हैं। सर्दी से बचने के लिए ऊनी कपड़ों की बहुत आवश्यकता है। अखिल भारतीय चर्खा-संघ तथा अन्य संस्थाएँ और व्यक्ति इस कार्य में लगे हैं। इसे बहुत बढ़ाया जाना चाहिए।

लोहे और फौलाद का सामान—भारतवर्ष में टाटा का कारखाना तथा अन्य कम्पनियाँ लोहे और फौलाद का सामान तैयार करती हैं। इस कार्य को संरक्षण मिलने से इसकी खासी उन्नति हुई है। पर अभी यहाँ की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। इसके अलावा, सरकार और रेलवे कंपनियाँ बहुत-सा सामान इंगलैंड आदि से मँगाती हैं; यदि ये यहाँ के कारखानों को समुचित सुविधाएँ तथा प्रोत्साहन दें तो हमारी जरूरत की बहुत-सी चीजें यहाँ ही बन सकती हैं। मशीनें विदेशों से आना, देश के औद्योगिककरण की दृष्टि से उपयोगी है, परंतु इस मद में भी हम कब तक अपना रुपया दूसरे देशों को भेजते रहेंगे? आखिर, हम कभी स्वावलंबी भी बनेंगे! विदेशों से मशीनें मंगाने में एक हानि यह है कि अकसर वे लोग ऐसी मशीनें देते हैं, जो घटिया दर्जे की या कुछ पुराने ढंग की होती है, और इसलिए कम उपयोगी होती हैं। हमें जल्दी ही अपने लिए बढ़िया मशीनें बनानी चाहिएँ। भारतवर्ष में घरू उद्योग-धन्धों की अनुकूलता के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है, उनका प्रचार तथा उन्नति होने से हमारी मशीनों का आयात घटने में भी सहायता मिल सकती है।

चीनी—गत वर्षों में विशेषतया संरक्षण मिलने से, यहाँ चीनी का आयात घटा है। तथापि यहाँ जर्मनी, जावा, मारिशश आदि से विदेशी चीनी आती ही है। यहाँ अच्छा गुड़ अधिक परिमाण में बनाया तथा उपभोग किया जाना चाहिए, क्योंकि वह चीनी की अपेक्षा सस्ता होने के अलावा अधिक पुष्टिकर भी है। अच्छे गुड़ का प्रचार बढ़ने पर चीनी का आयात कम होने में सहायता मिलेगी।

मिट्टी का तेल और पेट्रोल—भारतवर्ष में मिट्टी के तेल का खर्च क्रमशः बढ़ रहा है। अभी तक इस पदार्थ का अधिकांश आयात अमरीका और रूस आदि से होता था। अब बर्मा के भारतवर्ष से अलग कर दिये जाने के कारण, बर्मा से आने वाला तेल भी विदेशी समझा जाता है। यहाँ मोटर आदि का प्रचार क्रमशः बढ़ता जारहा इस लिए पेट्रोल का खर्च एवं आयात भी बढ़ रहा है।

कागज—भारतवर्ष में पहले हाथ का बनाया हुआ स्वदेशी ही कागज काम आता था। अब कागज की मिलें भी स्थापित हो गयी हैं। मिल के कागज के लिए बहुत-कुछ विदेशों से मँगाया हुआ 'पल्प' (लकड़ी का गुद्दा या लुगदी) आदि काम में लाया जाता है। हाथ से, तथा मिलों में यहाँ काफी कागज नहीं बनता, अतः विदेशी कागज मँगाना होता है। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा, अखबारों तथा किताबों आदि की आवश्यकता अधिक होगी, और परिणाम-स्वरूप कागज की माँग बढ़ेगी। भारतवर्ष के जंगलों में बाँस काफी होता है, उससे कागज बनाया जा सकता है; उसके लिए यथेष्ट उद्योग हो तो हम विदेशी कागज के आयात से सहज ही मुक्त हो सकते हैं।

आयात की अन्य वस्तुएँ—उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हम प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये की मोटर, शराब, तमाखू (सिग्रेट आदि), रंग, शीशे का सामान, दवाइयाँ आदि मंगाते हैं। साबुन, स्याही, छतरी, घड़ी आदि में भी काफी रुपया विदेशों को जाता है। यदि हम ध्यान दें, तो हम इनमें से कुछ पदार्थों की आवश्यकताओं को नियंत्रित कर सकते हैं, और कुछ पदार्थों को अपने देश में ही तैयार कर सकते हैं। इस प्रकार एक तो हन वस्तुओं का आयात कम होने से हमारा रुपया बच सकता है, दूसरे नये उद्योग-धन्धों से अनेक आदमियों को आजीविका का साधन प्राप्त हो सकता है।

अब, उन पदार्थों के आयात का विचार करें, जिनके, इस देश में आने का कारण हमारी विशेष व्यापारिक परिस्थिति है। भारतवर्ष

से विदेशों को जानेवाला माल आयात की अपेक्षा अधिक तो होता ही है; इसके अतिरिक्त, यह अधिकाँश में कच्चा होता है। यह माल तैयार माल की अपेक्षा जगह ज्यादह घेरता है, तथा वज़नी भी अधिक होता है। विदेशों से तैयार माल लाने के लिए जितने जहाजों की जरूरत होती है, यहाँ से कच्चा माल लेजाने के लिए उनसे अधिक जहाज चाहिए। जहाजों को खाली लाना कठिन है, इसलिए इन अधिक जहाजों में कोयला, नमक सिमेंट आदि वजनी सामान नाममात्र के किराये पर यहाँ लाया जाता है। किराया बहुत कम होने से यह माल मूल्य में यहाँ के स्वदेशी सामान से भली भांति प्रतियोगिता कर सकता है। उसे यहाँ के व्यापारी खुशी से ले लेते हैं। हमारी इस माल की आयात में उस समय तक कमी होने की आशा नहीं, जब तक इस का मूल कारण विद्यमान है अर्थात् जब तक हमारा निर्यात कच्चे पदार्थों का, और आयात तैयारपदार्थों का होता है।

हमारे निर्यात के पदार्थ; जूट और उसका सामान— अब हम निर्यात के पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। इनमें प्रमुख स्थान जूट और उसके सामान का है। संसार भर में भारतवर्ष को इस का एकाधिकार है। यहाँ इसका केन्द्र बङ्गाल है। पिछले वर्षों में जूट की मिलों ने बहुत तरक्की की है, इससे इसके गृह-उद्योग को धक्का पहुँचा है। जूट की उपयोगिता बढ़ती जा रही है; टाट, बोरी, सूतली आदि पहले से ही बनती थीं, अब कालीन, गलीचे आदि वस्त्रों में भी इसकी मिलावट की जाने लगी है। इससे इसकी माँग बढ़ रही है। मिलों के लिए तथा निर्यात के वास्ते बेचने से किसानों को जूट के दाम अधिक मिलते हैं, पर इससे उनके गृह-उद्योग का लोप हो जाने से उनकी हानि भी है। कुछ किसानों ने जूट की पैदावार का क्षेत्र बढ़ा कर, खाद्य पदार्थों की फसल का क्षेत्र कम कर दिया है।

अब नकली जूट बनने लग गया है, ज्यों-ज्यों उसका व्यवहार अधिक होगा, भारतवर्ष का जूट का एकाधिकार कम रह जायगा।

हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए।

रूई और सूती माल—हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में बहुत-सा कपड़ा विदेशों से आता है, तो भी हम खासे परिमाण में रूई की निर्यात करते हैं। यदि उस रूई का कपड़ा यहाँ ही बना लिया जाया करे, तो हमारा रूई बाहर भेजने तथा विदेश से कपड़ा मँगाने —इन दोनों से छुटकारा हो, और, हमारे अनेक आदमियों को वस्त्र व्यवसाय से आजीविका का साधन प्राप्त हो। इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी बहुत उद्योग होना शेष है।

यद्यपि भारतीय मिलों से बना हुआ कपड़ा, विलायती कपड़े से, कुछ मँहगा होता है, तथापि वह मोटा और मजबूत होने से, उसकी बाहर के कुछ देशों में माँग रहती है। यहाँ से कपड़ा विशेषतया लंका, मलाया प्रायद्वीप, ईरान, इराक और पूर्वी अफ्रीका में जाता है। यह निर्यात और बढ़ाया जा सकता है।

खाद्य पदार्थ—भारतवर्ष से खाद्य पदार्थों में विशेषतया गेहूँ का निर्यात होता है। खाद्य पदार्थों का निर्यात होना उस दशा में तो बुरा नहीं है, जबकि यहाँ ये पदार्थ आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होते हों, परन्तु जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, यहाँ के किसान अपनी निर्धनता के कारण जौ, चना, ज्वार, मकई बाजरा आदि घटिया अन्नों पर निर्वाह करते हैं, और कुछ दशाओं में तो उन्हें ये घटिया अन्न भी काफी परिमाण में नहीं मिलते। हमारे व्यापारी खाद्य पदार्थों का निर्यात इसलिए नहीं करते कि ये पदार्थ इस देश की आवश्यकता से अधिक है. वरन् इसलिए करते हैं कि उन्हें इन पदार्थों की जो कीमत यहाँ मिल सकती है, उसकी अपेक्षा विदेशों से अधिक मिलती है। इस प्रकार खाद्य पदार्थों का आयात भारतवासियों की निर्धनता का जीता-जागता सबूत है।

तेलहन—भारतवर्ष से कुछ तेल भी बाहर जाता है, पर उसकी

अपेक्षा तेलहन की निर्यात कहीं अधिक होती है। इसमें तीसी, तिल, अंडी, सरसों और बिनौला आदि मुख्य हैं। यह निर्यात अधिक होना देश के लिए हानिकर है; कारण, इससे खली यहाँ से चली जाती है जो खेती के खाद तथा पशुओं के भोजन के लिए बहुत उपयोगी होती है। यदि तेलहन का निर्यात कम करके उस से यहाँ ही तेल निकालने का धन्धा बढ़ाया जाय तो एक तो उससे यहाँ के अनेक बेकार आदमियों को काम मिले; दूसरे, खली यहाँ रहने से खेती को, तथा पशुओं को भी लाभ हो।

चाय—चाय की खेती यहाँ रूप विशेष से सौ वर्ष से होने लगी है। इसका व्यवसाय अधिकतर विदेशी कम्पनियों के हाथ में है। वे इसकी उत्पत्ति बढ़ाने और यहाँ इसका प्रचार करने में खूब प्रयत्नशील रहती है। चाय विदेशों में भेजने के लिए, डिब्बे बाहर से मँगाये जाते हैं। भारतवर्ष में होनेवाले इसके उपभोग के सम्बन्ध में हम अपना विचार पहले प्रगट कर चुके हैं।

चमड़ा और खाल—भारतवर्ष से चमड़े और खाल का निर्यात होने का कारण यह नहीं है कि यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है, वरन् यह है कि यहाँ अनेक आदमी निर्धन होने के कारण जूते आदि का उपयोग नहीं कर पाते; दूसरे, यहाँ चमड़े के काम को घटिया दर्जे का समझा जाता है। इसलिए बहुत से चमड़े को बाहर भेज दिया है, और उसका तैयार सामान मँगाया जाता है। कुछ समय से यहाँ चमड़े के अंगरेजी ढङ्ग के कारखाने खुलने लगे हैं। यदि यहाँ चमड़े का कुशलता-पूर्वक और काफी उपयोग किया जाय, और रबड़ आदि के जूतों का इस्तेमाल कम हो तो हमें न तो चमड़े की इतनी निर्यात करने की आवश्यकता हो, और न बहुत-सा चमड़े का सामान बाहर से मँगाना पड़े।

ऊन—पहले कहा जा चुका है कि हम बहुत-सा ऊनी माल विदेशों से मँगाते हैं, ऐसी दशा में हमारा ऊन का निर्यात करना

अनुचित है। हमें चाहिए कि ऊन से यहाँ ही कपड़े तैयार करें; यदि हमारा तैयार किया हुआ ऊनी कपड़ा हमारी आवश्यकता से अधिक हो तो हम ऊनी वस्त्र का निर्यात करें। यहाँ पर कर्घों से बुने ऊनी वस्त्र की चिरकाल से तैयार होते हैं, और यहाँ के शाल, कालीन आदि दूर-दूर के देशों तक प्रसिद्ध हैं। कुछ समय से ऊन की मिलों ने भी खासी उन्नति की है। ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को बहुत बढ़ाने की आवश्यकता है।

धातुएँ—भारतवर्ष में, खानों से धातुएँ निकालने का अधिकतर काम विदेशी कम्पनियाँ करती हैं, और यहाँ धातुओं के विविध पदार्थ न बनाये जाकर, वे धातुएँ ही विदेशों को भेज दी जाती हैं। प्राचीन काल में भारतवर्ष लोहा ढालने तथा धातुओं की विविध वस्तुएँ बनाने के लिए संसार भर में प्रसिद्ध था; पर पिछली सदी से यह देश साधारण चीजों के लिए भी दूसरों का मुँह ताकनेवाला बन गया। अब कुछ समय से टाटा कम्पनी तथा बंगाल-स्टील-कम्पनी आदि के उद्योग से कुछ सामान यहाँ बनने लगा है। परन्तु, अधिकाँश में गार्टर, छड़, रेलिंग आदि ही बनाये जाते हैं; देश में नाना प्रकार की जो मशीनें काम में लायी जाती हैं, वे अब भी प्रायः सभी विदेशी हैं। मशीनों के अनेक छोटे-छोटे पुर्जों को भी यहाँ नहीं बनाया जाता। आवश्यकता है कि धातुओं का, विदेशों में निर्यात न किया जाय, उनका यहाँ ही अधिक-से-अधिक उपयोग हो।

व्यापार की बाकी—दो देशों के आयात और निर्यात की कीमतों के अंतर को "व्यापार की बाकी" कहते हैं। इसका भुगतान करने के लिए सोना-चाँदी या सिक्का मँगाना, अथवा भेजना पड़ता है। इसलिए सब देशों की इच्छा रहती है कि व्यापार की बाकी अपने नाम न निकले; दूसरों के नाम निकले। हम ऊपर लिख आये हैं भारत के आयात की अपेक्षा यहाँ का निर्यात बहुत अधिक होता है; परन्तु हमारी लेन-देन की बाकी की रकम इंगलैंड, आदि देशों

के नाम, नाममात्र ही निकलती है। इसके कई कारण है—(१) भारतवर्ष को होम-चार्जेज या इंडिया-आफिस आदि के खर्च, तथा यहाँ से लौटे हुए अफसरों की पेन्शन देनी पड़ती है। (२) अपने जहाज न होने के कारण विदेशी व्यापार के लिए अन्य देशों के जहाजों का किराया देना पड़ता है। (३) विदेशों से लिये हुए ऋण पर सूद देना पड़ता है। (४) विदेशी व्यापारियों का मुनाफा भेजना पड़ता है। (५) विदेशों में गये हुए भारतीय विद्यार्थियों अथवा यात्रियों आदि का खर्च भेजना होता है। (६) भारतवर्ष में रहनेवाले अंगरेज अपने परिवारों के लिए रुपया भेजते रहते हैं।

लेन-देन की बाकी का भुगतान सरकारी हुंडियों द्वारा किया जाता है; इसके सम्बन्ध में पहले 'विदेशी विनिमय की दर'-शीर्षक अध्याय में लिखा जा चुका है।

सीमा की राह से व्यापार—अब तक ब्रिटिश भारत के उसी विदेशी व्यापार का वर्णन हुआ, जो समुद्र की राह से होता है, इसके अलावा भारतवर्ष का कुछ व्यापार सीमा-पार के निकटवर्ती राज्यों से भी होता है। इस व्यापार की उन्नति में मार्ग की कठिनाइयाँ, जंगली आदमियों और चोरों का डर, उन देशों की आर्थिक अवनति, शासकों की कर आदि से होनेवाली व्यापारिक रुकावटें आदि बाधक हैं। यह होते हुए भी १९२४-२५ में सीमा की राह से तेईस करोड़ रुपये का माल भारतवर्ष में आया था, और १९ करोड़ का यहाँ से बाहर गया था। उस वर्ष के बाद सीमा के कुछ खास-खास स्टेशनों पर निर्धारित पदार्थों का ही आयात निर्यात का हिसाब रखा जाने लगा, और वह भी उनके परिमाण का, न कि मूल्य का। पश्चिमोत्तर सीमा पर अफगानिस्तान, दीर, स्वात, बजौर, मध्य एशिया और ईरान से भारत का व्यापार होता है। उत्तर और उत्तर-पूर्व में नेपाल, तिब्बत, सिक्कम और भूटान से तथा पूर्वी सीमा पर शान-राज्य, पश्चिम-चीन, और श्याम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध है। सबसे अधिक

व्यापार नेपाल से होता है। उसके बाद शान-राज्य और अफगानिस्तान का नम्बर है। नेपाल से विशेषकर चावल, तेलहन, घी, बैल, भेड़, बकरे आते हैं, और बदले में कपड़ा, चीनी, नमक, धातु के बर्तन इत्यादि जाया करते हैं। शान-राज्यों से घोड़े, टट्टू और खच्चर; श्याम से लकड़ी; तिब्बत से पशम और ऊन; तथा अफगानिस्तान से ऊन और फल इत्यादि सामान आते हैं, और बदले में सूती कपड़ा, चाय, चीनी, नमक, मसाला, धातु के बर्तन आदि जाते हैं।

आयात-निर्यात सम्बन्धी विशेष वक्तव्य—हमने यहाँ आयात और निर्यात के कुछ मुख्य-मुख्य पदार्थों के सम्बन्ध में ही विचार किया है। इससे यह साफ जाहिर है कि भारतवर्ष अधिकांश में तैयार माल अन्य देशों में मँगाता है; इसके विपरीत, यहाँ से निर्यात अधिकतर कच्चे पदार्थों का होती है। यदि भारतवर्ष में घरू उद्योग-धन्धों तथा कल-कारखानों की यथेष्ट उन्नति हो जाय तो कच्चे पदार्थों का यहाँ अधिक उपयोग होने लग जाय, उन्हें इतने परिमाण में बाहर भेजने की आवश्यकता न रहे, यहाँ का निर्यात कम हो जाय, और साथ ही हमारी तैयार माल की आवश्यकता यहाँ के बने पदार्थों से पूरी होने लगे, हमें इतने आयात की आवश्यकता न रहे; इस प्रकार औद्योगिककरण से हमारी निर्यात और आयात दोनों का ही परिमाण घट जाय। विदेशी व्यापार के परिमाण का घटना कोई चिंताजनक बात नहीं है। कारण, सिर्फ व्यापार के अङ्कों के बढ़ने से ही किसी देश की सुख-समृद्धि सिद्ध नहीं होती। यह बात भारतवर्ष के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब हमारे विदेशी व्यापार का परिमाण कितना अधिक है, यह पहले बताया जा चुका है। पर कौन यह कहने का दुस्साहस करेगा कि आज दिन भारतवासी पहले से अधिक सुखी हैं! हम अपना कच्चा माल सस्ते भाव से विदेश भेज देते हैं और उस माल की तैयार की हुई मँहगी वस्तुएँ दूसरे देशों से खरीदते हैं। इससे हमारे अनेक आदमी साल में कई-कई महीने बेकार

रहते हैं, उन्हें अपने गुजारे के वास्ते भी काफी सामान नहीं मिलता; यह हम उपभोग के प्रसङ्ग में बता चुके हैं।

अस्तु, वर्त्तमान स्थिति में हमें अपना आयात एवं निर्यात दोनों ही कम करने चाहिएँ। इसके लिए देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि करने के संबंध में तो पहले ही लिखा जा चुका है; इस के अलावा, हमें चाहिए कि विशेष दशाओं को तथा विशेष आवश्यकता के पदार्थों को छोड़कर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का उपाय काम में लायें। भोजन वस्त्रादि रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम विदेशी पदार्थ न लें, इन्हें हम अपने यहाँ ही उत्पन्न करें और बनावें। विशेष दशाओं में हमें दूसरे देशों का माल लेने अथवा अपना माल देने में कोई आपत्ति नहीं है। हाँ, दूसरे देशों से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध इस प्रकार का हो कि उससे हमारा और उनका, दोनों का, हित हो; किसी का आर्थिक शोषण न हो।

विदेशी बहिष्कार और विश्वबन्धुत्व—विदेशी बहिष्कार की बात कुछ लोगों को बहुत अखरेगी, वे हमें विश्वबन्धुत्व के आदर्श का उपदेश करेंगे। हम भी उसे भूलते नहीं हैं। यदि संसार के विविध देश एक-दूसरे के साथ एक परिवार के सदस्यों की भांति प्रेम और उदारता का व्यवहार करें तो कितना अच्छा हो! कोई देश दूसरे पर आक्रमण क्यों करे; कोई किसी को अपने अधीन क्यों रखे? हर जगह स्वाधीनता और स्वतंत्रता की पताका क्यों न फहराए! इस समय जो राष्ट्र दूसरों को अपने अधीन करने के लिए नाना प्रकार के नीच प्रयत्न कर रहे हैं, उसका एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हें अपने अधीन देशों में अपना तैयार माल खपाने, तथा उनका आर्थिक शोषण कर सकने की आशा है। जब उनकी यह आशा न रहेगी, जब उन्हें विश्वास हो जायगा कि प्रत्येक देश स्वावलम्बी है और विदेशी माल का बहिष्कार करता है तो उन राष्ट्रों की साम्राज्य-विस्तार की लालसा भी कम हो जायगी। संसार से बहुतसी खून-खराबी और जोर-जुल्म

हट जायगा। इस प्रकार विदेशी वहिष्कार में पराधीन देशों की मुक्ति का सन्देश है।

यदि हम विदेशी वस्तुओं के सस्तेपन के लोभ में न पड़ें और स्वदेशी वस्तुओं से ही काम चलाने लगें—चाहे वे कुछ महँगी क्यों न हो—तो हम संसार को युद्ध-सङ्कट से दूर करने में भी बहुत सहायक हो सकते हैं, और स्वयं भी शान्ति का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। सच्चे विश्वबन्धुत्व का आदर्श चरितार्थ करने का यही मार्ग है।

विदेशों में भारतवर्ष का गौरव—यह इतिहास-प्रसिद्ध है कि किसी देश का झंडा इतना तलवार के पीछे नहीं चलता, जितना व्यापार के पीछे चलता है। भारतवर्ष में अगरेज व्यापार करने आये थे, पीछे उनका यहाँ राज्य स्थापित हो गया। इस समय भी ब्रिटिश साम्राज्य का मुख्य आधार व्यापार ही है। नेपोलियन ने तो कहा ही था कि अंगरेज जाति दुकानदारों की जाति है। खेद है कि भारतवर्ष में व्यापार के लिए,शिक्षित और योग्य व्यक्ति आगे कम आते हैं। हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं कि व्यापार में ईमानदारी आदि सद्गुणों की बहुत आवश्यकता है। यदि हम विदेशों में भारतवर्ष का गौरव स्थापित करना चाहते हैं तो यह हमारी ईमानदारी और सद्व्यवहार से ही हो सकता है। हमें ऐसा व्यापार करना चाहिए कि भारतवर्ष में बने हुए ('मेड-इन-इंडिया') का अर्थ शुद्ध, खरा, बे-मिलावट का, और बढ़िया हो जाय। जो आदमी अपने स्वार्थ के लिए बाहर खराब और घटिया, अथवा वजन या संख्या में कम माल भेजते हैं, वे अपनी साख तो खोते ही हैं, देश को भी बदनाम करते हैं। हमारी देशभक्ति का तकाजा है कि हम अपने शुद्ध और निष्कपट व्यवहार से देश-देशान्तर में भारतवर्ष का गौरव बढ़ानेवाले हों।

युद्ध और विदेशी व्यापार—हमारे विदेशी व्यापार की दृष्टि से युद्ध दो प्रकार का होता है :—(१) जब उसका क्षेत्र परिमित हो, उससे यहाँ के आयात-निर्यात में बाधा न हो; और (२) जब उसका

क्षेत्र इतना व्यापक हो कि आयात-निर्यात में बहुत बाधाएँ हों। इनमें से पहले प्रकार के युद्ध के समय अन्य देशों को, जो युद्ध का सामान बनाने में बहुत संलग्न होते हैं, हमारे खाद्य पदार्थों आदि की बहुत जरूरत होती है। इससे हमारा निर्यात बढ़ता है, और उसके बदले में कुछ तो उन देशों का सामान आता है, और बहुत-कुछ उनकी कीमत द्रव्य-रूप में यहाँ आती है। इस प्रकार भारतवर्ष को बहुत आर्थिक लाभ होता है। पहले योरपीय महायुद्ध (१९१४-१८) में ऐसा ही हुआ। उस समय इङ्गलैंड और मित्र-राष्ट्र जर्मनी को घेर लेने में बहुत सफल हो गये थे, और भारतवर्ष के कच्चे माल का बाजार प्रायः पूर्ववत बना रह सका था। जर्मन पनडुब्बियों के होते हुए भी उस समय सभी महत्वपूर्ण जल-मार्गों पर अंगरेजों का प्रभुत्व था, इसलिए हमारे निर्यात में विशेष बाधा नहीं हुई थी।

परन्तु युद्ध का दूसरा रूप भी हो सकता है, जबकि उसका क्षेत्र व्यापक हो, सभी ओर के अनेक देश उसमें ग्रस्त हों, और भारतवर्ष के निर्यात-कार्य में भयंकर बाधा उपस्थित हो। दूसरे योरपीय महायुद्ध (१९३९-४५) में पीछे जाकर ऐसा ही हो गया। आरम्भ में यह बात न थी। यद्यपि युद्ध के प्रथम वर्ष में योरप के कुछ देशों में हमारा माल जाना बन्द रहा, अन्य देशों में वह पहले से अधिक गया; उदाहरण के लिए इङ्गलैंड, ब्रिटिश उपनिवेशों, अमरीका, और मिश्र ने यहाँ का माल अधिक खरीदा। स्विटजरलैंड, स्पेन, टर्की, अरब, इराक, ईरान, थाईलैंड, और अफ्रीका में भी भारतीय माल अधिक मँगाया गया। अन्य पदार्थों की अपेक्षा जूट, लोहा, दवाइयाँ, रबर, रूई, सूत, कोयला, फल, चमड़ा, लोहा तथा अन्य खनिज पदार्थों का निर्यात अधिक हुआ। निदान, कुल मिला कर १९३९-४० (युद्ध के प्रथम वर्ष) में भारत का निर्यात २०३ करोड़ रुपये का हुआ था, जबकि इससे पूर्व १९३८-३९ में वह १६३ करोड़ रु० का हुआ था। इस प्रकार उसमें ४० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। सन् १९३९-४० में यहाँ के आयात में भी

वृद्धि हुई, पर इतनी अधिक नहीं। इस वर्ष यहाँ १६५ करोड़ रुपये का माल आया, जबकि इससे पहले के वर्ष में १५२ करोड़ रु० का आया था। इस प्रकार यह वृद्धि १३ करोड़ की हुई, और क्योंकि निर्यात की वृद्धि ४० करोड़ की हुई थी, व्यापार की बाकी हमारे पक्ष में २७ करोड़ की अधिक हुई।

किन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। धीरे-धीरे जर्मनी ने लगभग समस्त योरपीय महाद्वीप पर अपना प्रभुत्व जमा लिया, इससे वहाँ हमारे माल का बाजार न रहा। साथ ही विशेषतया भूमध्य सागर में अंगरेजों का प्रभुत्व कम हो जाने से उस ओर का समुद्री मार्ग खतरे से खाली न रहा। इसके अतिरिक्त, जापान के युद्ध-क्षेत्र में आजाने से, प्रशान्त महासागर में से भी माल जाने-आने में बहुत जोखम पैदा हो गयी। इन सब कारणों से निर्यात व्यापार बढ़ने के स्थान पर घट गया। यहाँ कपास, जूट, तेलहन आदि का स्टाक बढ़ गया। सन् १९४०-४१ में निर्यात १८७करोड़ के और आयात १५७करोड़ रु०के माल का हुआ। सन् १९४१-४२ में आयात और निर्यात बढ़े, पर पीछे १९४२-४३ में ये कम ही माल के हुए। कुल मिला कर, महायुद्ध हमारे विदेशी व्यापार को हानि पहुँचाने वाला ही हुआ। इसका एक खास कारण यह था कि भारत-सरकार ने पहले से यहाँ के व्यापार की उन्नति के लिए यथेष्ट तैयारी नहीं की थी, और युद्ध आरम्भ हो जाने पर भी उसने भारतीय हित से विशेष कार्य न किया।

युद्धोत्तर व्यापार—युद्ध का समय निकल गया, अब आगे की बात सोचें। भारतवर्ष के लगभग चौदह सौ करोड़ रु० की रकम इंगलैंड में जमा होने की बात पहले कही जा चुकी है। इगलैंड इस रकम को नकदी में चुकाने को बिलकुल तैयार नहीं; वह बड़ी मेहरबानी करके अपनी पुरानी मशीनें, या उपभोग अथवा खपत की चीज़ें भारतवर्ष के मत्थे मढ़ेगा। पुरानी मशीनों से होनेवाली हानि साफ जाहिर है।

और, अगर हमें विदेशी सामान मिलता है, तो वह यहाँ स्वदेशी सामान को परास्त करके अपना बाजार बनायेगा। हम चाहते हैं कि स्टर्लिंग पावना डालर में बदल दिया जाय, जिससे अमरीका से मशीनरी या ऐसी चीजें ली जा सकें, जो बहुत ज़रूरी हों, और भारतवर्ष में न बनती हों। ब्रिटिश सरकार को यह पसन्द नहीं है। यद्यपि वह अमरीका से बिगाड़ना नहीं चाहती, पर उसकी यह इच्छा तो है ही कि भारतवर्ष अधिक-से-अधिक सामान इंगलैंड से खरीदे। उधर अमरीका भी अपना माल भारतवर्ष में खपाना चाहता है। सम्भव है कि इंगलैंड और अमरीका दोनों इस विषय में कुछ समझौता करलें; इस प्रकार दोनों देशों का माल यहाँ काफी परिमाण में खपने का रास्ता निकल आने की आशंका है।

भारतवर्ष के चतुर चलाक व्यापारी विदेशी माल की एजन्सी प्राप्त करने के लिए लिखा-पढ़ी ही नहीं, यथा-सम्भव दौड़धूप कर रहे हैं। ज्योंही विदेशी माल यहाँ आने लगेगा, ये लोग एजन्ट का काम धूमधाम से करने लगेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका यह काम अपने स्वार्थ के लिए देश को हानि पहुँचाने का है। इसी तरह एक बात और भी विचार करने की है। कुछ विदेशी व्यापारी भारतवर्ष में अपने कारखाने खोल रहे हैं, यह आशंका है कि कितने ही भारतीय पूँजीपति उनसे कुछ साझेदारी का समझौता कर लेंगे। यदि ऐसा हुआ तो इससे देश की पराधीनता बढ़ेगी। आवश्यकता है कि विदेशियों को इस देश के शोषण करने में सफल न होने दिया जाय; और भारतीय पूँजीपति उनके इस घातक कार्य में 'कुल्हाड़ी बेंटा बन कर' सहयोग न दें। इन बातों में सावधान रहने से ही हम युद्धोत्तर व्यापार को देश के लिए यथेष्ट लाभकारी बना सकेंगे।

इक्कीसवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार की नीति



इस अध्याय में विदेशी व्यापार की नीति के सम्बन्ध में विचार करना है। व्यापार-नीति कहने से भी विदेशी व्यापार की ही नीति का आशय लिया जाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं—(१) संरक्षण-नीति, और (२) मुक्त द्वार-व्यापार या बेरोक-टोक व्यापार करने की नीति।

संरक्षण नीति—संरक्षण-नीति वह है, जिसमें विदेशी वस्तुओं पर कर लगा कर वे इतनी मँहगी करदी जाय कि उनकी खरीद न हो सके, अथवा बहुत कम हो सके; और, इस प्रकार स्वदेशी उद्योग-धंधों की उन्नति में सहायता पहुँचे। इस नीति के समर्थकों का मत है कि उन्नत विदेशी व्यापार के सामने स्वदेशी उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं, और देश के निवासी सस्ती विदेशी चीज़ें बर्तने के आदी हो जाने के कारण साहसहीन हो जाते हैं। इसका इलाज राष्ट्र की संरक्षण-नीति से ही हो सकता है। इस नीति से स्वदेशी उद्योग-धंधेवाले उत्साहित होकर आवश्यक माल तैयार करते हैं, और वह, कुछ समय बाद क्रमशः सस्ता भी पड़ने लगता है। फिर स्वदेशी माल के व्यवहार से राष्ट्र स्वावलम्बी हो जाता है—उसे परमुखापेक्षी नहीं रहना पड़ता।

मुक्तद्वार-व्यापार-नीति—इस नीति का अर्थ यह है कि आयात-निर्यात पर कर लगाने में स्वदेशी-विदेशी का भेद-भाव न रहे। जैसे अपना माल अन्य देशों में स्वतंत्रता पूर्वक जाने दिया जाय, वैसे ही दूसरे देशों का माल अपने देश में बेरोकटोक आने दिया जाय। इस नीति के पक्षवालों का कहना है कि मुक्तद्वार व्यापार होने की दशा में

व्यापारी विदेशी व्यापारियों से प्रतियोगिता करते हैं। इससे उनमें अपना माल सस्ता तैयार करने की शक्ति और योग्यता आ जाती है। संरक्षण-नीति में यह बात नहीं होने पाती। फिर, प्रकृति ने प्रत्येक देश को सभी आवश्यक सामग्री नहीं प्रदान की है; यदि हम अन्य देशों से आनेवाले माल पर अधिक कर लगावेंगे, तो दूसरे देशवाले अपने यहाँ जानेवाले हमरे माल पर वैसा ही कर लगाकर हमसे बदला लेंगे। इससे हमारी-उनकी आपस में तनातनी रहेगी।

इन नीतियों का व्यवहार—ये बातें तो केवल सिद्धांत की हैं। वास्तव में प्रत्येक स्वाधीन देश अपनी व्यापार-नीति, अपनी परिस्थति के अनुसार स्थिर करता है, और उसे आवश्यकतानुसार बदलता भी है। बहुत-से राष्ट्र जो अब मुक्तद्वार-व्यापार की तारीफ कर रहे हैं, वे ही कुछ समय पहले तक अपने व्यापार की, संरक्षण-नीति से से, रक्षा करते थे। महायुद्ध के समय में उन्होंने फिर संरक्षण-नीति से लाभ उठाया। उदाहरण के लिए, अमरीका के समृद्धिशाली होने की बात कौन नहीं जानता! योरप के प्राय: सब बड़े-बड़े राष्ट्र उसके कर्जदार हैं। फिर भी वह विदेशी माल को अपने यहाँ बेरोक-टोक नहीं आने देता। आवश्यकता होने पर वह अपने आयात पर १० से लेकर ४० फी-सैकड़ेतक कर बैठा देता है। इसके सिवा, वह अपने यहाँ स्थापित और रजिस्ट्री-शुदा व्यापारिक कम्पनियों को, विदेशों में माल लेजाने के लिए, बहुत ही सस्ते दाम पर जहाज देता है। फिर, जिस जहाज से जितना माल जाता है, उसे उसी अनुपात में नकद इनाम भी मिलता है। संरक्षण-नीति की, यह एक आँखें खोलनेवाली बात है।

भारत की व्यापार-नीति पराधीन देशों की कोई नीति नहीं हो सकती। उन्हें अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार ही चलना पड़ता है। भारतवर्ष अन्य बातों की तरह व्यापार-विषय में भी स्वाधीन नहीं। उसे हानि उठाकर भी स्वार्थी अधिकारियों की आज्ञा स्वीकार करनी पड़ती है। जब इङ्गलैंड में कल-कारखानों से अच्छा माल तैयार

नहीं होता था, और वह संरक्षण-नीति का समर्थक था, तब उसकी उस नीति से भारत का तैयार माल वहाँ जाने से रुका, और यहाँ के उद्योग-धन्धे नष्ट हुए। पीछे, जब वहाँ विविध प्रकार का औद्योगिक माल तैयार होने लग गया, उसकी मुक्तद्वार-व्यापार-नीति से भारतवर्ष के कम उन्नत उद्योग-धन्धों को धक्का पहुँचा। इस प्रकार हर हालत में पराधीन भारत घाटे में ही रहा। पहले योरपीय महायुद्ध के बाद सरकार ने भारतीय हित की ओर कुछ ध्यान दिया। सन् १९२१ ई० की आर्थिक जाँच-समिति की रिपोर्ट के आधार पर यहाँ टेरिफ-बोर्ड की नियुक्ति होने, तथा उसकी सिफारिश के अनुसार लोहे, फौलाद के सामान, कागज, कपड़े, सीमेंट और चीनी की आयात पर संरक्षण-कर लगाये जाने की बात हम उद्योग-धन्धों के प्रसंग में कह आये हैं।

भारतवर्ष में कच्चा माल यथेष्ट होता ही है, और दृढ़ उद्योग तथा साहस से यहाँ विविध प्रकार का सामान तैयार भी हो सकता है। पिछली सदी में कई देशों ने कल-कारखानों में उन्नति कर ली है। वे अब भारतवर्ष पर व्यापारिक हमले कर रहे हैं; उनसे अपनी रक्षा करने के लिए भारतवर्ष को इस समय संरक्षण-नीति के शस्त्र की बड़ी आवश्यकता है।

निर्यात-कर—अब यह विचार करना चाहिए कि हमें अपने निर्यात पर कर लगाना चाहिए या नहीं, तथा इस कर का क्या परिणाम होगा। भारत से विदेशों को तैयार माल केवल जूट का जाता है। इसके सिवा बाहर जानेवाला हमारा और सब माल कच्चा ही होता है। यह स्पष्ट है कि तैयार माल के निर्यात को उत्तेजित करने से देश में उद्योग-धन्धों की वृद्धि होती है। इसलिए उनपर कर न लगना चाहिए। अब हम कच्चे माल के निर्यात का विचार करते हैं।

इंगलैण्ड का स्वार्थ इस बात में है कि भारतवर्ष में कच्चे माल की उत्पत्ति एवं निर्यात बढ़े। वह और दूसरे औद्योगिक देश यहाँ के कच्चे माल को ऐसे ऊँचे भाव पर मोल ले सकते हैं, जिस पर यहाँ उसकी

उतनी बिक्री नहीं हो सकती। इधर, जितना रुपया हमें विदेशों के हाथ अपना कच्चा माल बेचने से मिलता है, उससे कहीं अधिक हमें उनका तैयार माल खरीदने में देना पड़ता है। इस प्रकार इस देश को बहुत हानि होती है। इसके अलावा खाद्य पदार्थों के बाहर जाने से अकाल या दुर्भिक्षों की भयंकरता और भी बढ़ जाती है। इनसे बचने के लिए यह आवश्यक है कि कच्चे पदार्थों के निर्यात पर यथेष्ट कर लगाया जाय। अन्य पदार्थों में अन्न, रूई और तेलहन पर तो कर लगना बहुत ही आवश्यक है। अन्न के निर्यात पर कर लगाने से यहाँ महँगी कम होगी। रूई के निर्यात पर कर लगाने से हमारे स्वदेशी वस्त्र के व्यवसाय की उन्नति होगी, चर्खा चलानेवालों को काफी परिमाण में कच्चा सामान (रूई) तथा कार्य मिलेगा, असंख्य अनाथों, विधवाओं और दरिद्रों की आजीविका चलेगी, देश के जुलाहों और अन्य कारीगरों को स्वतन्त्रता-पूर्वक निर्वाह करने का साधन प्राप्त होगा, तथा विदेशी कपड़ों में खर्च होनेवाला धन स्वदेश ही में रहकर यहाँ के निवासियों की सुख-समृद्धि में सहायक होगा। इसी प्रकार तेलहन को विदेश भेजकर वहाँ से तेल मँगाने में हमें इस समय जो हानि हो रही है, वह उसके निर्यात पर यथेष्ट कर लगाने से दूर हो सकती है।

दुःख की बात है कि इस समय शासकों के अलावा हमारे बहुत-से व्यापारी भी देश के प्रति अपना कर्तव्य भूले हुए हैं। कच्चा माल विदेशों को जाने देने में जहाँ सरकार उत्तेजना देती है, वहां हमारे व्यापारी भी, अपने स्वार्थ के वश, इसका विरोध नहीं करते; वरन् स्वय इस घातक कार्य में सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं। उन्हें चाहिए कि अपने नफे के लिए देश के आर्थिक पतन में सहायक न हों। यदि हमारे आदमी राली ब्रदर्स आदि विदेशी कम्पनियों की नौकरी या दलाली करने, और, गाँव-गाँव में घूमकर अन्न और रूई आदि को कराची, या बम्बई भेजने का बीड़ा उठाने से इनकार कर दें, तो हमारी आर्थिक उन्नति का मार्ग साफ होने में

विशेष विलम्ब न लगे। आशा है, जागृति के इस होनहार युग में वे जननी-जन्मभूमि के लिए स्वार्थ-त्याग करने से मुँह न मोड़ेंगे।

साम्राज्यान्तर्गत रियायत—कुछ अर्थशास्त्री (अधिकाँश अंगरेज़) साम्राज्यांतर्गत रियायत ('इंपीरियल प्रेफरेंस') के पक्ष में रहते हैं। उनका अभिप्राय यह होता है कि ब्रिटिश साम्राज्य भर में, साम्राज्य के देशों में बनी हुई चीजों पर कर बिलकुल न लगे, अथवा अन्य देशों की चीज़ों पर लगनेवाले कर की अपेक्षा कम लगे। संक्षेप में यह, साम्राज्य के लिए मुक्तद्वार व्यापार-नीति, और बाहर के लिए संरक्षण-नीति है। इस नीति के सिद्धांत सन् १९०२ ई० की उपनिवेश-परिषद् में निश्चित हुए थे। तब से इंगलैंड की निरन्तर यह कोशिश रही कि उपनिवेशों और भारतवर्ष में जर्मनी, जापान और अमरीका के माल की खपत न होने पावे। पिछले महायुद्ध के पश्चात् उसकी यह इच्छा और भी प्रबल हो गयी, और भारतवर्ष को इस नीति से जकड़ देने का प्रयत्न किया गया।

ओटावा (केनेडा) में होनेवाली सन् १९३२ ई० की साम्राज्य-परिषद* की बात लीजिए। उसमें तीन वर्ष के लिए यह समझौता हुआ कि जो वस्तुएँ भारत से इंगलैंड अथवा किसी उपनिवेश को भेजी जायँ, उन पर कर में कुछ प्रतिशत के हिसाब से, अन्य (अर्थात् साम्राज्य से बाहर के) देशों की अपेक्षा, रियायत दी जाय। इसी प्रकार इङ्गलैंड और उसके उपनिवेशों से जो चीज़ें भारत में आवें उन पर भारत-सरकार कुछ रियायत किया करे। इस समझौते के अनुसार

*इंगलैंड और साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त भागों के प्रधान मंत्री, परतंत्र उपनिवेशों की ओर से ब्रिटिश सरकार का उपनिवेश-मंत्री, और भारतवर्ष की ओर से भारत-मंत्री इस परिषद के सदस्य होते हैं इंलैण्ड का प्रधान मन्त्री इसका सभापति होता है। परिषद में स्वराज्य-प्राप्त भागों के मन्त्री अपने-अपने देशवासियों के प्रति उत्तरदाई होने के कारण उनका मत प्रकट करते हैं; भारत-मन्त्री भारतवासियों के प्रति उत्तरदाई न होने के कारण भारतीय जनता का मत प्रकट नहीं करता।

आयात-निर्यात-कर में जो परिवर्तन किये गये, वे जनवरी १६३३ ई० से अमल में आये। प्रायः लोकमत इनके विरुद्ध ही रहा; मार्च १६३६ में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने इस समझौते को जारी रखने के विरोध में प्रस्ताव पास किया। तदनुसार मई १६३६ में छः महिने की अग्रिम सूचना दे दी गयी। परन्तु पीछे सरकार के वाणिज्य विभाग की ओर से यह सूचना प्रकाशित की गयी कि अगला समझौता होने तक भारतवर्ष और इङ्गलैंड की सरकारें, सन् १६३२ के समझौते को उस समय तक जारी रखने के लिए सहमत हैं, जब तक कि कोई नया समझौता न हो जाय। इससे स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष से साम्राज्यांतर्गत-रियायत-नीति के आधार पर व्यापार करने की अत्यन्त इच्छुक रहती है।

साम्राज्य-सम्बन्धी व्यापार का स्वरूप—साम्राज्यान्तर्गत रियायत-नीति के प्रभाव को समझने के लिए भारतवर्ष के आयात-निर्यात के मूल्य और स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। प्रायः ग्रेट-ब्रिटेन ही नहीं, समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को भारतवर्ष से जितने मूल्य का माल जाता है, उसकी अपेक्षा यहाँ ब्रिटिश माल अधिक मूल्य का आता है। इसके विपरीत, साम्राज्य से बाहर के देश अपना माल यहाँ भेजते कम, और हमारा माल लेते अधिक हैं। इस प्रकार इन, साम्राज्य से बाहर के, देशों के साथ व्यापार करने में भारतवर्ष को विशेष लाभ है।

जो देश अधिक कच्चा माल बाहर भेजता है, उसे विदेशी व्यापार में मुकाबले का डर नहीं रहता। कारण, कच्चे माल की आवश्यकता सब को रहती है। इस प्रकार मुकाबला न होने से कोई देश उस पर अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कर नहीं लगा सकता। परन्तु बना हुआ माल भेजनेवाले देश को सदा ही यह भय बना रहता है कि कोई उसके माल पर बहुत कर न बैठा दे। भारतवर्ष ऐसा देश है, जहाँ से ज्यादहतर कच्चा माल ही बाहर जाता है। अतः भारत को प्रतियोगिता

या विरोध का भय नहीं हो सकता।

साम्राज्यांतर्गत रियायत में भारतवर्ष का सम्बन्ध इङ्गलैंड और उसके अधीन देशों से ही है। उपनिवेशों से भारत का व्यापार बहुत कम होता है, इसीलिए उससे हानि-लाभ भी विशेष नहीं। इसके अतिरिक्त आयात-निर्यात की वस्तुएँ ऐसी हैं कि भारतवर्ष विशेष हानि उठाये बिना ही उपनिवेशों से स्वेच्छानुसार व्यवहार कर सकता है।

साम्राज्यांतर्गत रियायत से भारतवर्ष की हानि—यदि भारतवर्ष साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति मान ले, तो—

(क) कर कम लगने से यहाँ इङ्गलैण्ड का माल अन्य देशों के माल से सस्ता पड़ेगा, और यहाँ का का बाजार पूर्ण रूप से इङ्गलैंड के हाथ चला जायगा।

(ख) यहाँ जो माल बाहर से तैयार होकर आता है, उसमें बाहर के देशों में बदाबदी है, जिसके कारण हमें चीज़ें सस्ती मिलती हैं। पर 'रियायत' की नीति से इंगलैण्ड को बदाबदी का डर नहीं रहेगा, और हमें उसकी चीज़ें अधिक दाम पर खरीदनी पड़ेंगी।

(ग) सबसे अधिक भय यह है कि जिन देशों के माल पर, इङ्गलैंड के लाभ के लिए, हम अधिक कर लगावेंगे, वे भी हमसे बदला लेने के लिए, भारत के निर्यात-व्यापार पर अधिक कर लगा देंगे, या हम अपना माल इंगलैंड के व्यापारियों को उनकी मनचाही कीमत पर बेचा करेंगे। इस प्रकार हमारी हानि, और इङ्गलैंड का लाभ होगा।

(घ) इस समय हमारी आयात का बड़ा भाग यहाँ इङ्गलैण्ड से ही आता है। कर कम हो जाने पर यह और भी अधिक आने लगेगा और, तब आयात-कर की कमी से भारत-सरकार की आमदनी में बहुत घाटा होगा, और वह जनता पर अधिक कर-भार लादने का विचार करेगी।

(च) भारतवर्ष में कच्चे माल की प्रधानता होने के कारण, इंगलैंड

तथा उपनिवेश भारतवर्ष को अपने कच्चे माल का गोदाम समझेंगे, और भारत-सरकार की लाचारी भारतीय उद्योग-धंधों को कभी पुष्ट न होने देगी। इस प्रकार राजनैतिक सुधार होते हुए भी भारत को आर्थिक स्वाधीनता नहीं मिलेगी।

व्यापारिक समझौते—साम्राज्यांतर्गत रियायत व्यापारिक समझौते का ही एक रूप है। अतः व्यापारिक सन्धियों के सम्बन्ध में भी कुछ विचार किया जाना आवश्यक है। बहुधा कोई देश भिन्न-भिन्न देशों से ऐसा समझौता किया करता है कि अगर तुम अमुक परिमाण में मेरा इतना सामान खरीदोगे तो मैं अमुक परिमाण में इतना माल तुम्हारा खरीदूंगा। ऐसी बातें स्वतन्त्र देशों में ही होती हैं। भारतवर्ष की भी व्यापारिक विषय में कुछ स्वतन्त्रता स्वीकार की गयी है, अतः भारतवर्ष की, दूसरे देशों से इस प्रकार की संधि होने लगी है। दूसरे योरपीय महायुद्ध से पहले के दस-बारह वर्षों में यहाँ भारतवर्ष में जापान के कपड़े की आयात का बढ़ना, और इंगलैंड के कपड़े की आयात घटना ब्रिटिश सरकार के लिए बहुत चिन्ता का विषय रहा है। वह चाहती है कि भारतवर्ष में जापान आदि के वस्त्र की अपेक्षा ब्रिटिश कपड़े को तरजीह दी जाय। इसी दृष्टि से ब्रिटिश व्यापारी भारतवर्ष के प्रमुख व्यापारियों से तथा भारत सरकार से समझौता करने की फिक्र में रहते हैं। बहुधा समझौते की रूप-रेखा से भारतवर्ष की जनता तथा यहाँ के नेता बिलकुल अनजान रखे जाते हैं। समझौते करने के ढङ्ग तथा उनके इस प्रकार गुप्त रखे जाने की बात बहुत सन्देह तथा असंतोष पैदा करनेवाली होती है। आवश्यकता है। समझौते सम्बन्धी सब बातों पर, अन्तिम निर्णय से पूर्व, भारतीय व्यवस्थापक सभा का मत लिया जाया करे। भारतीय व्यापारियों का भी कर्त्तव्य है कि लोकमत की उपेक्षा कर किसी गुप्त समझौते में भाग न लें।

व्यापार-नीति और अंतर्राष्ट्रीयता—व्यापार-नीति-सम्बधी

इन बातों को पढ़ कर कुछ लोग हम पर विश्वबन्धुत्व-विरोधी होने का आक्षेप कर सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि हमें किसी भी सुन्दर शब्द के मोह-जाल में न पड़कर, गम्भीर विचार करना चाहिए। हमें वह विश्वबन्धुत्व या अन्तर्राष्ट्रीयता अभीष्ट नहीं है, जो हमें परावलम्बी बनाये। प्रत्येक व्यक्ति की भांति राष्ट्र को भी जीवित जागृत रहना चाहिए और इसलिए अपने जीवन-निर्वाह के आवश्वयक पदार्थ स्वयं उत्पन्न तथा तैयार करने चाहिएँ; विशेषतया, जबकि उस देश में आवश्यक कच्चे पदार्थ काफी उत्पन्न होते हों, या उत्पन्न होने की अनुकूलता हो। कोई भी राष्ट्र अपने जीवन-निर्वाह के लिए परावलम्बी रहकर अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में विशेष उपयोगी नहीं हो सकता।

हम किसी को हानि पहुंचाना या किसीका शोषण करना नहीं चाहते हम यह भी नहीं चाहते कि दूसरे राष्ट्र हमें अपने स्वार्थतो या पूँजीवाद का शिकार बना कर हमारे विकास को रोकें और फिर हमें असभ्य और अवनत कहने का अवसर प्राप्त करें। अन्य क्षेत्रों की भांति, व्यापार-क्षेत्र में भी हमारी नीति 'जीओ, और जीने दो' की होनी चाहिए।

छठा भाग

वितरण

बाइसवाँ अध्याय

लगान

वितरण किसे कहते हैं, और उसमें किन-किन विषयों का विचार होता है, यह हम पहले भाग में बता चुके हैं। यहाँ उन विषयों की ब्योरेवार चर्चा करने के लिए 'लगान' से आरम्भ करते हैं। भूमि, खेत जंगल या खान आदि को व्यवहार में लाने का अधिकार प्राप्त करने के लिए उसके स्वामी को जो रकम या अनाज आदि दिया जाता है, उसे लगान कहते हैं। प्राचीन-काल में मनुष्य कम थे, और भूमि उनकी आवश्यकता से अधिक। उस समय प्रत्येक आदमी उसका अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सकता था। किसी आदमी का किसी भूमि पर अधिकार नहीं था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ भूमि की माँग भी बढ़ती गयी। परन्तु उसका क्षेत्र परिमित ही रहा। अतः जिसके अधिकार में जो भूमि आगयी, वही उसका स्वामी बनने लगा। अब अगर किसी के पास आवश्यकता से अधिक भूमि होगयी तो उसने उसके उपयोग का अधिकार दूसरे को देकर उसके बदले में उपज का कुछ हिस्सा, जिसे लगान कहते हैं, लेना आरम्भ किया। इस प्रकार लगान लेने की रीति निकली।

लगान के भेद—अर्थशास्त्र की दृष्टि से लगान के दो भेद हैं—(१) कुल लगान, जिसे बोलचाल में केवल लगान ही कहते हैं; (२) आर्थिक लगान। कुल लगान में आर्थिक लगान के अलावा

भूमि में लगे हुए मूलधन का सूद, और जमीन के मालिक का विशेष लाभ मिला रहता है। किसी खेत के आर्थिक लगान का हिसाब इस प्रकार लगाया जाता है कि खेत की संपूर्ण उपज के मूल्य में से उसकी खेती के सब प्रकार के लागत-खर्च निकाल दिये जाते हैं ; तदुपरांत जो रकम शेष रहती है, वह उस खेत का आर्थिक लगान मानी जाती है।*

भारतवर्ष में कुल लगान आर्थिक लगान से अधिक लिया जाता है, और इसके तीन भेद हैं—(१) बन्दोबस्त के समय सरकार द्वारा निश्चित किया हुआ लगान; यह नकदी में होता है। (२) जमीन का मालिक इकरारनामे द्वारा, दूसरे आदमी को जमीन जोतने के लिए देदेता है, और लगान नकदी में निश्चित करता है। (३) बटाई प्रथा से मिलनेवाला लगान। बटाई प्रथा संक्षेप में इस प्रकार है—जमीन का मालिक अपनी जमीन में दूसरे आदमी को एक फसल बोने देता है, जो अपना बीज बोता है, और अपने बैलों से तथा अपने परिश्रम से खेती करता है। अगर उसके पास अपने बीज या बैल नहीं होते तो वह इन्हें जमीन के मालिक से या दूसरों से लेकर उनकी व्यवस्था करता है। निदान, खेती करने का सब भार उसी पर रहता है। जब फसल तैयार होनेपर अनाज इकट्ठा किया जाता है तो वह जमीन के मालिक और खेती करनेवाले में, उनके किये हुए समझौते के अनुसार बँट जाता है। प्रायः दोनों आधा-आधा अनाज लेलेते हैं, और भूसे को खेती करनेवाला लेता है। इसी तरह, अनाज के अलावा दूसरी चीज़ों की खेती में बटाई की रीति बर्ती जाती है।

दस्तूर, आबादी और स्पर्द्धा का प्रभाव—भूमि के पास-

---

* भारतवर्ष में, ज़मींदारी प्रथावाले प्रांतों में, किसान भूमि के उपयोग के लिए जो रकम ज़मींदार को देता है, वह लगान कहलाती है, और सरकार जो रकम जमींदार से लेती है, उसे मालगुजारी कहते हैं। रैयतवारी प्रांतों में किसान का सम्बन्ध सीधा सरकार से होता है, और वह जो रकम सरकार को देता है, उसे मालगुजारी कहते हैं।

पास के दो टुकड़ों में भिन्न-भिन्न गुण हो सकते हैं। गुणों के अनुसार, दो समान क्षेत्रवाले टुकड़ों का लगान अलग-अलग होता है। लगान में प्रतियोगिता पीछे जाकर होती है। जब आबादी या कारखानों की वृद्धि या रेल आदि के कारण जमीन की माँग बढ़ती है, तो लगान भी बढ़ता है; और जब कारखाने टूटने लगते हैं, आबादी कम होने लगती है, तो लगान कम हो जाता है। भारतवर्ष में, जब तक कोई कृषक दस्तूर के माफिक लगान देता रहता था, तब तक वह अपनी इच्छा के विरुद्ध बेदखल नहीं कराया जा सकता था। पीछे, समय-समय पर युद्ध, महँगी और बीमारियों के कारण भारतवर्ष के उपजाऊ भागों की आबादी कम हो गयी, और जमींदारों को दूर-दूर के किसानों को अपनी भूमि की ओर आकर्षित करने के लिए, आपस में स्पर्द्धा और कृषकों के साथ रियायत करनी पड़ी। इस प्रकार लगान-सम्बन्धी दस्तूर टूटने लगा। आजकल एक अन्य कारण से भी दस्तूर टूट रहा है। जनता की वृद्धि होने और उपज के बाजार का क्षेत्र बढ़ने से भूमि की माँग बढ़ गयी है। और, जमीन ऐसी चीज है, जिसका परिमाण या पूर्ति नहीं बढ़ सकती। पिछली सदी से लगान या तो कानून से निश्चित होता है, अथवा किसान और जमींदार के आपसी समझौते से।

जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति—भारतवर्ष के कई भागों में आजकल भूमि की उपज के तीन हिस्सेदार होते हैं—किसान, ज़मींदार, और सरकार। इनमें से किसान और सरकार तो अति प्राचीन काल से हैं, परन्तु इन दोनों के बीच में जमींदार कब और कैसे आ गये, यह विषय बहुत विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है। सुदीर्घ हिन्दू शासन में जमींदार नाम के व्यक्ति की चर्चा किसी भी प्राचीन ग्रंथ में —वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में—नहीं मिलती। 'जमींदार' शब्द का प्रयोग मुसलमानों के शासन-काल में आरम्भ हुआ। उस समय ज़मींदार एक सरकारी कर्मचारी होता था, जो मालगुजारी वसूल

करके सरकारी खजाने में दाखिल करता था। उसे अपने इस काम के लिए राज्य से वेतन मिलती थी। मुगल साम्राज्य का ह्रास होने पर ये कर्मचारी क्रमशः स्वतंत्र होते गये। पीछे इनका अधिकार पैत्रिक हो चला। ये लोग सरकार को निर्धारित रकम देते और जनता से मनमाना द्रव्य वसूल करते। इन्होंने भूमि पर अपना अधिकार और गाँव में अपना प्रभाव जमा लिया। यह जमींदारी प्रथा विशेषतया बंगाल में पैदा हुई, पीछे अन्य प्रान्तों की सरकारों के कमजोर पड़ने पर यह दूसरे भागों में भी फैलती गयी। अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में ईस्ट-इंडया कम्पनी यहाँ की परिस्थिति से लाभ उठाकर राजनैतिक विषयों में भी प्रभुत्व प्राप्त करने लगी। सन् १७६५ ई० में लार्ड क्लाइव ने दिल्ली के बादशाह से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की। इससे कम्पनी को यह अधिकार मिल गया कि वह इन प्रांतों की मालगुजारी वसूल करे, और केवल उसका एक निर्धारित अंश (छब्बीस लाख रुपये) शाहआलम को दे दिया करे। यह व्यवस्था हो जाने पर उक्त प्रांतों के प्रत्येक जिले के किसी प्रधान नगर में नीलाम द्वारा जमीन का बन्दोबस्त किया जाने लगा; जो व्यक्ति नीलाम में मालगुजारी की सब-से-अधिक बोली बोलता, उसे किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार मिलने लगा। यह अधिकार केवल एक साल के लिए होता था। अगले साल फिर नये सिरे से जमीन का नीलाम होता था। इस प्रकार किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार कुछ पैसेवालों के हाथ चला गया, जो 'जमींदार' कहलाने लगे। किसानों के सिर पर जमींदार-नामक वर्ग लाद दिया गया। *

* सम्भवतः इसका एक मुख्य हेतु यह भी था कि सर्वसाधारण पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए सरकार भूमि पर कुछ लोगों का विशेष अधिकार स्वीकार करना आवश्यक समझती थी, जिससे यह लोग अपने विशेष स्वार्थों के कारण सरकार का साथ दें, तथा भारतवर्ष में अंगरेजी राज्य की जड़ जमाने में खूब सहायक हों।

बंगाल में स्थाई बन्दोबस्त—इस व्यवस्था में जमींदारों ने किसानों से लगान वसूल करने में खूब ज्यादतियाँ कीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जमीन परती पड़ी रहने लगी, काश्तकार भूखों मरने लगे। तब अधिकारियों को यह खयाल आया कि यह स्थिति अच्छी नहीं; जब जमीन जोती ही न जायगी, तो मालगुजारी कहाँ से ली जायगी। अंत में: लार्ड कार्नवालिस ने सोचा कि जब तक जमींदारों को यह विश्वास न हो जायगा कि उनकी जमीन से आगे जो फायदा होगा, उसका सब अंश उन्हीं को मिलेगा, तबतक वे जमीन का सुधार न करेंगे, और जमीन जोतने या जुतवाने में भी उत्साह न दिखाएँगे। इसलिए उन्होंने बंगाल में (जिसमें उस समय बिहार और उड़ीसा भी सम्मिलित थे) सन् १७६३ ई० में मालगुजारी का स्थाई बन्दोबस्त कर दिया। सरकार को इतनी मालगुजारी मिलने का कानून बन गया, जो उस समय वसूल किये जानेवाले लगान का ६० फी-सैकड़ा थी। हाँ, यह निश्चय हो गया कि जमीन के सुधार से अधिक आमदनी होने पर सरकार का हिस्सा बढ़ाया न जा सकेगा; उसका सब लाभ जमींदारों को होगा। इसमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बन्दोबस्त जमींदारों से किया गया, जब कि वास्तव में होना चाहिए था किसानों से।

जस्टिस फील्ड के शब्दों में 'रैयत को बाध्य किया गया कि वे अपने अधिकार त्याग दें; या यदि उन अधिकारों की रक्षा करना चाहें, तो अपने से कहीं अधिक शक्तिशाली और विवेकहीन लोगों (जमीदारों) से खर्चीली मुकदमेबाजी करें। बंगाल के किसानों को अपना अधिकार खो देना पड़ा, क्योंकि वे बहुत ही गरीब और हम लोगों की (अंग्रेजी) कानूनी कार्रवाइयों के अनुसार सबूत पहुँचाने के तरीकों से सर्वथा अनजान थे। उनके हक साबित करनेवाले कागजात जिन पटवारियों के हाथ में रहे थे, उनका पद तोड़ दिया गया था; और जिन जमींदारों के हाथ में थे, उन्होंने उन कागजात को दबा दिया था।'

स्थाई बंदोबस्त के गुण-दोष—स्थाई बन्दोबस्त के पक्ष में ये बातें कही जाती हैं:—(१) इससे सरकार को निश्चित और स्थाई आय हो जाती है, तथा उसे बारबार लगान निश्चित करने तथा वसूल करने की आवश्यकता नहीं होती। (२) सामाजिक दृष्टि से जमींदार रैयत के स्वाभाविक नेता बनने और उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के कार्यों में सहायता करने योग्य हो गये हैं। (३) आर्थिक दृष्टि से इससे कृषि सम्बन्धी उन्नति और जनता की सुख-समृद्धि की वृद्धि हुई है; इससे आदमी अकाल आदि के संकट का सामना करने में अधिक क्षमतावान हो गये हैं। (४) इससे, अस्थाई बंदोबस्त की दशा में होनेवाली बुराइयाँ दूर हो गयी हैं; उदाहरण के लिए नये बंदोबस्त में होनेवाला बेशुमार खर्च और किसानों की परेशानी, बंदोबस्त की अवधि के अंतिम दिनों में लगान-वृद्धि से बचने के लिए किसानों की उदासीनता के कारण होनेवाली खेती की हानि, मालगुजारी-विभाग के कर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता आदि।

अब स्थाई बन्दोबस्त के विपक्ष की बात लीजिए:—

(क) इससे सरकार को मिलनेवाली आय स्थाई और निश्चित तो रहती है, पर कृषि से होनेवाली आय बढ़ने के साथ सरकार अपने हिस्से को नहीं बढ़ा सकती, जैसा कि वह दूसरी आमदनी के सम्बन्ध में करती है। इस प्रकार सरकार बहुत-सी आय से वंचित रहती है, और सार्वजनिक उपयोगिता के कामों में भी उस सीमा तक खर्च करने में असमर्थ रहती है।

(ख) यद्यपि कोई-कोई जमींदार उदार और परोपकारी होता है, परन्तु स्थाई बन्दोबस्त से जो यह आशा की गयी थी कि जमींदार सामूहिक रूप से समाज का नेतृत्व, और सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति करनेवाले होंगे, वह आशा पूरी नहीं हुई।

(ग) बंगाल की सुख-समृद्धि का श्रेय स्थाई बन्दोबस्त को न होकर दूसरी बातों को है; जैसे किसानों की, काश्तकारी (टिनेंसी) कानूनों

द्वारा रक्षा; जलवायु का बहुत कुछ निश्चित होना ; आमदरफ्त के साधनों का होना; जूट का प्रायः एकाधिकार; और कलकत्ते से होने-वाला व्यापार-व्यवसाय आदि।

(घ) अब इतने वर्षों के अनुभव और कार्य के बाद नया बन्दो-बस्त करने में पहले की तरह बेहद खर्च, तथा किसानों को उतनी असु-विधा नहीं होती। स्थाई बन्दोबस्त की दशा में लगान जितना कड़ाई से लगाया जाता है, अस्थाई बन्दोबस्त की दशा में उतनी सख्ती नहीं की जाती।

सरकार को राष्ट्र-हित सम्बन्धी नये-नये कार्य करने हैं, और उनके वास्ते अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। इसलिए कितने ही विद्वानों का मत है कि जनता पर कर-भार उचित मात्रा में होने के लिए, और सरकार को यथेष्ट आय प्राप्त होने के लिए, आवश्यकता इस बात की है कि स्थाई बन्दोबस्त का संशोधन कर नया बन्दोबस्त किया जाय। यद्यपि ऐसा करने में सरकार की पूर्व प्रतिज्ञा की बात बाधक है, तथापि किसी श्रेणी विशेष के स्वार्थ के लिए जनसाधारण के हितों की चिरकाल तक बलि नहीं दी जा सकती।

सन् १६३६-४० में सरकार ने एक कमीशन मालगुजारी-प्रथा के विविध पहलुओं पर, विशेषतया स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में, विचार करने के लिए नियुक्त किया। इसके बहुमत की रिपोर्ट यह रही कि सरकार सब जमीन को खरीद ले; और स्थाई बन्दोबस्त के आधार पर भूमि स्वत्व न रहे।

अस्थाई बन्दोबस्त—पहले कम्पनी का विचार था कि बंगाल की तरह अन्य प्रान्तों में भी स्थाई बन्दोबस्त कर दिया जाय। परन्तु पीछे उसने सोचा कि जमीन की उपज दिन-दिन बढ़ती जाती है, और उसके साथ सरकारी मालगुजारी भी बढ़ायी जा सकती है। इसलिए उसने अस्थाई प्रबन्ध ही जारी रखा। उत्तर-भारत में यह निश्चय किया गया कि जमीन से मालगुजार को लगान के रूप में जो

आमदनी हुआ करे, उसका ८३ फी-सदी सरकार ले, और शेष केवल १७ फी-सदी जमींदार को मिले। जब जमींदार इतनी ज़्यादा मालगुजारी देने में असमर्थ रहे, तो सरकार ने अपना हिस्सा क्रमशः घटाकर, सन् १८५५ ई० में ५० फी-सदी ठहराया। सन् १८६४ ई० में यही नियम भारतवर्ष के कुछ अन्य प्रान्तों में कर दिया गया। इस समय सरकार लगान की रकम का ४० से ५० प्रतिशत तक मालगुजारी के रूप में लेती है।

मालगूजारी का परिमाण निश्चित होने से लाभ ज़मींदारों को, और उनमें भी केवल बड़े-बड़े जमींदारों को, हुआ। * अब, किसानों के बारे में सुनिए। क्रमशः जनसंख्या-वृद्धि और औद्योगिक ह्रास के कारण अधिकाधिक भूमि में खेती होने लगी, और भूमि की माँग बढ़ती गयी। परन्तु भूमि की मात्रा परिमित ही थी। जमीदारों ने अपनी भूमि का लगान बढ़ाना शुरू कर दिया। इससे किसान बहुत कष्ट पाने लगे। सरकार ने इस विषय की ओर पहले-पहल सन् १८५६ ई० में ध्यान दिया। सन् १८८५ में बंगाल-टिनेंसी (काश्तकारी) एक्ट पास हुआ। इससे काश्तकारों के अधिकारों की रक्षा की गयी। यह व्यवस्था की गयी कि जो किसान किसी भूमि में १२ वर्ष तक काश्त करले, उसे उस भूमि पर मौरूसी अधिकार प्राप्त हो जायँ। पश्चात् विविध कानूनों से इसमें आवश्यक संशोधन किया गया; लगान के बहुत अधिक न बढ़ाये जाने की भी व्यवस्था की गयी। अन्य प्रान्तों में भी समय-समय पर काश्तकारी-कानून बनाया गया। अस्थाई बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में सरकारी मालगुजारी एक बार केवल तीस, बीस या इससे कम सालों के लिए निश्चित की जाती है। इस अवधि के उपरान्त नया बन्दोबस्त होता है, जिसमें बहुधा मालगुजारी का भार बढ़ता ही रहता है।

* बड़े जमींदारों को अपनी आय में से ४०-५० प्रति शत देना कठिन नहीं होता, परंतु छोटे जमींदारों को इतने परिमाण में मालगुजारी देना बहुत अखरता है।

अस्थाई बन्दोबस्त दो प्रकार का है—

(क) जमींदारी, ताल्लुकदारी या ग्राम्य—इसमें जमींदार या ताल्लुकदार अपने हिस्से की, अथवा गाँववाले मिल कर कुल गाँव की, मालगुजारी सरकार को चुकाने के लिए उत्तरदाई होते हैं।

(ख) रैयतवारी—इसमें सरकार सीधे काश्तकारों से सम्बन्ध रखती है।

बन्दोबस्त का हिसाब—बन्दोबस्त की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का मोटा हिसाब इस प्रकार है :—(१) स्थाई बन्दोबस्त; बंगाल में, बिहार के ५/६ भाग में, एवं आसाम के आठवें और संयुक्तप्रान्त के दसवें भाग में। (२) ज़मींदारी या ग्राम्य बन्दोबस्त; संयुक्तप्रान्त में ३० वर्ष और पंजाब तथा मध्यप्रान्त में २० वर्ष के लिए मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है। गाँववाले मिल कर इसे चुकाने के लिए उत्तरदाई होते हैं। (३) रैयतवारी बन्दोबस्त; बम्बई, सिन्ध, मदरास, और आसाम में, एवं बिहार के कुछ भाग में। इन स्थानों में सरकार सीधे काश्तकारों से सम्बन्ध रखती है। बम्बई, और मदरास में ३० वर्ष में, तथा अन्य प्रान्तों में जल्दी-जल्दी बन्दोबस्त होता है।

सरकारी मालगुजारी नकदी में ली जाती है, जिन्स (उपज) के रूप में नहीं। वर्षा न होने या बहुत अधिक होने से, या किसी दूसरे कारण से फसल खराब हो जाने पर जब पैदावार कम हो जाती है, तो मालगुजारी का कुछ अंश छोड़ने का नियम है। परन्तु प्रायः यह शिकायत रहती है कि छूट नुकसान के हिसाब से कम होती है; और, वैसे भी मालगुजारी वास्तविक उपज की दृष्टि से अधिक ही ली जाती है। भारतीय किसानों की दरिद्रता और कर्जदारी का एक मुख्य कारण यही माना जाता है।

मालगुजारी और लगान निर्धारित करने की विधि—भारतवर्ष के अस्थायी बन्दोबस्त वाले भागों में मालगुजारी और लगान निर्धारित करने के तीन तरीके हैं। (१) संयुक्तप्रांत में मौरूसी काश्तकारों

का लगान उस लगान के आधार पर निश्चित किया जाता है, जो गैर-मौरूसी काश्तकार पिछले बन्दोबस्त में जमींदारों को दिया हैं। लगान का करीब आधा भाग मालगुजारी ली जाती है। (२) मध्यप्रांत में लगान का निश्चय भूमि के गुण और स्थिति की जाँच करके किया जाता है ; और, मालगुजारी लगान की करीब आधी होती है। (३) बम्बई प्रान्त में बन्दोबस्त-अफसर यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक खेत में पिछले बन्दोबस्त के समय जो उपज हुई, उसकी कीमत क्या थी, और उसमें लागत-खर्च क्या हुआ था। उपज की कीमत में से लागत-खर्च निकाल देने पर जो रकम शेष रहती है, साधारणतया उसका लगभग आधा भाग आगामी बंदोबस्त तक के लिए मालगुजारी निश्चित की जाती है।

भारत के सब प्रांतों में मालगुजारी की दर एक ही प्रकार से निश्चित होना ठीक है, और उसके लिए अंतिम अर्थात् बंबई प्रांतवाली विधि सर्वोत्तम है। परन्तु उसमें भी कुछ सुधार होना आवश्यक है।

वर्त्तमान समय में अनेक स्थानों में खेती बेमुनाफे की होती है। किसानों को मालगुजारी अपनी मजदूरी में से देनी पड़ती है, इसलिए उनको कई महीनों तक भूखे रहना पड़ता है।* सन् १९२६ ई० की कर-जाँच-समिति ने यह स्वीकार किया है कि 'खेती के लागत-खर्च में किसान और उसके कुटुम्ब के उन लोगों की मजदूरी शामिल नहीं की जाती, जो खेती, पर काम करते हैं।' ❀ यदि लागत-खर्च ठीक लगाया जाय तो बहुत-से खेत ऐसे निकलेंगे, जिनकी आमदनी लागत-खर्च से कम होगी। इस प्रकार के खेत जोतनेवालों से तो मालगुजारी या लगान लिया जाना किसी दशा में उचित नहीं

* ऐसी दशा में किसान भूमि को रखते ही क्यों है? इसका उत्तर यह है कि उनके पास स्थाई आजीविका का और कोई साधन न होने से वे भूमि के थोड़े-बहुत सहारे को छोड़ना नहीं चाहते। बिलकुल भूखे रहने से आधे-पेट रहना ही अच्छा है। फिर, भूमि के, पैत्रिक सम्पत्ति होने के कारण भी किसानों को उसका मोह रहता है।

कहा जा सकता। पुनः किसानों से (रैयतवारी प्रांतों में) मालगुजारी ली जाना, और सब जमींदारों से (जमींदारी-प्रथा वाले प्रान्तों में), बिना उनकी हैसियत का विचार किये, लगान का लगभग ५० % मालगुजारी लिया जाना भी अनुचित है।

बन्दोबस्त की अवधि—अस्थायी बन्दोबस्त कितने समय के लिए हुआ करे, इस विषय में बहुत मतभेद है। कुछ लोगों का मत है कि दस साल के बाद नया बन्दोबस्त हो जाया करे; दूसरे लोग चाहते हैं एक बार जो बंदोबस्त हो, वह सौ साल तक कायम रहे। थोड़े समय के पक्ष में ये बातें हैं:—(१) राज्य और समाज को उस बढ़ी हुई आमदनी का उचित हिस्सा मिल जाता है, जो साधारण उन्नति के कारण हो जाती है जिसके लिए किसी को खास मेहनत नहीं करनी पड़ती। साथ ही, इससे समय-समय पर लगान की थोड़ी-थोड़ी वृद्धि होने से, किसानों का भार विशेष नहीं बढ़ता। (२) उत्पत्ति का परिमाण या उसका मूल्य कम हो जाने की दशा में, लगान की दर कम करना, और इस प्रकार, किसानों का भार हलका करना आसान होता है।

इसके विरोध में यह कहा जाता है कि सुदीर्घ काल के लिए बन्दोबस्त हो जाने की दशा में, लगान देनेवाला बारबार के परिवर्तनों से बच जाता है, वह अपने साधनों की वृद्धि कर सकता है। वह लगान-वृद्धि की आशंका से मुक्त रहते हुए कृषि की उन्नति करता है। अस्तु, यदि लगान वि·ार-पूर्वक वैज्ञानिक पद्धति से निश्चित किया जाय तो बन्दोबस्त की अवधि उपर्युक्त दोनों प्रकार के मेल पर निर्भर रहेगी। साधारण तौर से तीस-चालीस वर्ष में नया बन्दोबस्त होते रहना ठीक ही है।

संयुक्तप्रान्त का नया लगान कानून—समय-समय पर विविध प्रांतों में किसानों की दशा सुधारने के लिए कानून बनाये गये हैं। उदाहरण-स्वरूप, हम यहाँ संयुक्तप्रान्त के उस लगान-कानून की मुख्य बातें आगे देते हैं, जो जनवरी १९४० में लागू किया गया। स्मरण रहे कि

यह कानून उस समय बनाया गया था, जबकि यहाँ कांग्रेस मन्त्रि-मंडल पदारूढ़ था। अब आगरा और अवध प्रदेश की लगान-प्रथा में कोई अन्तर नहीं रहा है। इस कानून के अनुसार—

(१) शिकमी या सीर के काश्तकारों को छोड़कर प्रत्येक काश्तकार मौरूसी काश्तकार होगा।

(२) किसी जमींदार को ५० एकड़ से अधिक सीर रखने का अधिकार न होगा। सीर के काश्तकार को पाँच साल के पहले बेदखल नहीं किया जायगा।

(३) काश्तकारों को अपने खेत में पेड़ लगाने और मकान, कुआँ, या पक्की नाली आदि बनवाने का अधिकार होगा।

(४) बकाया लगान के लिए बेदखल किये जाने के सम्बन्ध में काश्तकार को दो साल का समय दिया जायगा; यदि काश्तकार इस बीच में पिछला शेष तथा उस समय का लगान अदा कर देगा तो बेदखल नहीं किया जायगा।

(५) जमींदार किसानों से नजराना, भेंट, बेगार आदि न ले सकेगा। उसका सम्बन्ध उनसे वैसा ही होगा, जैसा सरकार का उससे है।

(६) लगान पैदावार के पाँचवें हिस्से से अधिक न होगा। लगान सीधे जमींदार को दिया जा सकता है, मनिआडर द्वारा भेजा जा सकता है, या तहसील में जमा कराया जा सकता है। जब लगान जमींदार को दिया जायगा, तो किसान को उससे उसकी रसीद लेने का अकिार होगा।

(७) मौरूसी काश्तकार का लड़का अपने पिता की जमीन का अधिकारी होगा।

इस कानून से किसानों को बहुत सी सुविधाएँ मिल गयी हैं, फिर भी इस में कुछ सुधारों की आवश्यकता है। इसके अनुसार उन किसानों को भी लगान से मुक्त नहीं किया गया है, जिनकी जमीन से केवल लागत-खर्च ही निकलता है, या वह भी नहीं निकलता, अर्थात् जो

बेमुनाफे की खेती करते हैं। उन्हें लगान से मुक्त रखा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

क्या जमींदारी-प्रथा उठादी जानी चाहिए ?—जमींदारों से यह आशा की गयी थी कि वे किसानों को अपने परिवार का अंग समझेंगे और देश-हित के लिए समाज का नेतृत्व ग्रहण करनेवाले होंगे। खेद है कि अधिकाँश जमीदारों ने अपनी उपयोगिता का परिचय नहीं दिया। प्रायः वे आरामतलबी और कुछ दशाओं में तो बिलासिता का जीवन बिताते हैं। कितने ही जमींदार तो गाँवों को छोड़कर, अपने शौक पूरा करने के लिए नगरों में आ-बसते हैं। इनसे ग्राम-सुधार की क्या आशा की जाय ! इस प्रथा के सम्बन्ध में ये बातें विचार करने योग्य हैं :—

(१) जमींदार बिना श्रम किये धन पाते हैं; और, उसका उपयोग वे अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, समाज-हित के विचार से नहीं।

(२) वर्त्तमान अवस्था में किसान लगान के भारी बोझ से दबे रहते है। तो भी, सरकार को राष्ट्र-निर्माण के कार्यों के लिए रुपये की कमी रहती है, और वह आबकारी आदि हानिकारक उपायों से होने-वाली आय का सहारा लेती है।

(३) जमींदार गैर-मौरूसी किसानों से मनमाना लगान वसूल करते हैं, और उन्हें पट्टा होने के समय बेदखल करने की धमकी देते हैं।

(४) जमींदार त्योहारों तथा विवाह-शादी के अवसर पर किसानों से नजराना तथा अन्य अनेक कर लेते है।

(५) वे किसानों से रसद और बेगार लेते हैं। उनके कारिन्दे आदि उन्हें बहुत तंग करते हैं।

(६) प्रायः किसान जमींदारों के अत्याचारों के शिकार होते हैं, तथा उन्हें मुकदमेबाजी आदि में फँसना होता है। इस प्रथा को हटाने से किसानों को इन बातों से छुटकारा मिलेगा; दूसरे शब्दों में भारतयी

जनता के बड़े हिस्से की सुख शान्ति बढ़ेगी।

(७) बहुत से जमींदार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक और सहायक हैं, तथा जनता के राष्ट्रीय आन्दोलन में बाधक हैं; जैसा कि केन्द्रीय और प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं के निर्वाचनों में तथा अन्य अवसरों पर जाहिर होता रहा है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि जमींदारी प्रथा बहुत हानिकर है। यह हटादी जानी चाहिए।

मुआवजे का सवाल; श्री० सम्पूर्णानन्द का मत— अब प्रश्न यह है कि जमींदारी प्रथा को हटाने की विधि क्या हो—क्या जमींदारों को मुआवजा दिया जाय, मुआवजें की रकम कितनी हो, और वह किस प्रकार दी जाय। इन विषयों का निश्चय जुदा-जुदा तरह की जमींदारियों क सम्बन्ध में अलग-अलग करना होगा। पाठकों के विचार के लिए हम यहाँ संक्षेप में श्री० सम्पूर्णानन्द जी का मत देते हैं। आपने खासकर संयुक्तप्रान्त का विचार करके कहा है कि ज़मींदारी प्रथा के लोप के पश्चात्, जमींदारों को इस समय के कुल लगान का दस फी सदी मुआवजा दिया जाय। जब सन् १७९५ में जमींदारी प्रथा कायम की गयी, तो जमींदारों को लगान के दस फी सदी से अधिक नहीं मिलता था। पीछे समय-समय पर जमींदारों का हिस्सा बढ़ाया गया, इसका कारण यह नहीं था कि ज़मींदारों को अधिक आय का अधिकार था, वरन् इसका कारण राज-परिस्थितियाँ थी। विदेशी सरकार की स्वभावतः यह इच्छा रहती है कि कुछ आदमियों को प्रलोभन देकर अपना समर्थक बनाये रखे। निदान, जमींदारों को मुआवज़े के रूप में, लगान की उससे अधिक प्रतिशत रकम पाने का अधिकार नहीं है, जितनी था उन्हें जमींदारी प्रथा आरम्भ होने के समय लेने का अधिकार था।

जमींदारों को यह 'मुआवजा' सरकारी कोष से तिमाही या छःमाही किस्त के रूप में मिलता रहे। अभिप्रायः यह है कि बदलनेवाली

अवस्था में यह रकम भत्ते के तौर से दी जाय, जिससे ज़मींदार अपने को नये युग के अनुसार बनाले। इस लिए यह रकम जमींदार को उसके जीवन-काल में, तथा उसके एक उत्तराधिकारी के समय तक मिले। अगर वह और उसका उत्तराधिकारी जमींदारी उठने के समय से पच्चीस साल से कम में मर जाय तो यह रकम पच्चीस साल तक दी जाती रहे।

अधिकांश 'जमींदार' सिर्फ नाम के ही ज़मींदार है। उनके पास ज़मीन बहुत थोड़ी सी है, और उसे वे खुद ही काश्त करते हैं। ढाई सौ रुपये तक मालगुजारी देनेवालों को, अगर वे चाहें, काश्तकार बनने का अधिकार मिल जाना चाहिए। इससे, दिये जाने वाले मुआवजे की रकम का परिमाण कम रह जायगा; और, बड़ा लाभ यह होगा कि ज़मींदारी प्रथा के विरोधियों की संख्या कम रह जायगी, और ज़मींदारी उटाने का सुधार अमल में लाने में सुविधा होगी। जो लोग खेती करने के योग्य हैं, उन्हें उसका अच्छा अवसर मिलेगा। जो ज़मींदार ढाई सौ रुपये से अधिक सालाना मालगुजारी देते हैं, उनमें से जो चाहें वे ढाई सौ रुपये तक की मालगुजारी की ज़मीन अपने पास रखें और उसमें खुद खेती करें; नहीं तो ऊपर बताया हुआ मुआवजा लेकर अपना जमींदारी का हक छोड़ दें। सारांश यह कि भविष्य में ज़मीन ऐसे ही आदमियों के अधिकार में रहे, जो खुद खेती करते हों, दूसरों से खेती कराकर उसके मुनाफे की आमदनी से मौज उड़ानेवाले 'ज़मींदार' न रहें।

क्या रैयतवारी प्रथा निर्दोष है ?—ऊपर जमींदारी प्रथा उठाई जाने की आवश्यकता बतायी गयी है। लेकिन वर्तमान रैयतवारी प्रथा भी निर्दोष नहीं है। श्री० किशोरलाल मश्रूवाला का कथन है—"रैयतवारी प्रथा, जमींदारी प्रथा की अपेक्षा, राज्य तथा प्रजा के बीच से एक मध्यस्थ कम होने के कारण, अच्छी हो सकती है, परन्तु सिद्धान्त से वह किसी भी दूसरी अनुपस्थित भूस्वामी प्रणाली से भिन्न

नहीं है। कृषक तथा जनता के दृष्टिकोण से, ज़मींदार के स्थान पर, राज्य के अनुपस्थित भूस्वामी बन जाने से कोई भलाई नहीं होनेवाली है। रैयतवारी प्रणाली में सरकार अनुपस्थित भूस्वामी से किसी भी प्रकार कम नहीं है, जिसका केवल लगान वसूल करने तथा अवसर पड़ने पर उसे बढ़ा देने में ही स्वार्थ रहता है। किसान को, लगान नकद अथवा जिन्स के रूप में चुकाने की जिम्मेदारी के बिना, निर्वाह-वेतन दिया जाना चाहिए। जब तक राज्य भूमि के, जिसका कि वह स्वामी होने का दावा करता है, सुधारने की जिम्मेवरी अपने सिर पर नहीं लेता तथा स्वयं मौसम तथा खेती की खराबी का उत्तरदायित्व वहन करते हुए किसान को, उसकी भूमि का वास्तविक ध्यान न करते हुए, उसका निर्वाह-वेतन नहीं दिलाता, वह अनुपस्थित भूस्वामि से किसी भी हालत में अच्छा नहीं है, बल्कि उससे भी बुरा है; कारण कि यह तो एक अव्यक्तिगत लालफीताशाही शासन ही तो है।''*

लगान की भावी व्यवस्था—जमींदारी प्रथा समाप्त होने पर हमारे सामने दो रास्ते होंगे—(१) जमीन पर किसानों का अधिकार हो; और जिस तरह नगरों में लोग आय-कर देते हैं उसी तरह किसान भी अपनी खेती की आय पर राज्य-कर दें; (२) सारी जमीन का राष्ट्रीकरण हो, अर्थात् उस पर राज्य का अधिकार हो; राज्य उस पर लोकहित की दृष्टि से खेती करने का प्रबन्ध करे। ये तो पीछे की बातें रहीं। अब हम वे सुधार बतलाते हैं, जो अभी, जमींदारी प्रथा के रहते हुए ही अमल में आजाने चाहिएँ :—

(१) बेमुनाफे की खेती करनेवालों से कोई लगान न लिया जाय। इस विषय पर पहले लिखा जा चुका है।

(२) किसान अपनी ज़मीन पर खुद ही खेती करे; न तो वह उसे किसी दूसरे आदमी को काश्त करने के लिए दे और न किसी को बटाई पर ही दे। हाँ, नाबालिग या विधवा को दूसरों के द्वारा खेती कराने

* 'लोक जीवन' में प्रकाशित एक लेख से संकलित।

का अधिकार रहे।

(३) जिस खेती से किसान की और उसके परिवार के लोगों की मज़दूरी आदि लागत-खर्च निकल आने पर मुनाफा रहे, उस पर लगान लिया जाय। वह, आर्थिक लगान से अधिक न हो। जैसे-जैसे मुनाफे की आय का परिमाण बढ़े, लगान की दर अधिक हो।

(४) रैयतवारी प्रान्तों में किसान मालगुजारी देने से मुक्त किये जायँ। किसी किसान के पास औसत दर्जे की पाँच एकड़ से कम जमीन न हो। इतनी जमीन की खेती की आय से किसान और उसके परिवार का निर्वाह होने की आशा की जाती है। जिन किसानों को आय अधिक हो, उनसे इनकमटेक्स की तरह कर लिया जाय, जिसकी दर आय के परिमाण के अनुसार बढ़ती हुई हो।

रैयतवारी प्रान्तों में अधिकतर किसानों की, और ज़मींदारी प्रान्तों में कितने ही जमींदारों की खेती बेमुनाफे की होती है। इनसे लगान या कर न लिये जाने की हालत में सरकार का इस विभाग का काम और खर्च बहुत घट जायगा। लगान सम्बन्धी नयी योजना से सरकारी आय में एक तरफ कमी होगी तो दूसरी ओर, अधिक आमदनी वालों पर अधिक कर लगाने से उसकी सहज ही पूर्ति भी हो जायगी। इसके अलावा, लाभ यह होगा कि मामूली आमदनी वाले बहुत से ग्राम-वासियों की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर होने से उनका ज़ीवन अधिक सुखमय होगा, उन्हें स्वराज्य आया हुआ मालूम होगा; बहुत से गरीब आदमियों के लिए कर-भार का कम होना ही स्वराज्य है।

तेइसवाँ अध्याय

मज़दूरी

श्रम या मेहनत करनेवाले को उसके श्रम के बदले में जो धन दिया जाता है, उसे 'मज़दूरी' कहते हैं। मासिक मज़दूरी प्रायः वेतन या तनख्वाह कहलाती है। सर्वसाधारण में मजदूरी की अपेक्षा 'वेतन' शब्द अधिक आदर-सूचक है; परन्तु अर्थशास्त्र में ऐसा कोई भेद नहीं। अपनी भूमि पर, अपने ही औजारों से काम करनेवाले बढ़ई, लुहार आदि को जो मज़दूरी दी जाती है वह सब असल में मज़दूरी ही नहीं होती, उसमें उनकी भूमि का लगान तथा उस मूलधन का सूद भी मिला होता है, जो इन कारीगरों का अपने औजार खरीदने में लगा है।

नकद और असली मजदूरी—आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः रुपये पैसे में चुकाया जाता है। इसे नकद मजदूरी कहते हैं। यदि मजदूरी अन्न-वस्त्र आदि पदार्थों में दी जाय, तो पदार्थों के परिमाण को मज़दूरों की असली मजदूरी कहा जाता है। इसमें मकान, शिक्षा, या मनोरञ्जन आदि वे विशेष सुविधाएँ भी मिली होती हैं, जो मजदूरों को उनके मालिकों की ओर से प्राप्त होती हैं। नकद मज़दूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। उदाहरण के लिए अगर मोहन को रोजना ||) मिलते हैं और उसके नगर में गेहूँ का भाव दस सेर का है, तथा सोहन को रोजाना ||=) आने मिलते हैं और उसके नगर में गेहूँ का भाव छः सेर का है, तो सोहन की नकद मज़दूरी अधिक होने पर भी असली मज़दूरी मोहन को ही अधिक मिलती है। इसी तरह अगर दोनों को अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान बराबर मिलता है, परन्तु मोहन को रहने

का मकान आदि मुफ्त मिलता है, अथवा काम करने के घंटों के बीच में अवकाश या मनोरञ्जन का ऐसा अवसर मिलता है, जो सोहन को नहीं दिया जाता, तो भी मोहन की ही असली मज़दूरी अधिक मानी जायगी! यह स्पष्ट है कि दो श्रमजीवियों में, जिसे असली मजदूरी अधिक मिलती है, उसकी दशा दूसरे से अच्छी होगी।

भारतवर्ष में पहले अधिकतर मजदूरी अन्न में चुकायी जाती थी। आचार्य कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में नकद और अपल दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारण तौर से प्रत्येक ऐसे श्रमी के लिए जो एक ही व्यक्ति या संस्था का कार्य करे, कुछ नकद वेतन निश्चिन्त करता है, तो साथ ही कुछ भोजनादि भी ठहराता है। उसकी व्यवस्था के अनुसार, श्रमी अपने खाने-पीने की आवश्यकता से निश्चित रहता था, और नकद वेतन से अपनी जरूरतें पूरी कर सकता था। इस दशा में, पदार्थों के मूल्य के घटने-बढ़ने का श्रमजीवियों की आय पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुत-से देहातों में अब भी यही दशा है। कृषि-श्रमजीवी अपनी मजदूरी अन्न के रूप में ही पाते हैं। परन्तु आधुनिक सभ्यता के विकास से, नगरों या औद्योगिक गाँवों में मजदूरी नकद या रुपये-पैसे के रूप में ही दी जाती है। इससे श्रमजीवियों पर जीवन-रक्षक पदार्थों की तेजी-मंदी का बहुत प्रभाव पड़ता है।

नकद वेतन में प्रायः न तो इस बात का विचार किया जाता है कि वह श्रमजीवी के गुजारे के लिए पर्याप्त है या नहीं, और न इसी बात का कुछ नियंत्रण रहता है कि श्रमजीवी अपने वेतन के द्रव्य का किस प्रकार उपयोग करता है; वह उससे भोजन-वस्त्र खरीदता है या विलासिता की वस्तुएँ। अनेक मजदूर सबेरे से शाम तक मजदूरी करके अपने मालिक से कुछ गिने-गिनाए पैसे पाते हैं, जो उनके निर्वाह के लिए काफी नहीं होते; फिर, वे उन में से भी काफी पैसे शराब आदि में खर्च कर डालते हैं।

मजदूरी की दर—हम पहले बता आये हैं कि पदार्थों का मूल्य माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार निश्चित होता है। यह नियम मजदूरी के सम्बन्ध में भी लागू होता है। उदाहरण लीजिए। अंगरेजों ने जब भारतवर्ष में व्यापार करना आरंभ किया, तो यहाँ अंगरेजी जाननेवालों का अभाव था। उस समय जो भारतवासी मामूली अंगरेजी सीख लेता था—मिडिल भी पास कर लेता—उसे ७०-८० रु० मासिक वेतन मिलना आसान था; तरक्की भी खूब होती थी। पीछे अंगरेजी जाननेवालों की संख्या क्रमशः बढ़ी। अब यह दशा है कि मिडिल-पास की तो बात ही क्या, कितने ही बी० ए०-पास भी शान्ति-काल में ४०-५० रु० मासिक नहीं पा सकते। महायुद्ध से पहले कभी-कभी तो ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि ग्रेजुएट केवल ३०-३५ रुपये की नौकरी पाने को तरसते रहे।

[रुपये का मूल्य पहले की अपेक्षा बहुत कम रह गया है। इसलिए यदि अब नकद वेतन पहले के समान भी हो तो वह असली वेतन के विचार से बहुत कम माना जायगा।]

माँग और पूर्ति के व्यवहार की दृष्टि से मजदूरी और अन्य पदार्थों में महत्वपूर्ण अन्तर है। प्रथम तो यह स्पष्ट है कि अनेक पदार्थों की तुलना में मजदूरी बहुत ही शीघ्र क्षय होनेवाली वस्तु है। श्रमीजीवी का जो समय व्यर्थ चला जाता है, वह चला ही जाता है। इसलिए निर्धन श्रमजीवी अपने श्रम को जिस कीमत पर बने, बेच देना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता मजदूरी की दर घटाने में सहायक होती है। फिर, मजदूरों की पूर्ति में जल्द परिवर्तन नहीं होता। माँग होने पर अनेक पदार्थ प्रायः शीघ्र ही बाजार में पहुँचाये जा सकते हैं। उनकी दर बहुत समय तक चढ़ी नहीं रहती; परन्तु श्रमजीवियों को अपना घर और गाँव (या नगर) तुरन्त छोड़ने की इच्छा नहीं होती; पूर्ति होने में बहुधा देर लग जाती है। इसलिए नये कल-कारखाने खुलनेके समय, आरम्भ में कभी-कभी बहुत समय तक मजदूरी की

दर, अन्य स्थानों की अपेक्षा, चढ़ी रहती है। इसी के साथ यह भी बात है कि जो श्रमजीवी एक बार वहाँ आकर रहने लग जायँगे, वे सहसा वहाँ से जायँगे भी नहीं। इसलिए अगर बाद में, किसी घटना-वश, श्रमजीवियों की माँग कम रह जाय, तो वहाँ उनकी पूर्ति जल्दी न घटने से मजदूरी की दर का, अन्य स्थानों की अपेक्षा, बहुत समय तक कम रहना संभव है।

अनुभव-हीन और अशिक्षित श्रमजीवियों के संबंध में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है! उन बेचारों को अकसर यह मालूम ही नहीं होता कि किस जगह उनके श्रम की माँग अधिक है, उन्हें अपने श्रम के बदले कितनी अधिक मजदूरी मिल सकती है। जब ठेकेदार आदि के द्वारा श्रमजीवियों को उनके श्रम की माँग का समाचार मालूम भी होता है, तो उन्हें परिस्थिति का यथेष्ट परिचय नहीं मिलता। इसलिए मज़दूरों को उनकी कार्य-क्षमता के लिहाज से प्रायः कम मज़दूरी मिलती है (और ठेकेदार आदि प्रायः इस परिस्थिति से लाभ उठाते हैं)। बहुधा ऐसा हो सकता है कि एक मज़दूर किसी कार्य के लिए एक स्थान में जितनी मज़दूरी पाता है, उससे कहीं अधिक मज़दूरी पास के दूसरे स्थान में, वैसे ही कार्य के लिए मिल रही हो। मजदूरनियों के संबंध में यह बात और भी अधिक ठीक है। अज्ञान, और स्थानांतर-गमन की कठिनाइयाँ उनके मार्ग में, मज़दूरों की अपेक्षा, बहुत अधिक होती हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि यदि सब श्रमजीवियों में स्वतन्त्र रूप से प्रतियोगिता हो सके—अज्ञान और स्थानांतर-गमन आदि की बाधाएँ न हों—तो भिन्न-भिन्न स्थानों में ही एक काम के लिए असली मज़दूरी में विशेष अन्तर न रहे।

अलग-अलग व्यवसायों के वेतन में फरक क्यों होता है?—किसी व्यवसाय में, दूसरे व्यवसाय की अपेक्षा मज़दूरी की दर

कम या अधिक होने के कई कारण हो सकते हैं :—

(१) व्यवसाय की प्रियता।

(२) व्यवसाय की शिक्षा।

(३) व्यवसाय की स्थिरता।

(४) व्यवसाय में विश्वसनीयता आदि किसी विशेष गुण की आवश्यकता।

(५) निश्चित वेतन के अलावा, कुछ और मिलने की आशा।

(६) व्यवसाय में सफलता का निश्चय।

(७) मज़दूरों की संख्या।

(८) मज़दूरों का संगठन।

अब हम इन कारणों में से एक-एक पर विचार करते हैं। याद रहे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन कारणों में दो या अधिक का प्रभाव एक-साथ इकट्ठा भी पड़ जाता है।

१—जिस व्यवसाय को लोग अच्छा समझते हैं, जिसके करने से समाज में प्रतिष्ठा होती है, उसके करनेवाले बहुत मिल जाते हैं! इसलिए उन्हें कम वेतन मिलता है। कुछ आदमी सरकारी दफ्तरों की नौकरी इस विचार से अच्छी समझते हैं कि लोग उन्हें 'बाबूजी' कहा करें, और वे कुर्सी पर बैठकर काम करनेवाले 'सभ्य पुरुषों' की गणना में आ सकें।* उन्हें वेतन कम मिलता है। इसके विपरीत, महाजनों या साहूकारों के यहाँ काम करने से, जनसाधारण में प्रतिष्ठा कम होने के कारण, उनके यहाँ लिखा-पढ़ी करनेवाले अधिक वेतन चाहते हैं।

[टट्टी साफ करना, नालियाँ धोना आदि कार्य बहुत घृणित एवं अप्रिय हैं। सिद्धान्त से ऐसे कार्य के लिए बहुत अधिक वेतन मिलना चाहिए। परन्तु इसमें भारतवर्ष का जाति-भेद बाधक है। समाज मेहतर आदि को पैतृक कार्य छोड़कर और काम नहीं करने देता। इसलिए उनकी दूसरे श्रमजीवियों से कोई प्रतियोगिता नहीं रहती, और

उन्हें कम वेतन पर ही संतोष करना पड़ता है।]

२—जिस काम की शिक्षा प्राप्त करने में कठिनाई अथवा खर्च अधिक होता है, उसे सीखनेवाले बहुत कम होते हैं। इसलिए उन कामों के करनेवाले अधिक वेतन पाते हैं। उदाहरण के लिए डाक्टरी, एंजिनियरी आदि का काम सीखने में कई-कई वर्ष लग जाते हैं, और रुपया भी बहुत खर्च होता है। किन्तु बहुत कम आदमियों की स्थिति ऐसी होती है कि इतने समय बे-रोजगार रहकर और इतना खर्च करके ऐसा काम सीख सकें। यही कारण है कि डाक्टर, एञ्जिनियर आदि का वेतन बहुत होता है।

३—कारखानों में बहुत से कारीगर ३०-३५ रु० मासिक पर काम करते हैं। परन्तु यदि कोई गृहस्थ उन्हें (या उनकी योग्यतावालों को) दो-चार दिन के लिए अपने यहाँ काम करने को रखे, तो वे उस अनुपात से वेतन लेना कदापि स्वीकार न करेंगे। सम्भव है, सवा या डेढ़ रुपया रोजाना मांगे। कारण स्पष्ट है। उन्हें निरन्तर ऐसा काम मिलने का निश्चय नहीं होता, इस विचार से वे अधिक वेतन लेते हैं।

४—डाकखाने, बैंक या खजाने आदि का काम ऐसा है, जिसमें विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती; हाँ, विश्वसनीयता आदि गुणों की बहुत जरूरत होती है, और ये गुण बहुत-कम लोगों में मिलते हैं। अतः इन कार्यों के करनेवालों में जैसी योग्यता चाहिए, वैसी ही योग्यता के अन्य कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा खजानची आदि को अधिक वेतन मिलता है।

५—देहातों की, अथवा शहरों की, पुरानी परिपाटी से चलनेवाली पाठशालाओं में अध्यापक अपेक्षाकृत कम वेतन पर कार्य करते हैं। कारण, उन्हें समय-समय पर विद्यार्थियों के यहाँ से "सीधा" (कुछ आटा, दाल, नमक और घी आदि) तथा मौसमी फल या अन्य पदार्थ मिलते रहते हैं। शहरों के, आधुनिक शैली के स्कूलों में मास्टरों को ऐसी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए ये अपेक्षाकृत अधिक

वेतन लेते हैं। पुलिस-विभाग के निम्न पदाधिकारियों (कांस्टेबल) आदि का वेतन प्रायः कम होता है, पर कुछ लोग सोचते हैं कि जन-साधारण का हमसे काम पड़ेगा, उन पर हमारा रोब-दाब रहेगा, और समय-समय पर 'ऊपर की आमदनी' (जो भेंट या रिश्वत का एक सुंदर नाम है) मिलने के अवसर आते रहेंगे। इसलिए वे बहुधा अन्य काम में ४०-५० रु० मासिक की जगह छोड़ कर पुलीस की ३०-३५ रु० की नौकरी स्वीकार कर लेते हैं।* कहावत प्रचलित है 'छः के चार करदे, पर नाम दरोगा धर दे।'

६—बहुत-से आदमी ३०-३५ रु० मासिक वेतन पर काम कर रहे हैं। ये लोग उद्योग करें, तो सम्भव है किसी व्यापार में लग कर अपनी आमदनी बहुत बढ़ा सकें। परन्तु इसका कोई भरोसा नहीं, यह जोखिम की बात है; व्यापार चले या न चले। इसलिए उसके बखेड़े में न पड़कर ये कम, परन्तु बँधे हुए निश्चित वेतन पर ही संतोष करते हैं।

७—मजदूरी की दर का देश की आबादी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लम्बे युद्ध या नये उपनिवेशों को छोड़कर साधारण मनुष्यों की संख्या जितनी अधिक होती है, मजदूरी की दर उतनी ही कम हो जाती है। इसलिए विविध देशों में समय-समय पर, जनसंख्या कम करने के उपाय किये जाते हैं। अविवाहित रहकर, बड़ी उमर में विवाह करके, जान-बूझकर संतान कम पैदा करके, अथवा कुछ आदमी विदेशों में भेजकर जनसंख्या की वृद्धि रोकी जाती है। शिक्षा, सभ्यता और सुख की वृद्धि से संतानोत्पत्ति कम होती है। भारतवर्ष की जनसंख्या के सम्बन्ध में विशेष विचार पहले किया जा चुका है।

८—मजदूरों के संगठन का भी उनके वेतन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रायः कारखाने वालों या अन्य मालिकों की यह इच्छा रहती है

* ईमानदारी से काम करनेवाले इतने वेतन से अपने परिवार का निर्वाह नहीं कर सकते; इसलिए बहुत से सज्जन ऐसी नौकरी पसन्द नहीं करते।

है कि वेतन कम-से-कम दिया जाय। मजदूरों को अपनी निर्धनता के कारण मालिक की दी हुई वेतन स्वीकार करनी होती है, अन्यथा उन्हें बेकारी और भूखे मरने की आशंका रहती है। परन्तु जब मजदूर अपना संगठन कर लेते हैं, संघ बना लेते हैं, तो वे अपने चन्दे आदि से ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि मालिक का विरोध कर सकें, और यदि बेकारी का प्रसंग आये तो उन्हें भूखा न रहना पड़े। मजदूरों का संगठन जितना प्रबल होता है, उतना ही वे मालिक पर अधिक प्रभाव डालने और अच्छा वेतन पाने में सफल होते हैं। भारतवर्ष के मजदूर-संघों के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

कृषि-श्रमियों की मजदूरी—अब हम भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमियों की मजदूरी के सम्बन्ध में विचार करते हैं। कृषि-श्रमियों के विषय में कुछ बातों का उल्लेख तीसरे अध्याय में हो चुका है, इन्हें मजदूरी अधिकतर जिन्स में मिलती है; और प्रायः फसल के दिनों में कुछ अच्छी मिलती है। परन्तु कुछ मजदूरों को तो उन दिनों में भी इतनी मजदूरी नहीं मिलती, जिससे वे अपना निर्वाह अच्छी तरह कर सकें। दूसरे दिनों में तो इनकी दशा बहुत ही खराब हो जाती है। बेकारी की हालत में उन्हें जो-भी काम मिल जाय, उसे करने को ये तैयार रहते हैं। इनमें से कुछ को पास की मिलों या कारखानों में साधारण श्रम का कार्य मिल जाता है; कुशल श्रम की आवश्यकता वाले कार्य करने की इनमें योग्यता नहीं होती। अस्तु, साल भर का कुल हिसाब लगाने पर इनकी औसत मजदूरी बहुत ही कम रहती है। इनकी मजदूरी बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि ग्राम-उद्योग-धंधों की वृद्धि की-जाय, जिससे ये लोग अवकाश के समय का, अपने घर पर रहते हुए भी समुचित उपयोग कर सकें, और कुछ और आय प्राप्त कर सकें।

खानों और कारखानों के श्रमजीवियों की मज़दूरी—भिन्न-भिन्न खानों तथा कारखानों में, और एक ही खान या कारखाने

संबंधी भिन्न-भिन्न कामों में मज़दूरी का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। हमारे अधिकतर श्रमी अकुशल होते हैं, उनसे इतना काम नहीं होता, जितना औद्योगिक देशों के कुशल श्रमी कर सकते हैं। फलस्वरूप इन्हें वेतन भी साधारण ही मिलता है; हाँ, कृषि-श्रमियों की तुलना में, नकदी के विचार से, इनकी मज़दूरी बहुत अधिक होती है! परन्तु शहर के रहनसहन तथा मकान-किराये आदि का खर्च भी बहुत अधिक होने से (एवं निम्न श्रेणी के वातावरण के कारण शराबखोरी आदि के व्यसन में फँस जाने से) उन्हें उतना लाभ नहीं होता। इन की मज़दूरी बढ़ाने के लिए इनकी कार्य-कुशलता का बढ़ाना बहुत आवश्यक है। इसके वास्ते इनके काम के घंटे कम करने के साथ, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि ये अपना कुछ समय व्यावहारिक तथा मानसिक और नैतिक ज्ञान बढ़ाने में लगा सकें।

कारीगरों या स्वतन्त्र श्रमियों की मज़दूरी—देश में अधिकतर लोगों की आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण यहाँ उनकी आवश्यकताएँ कम हैं। फिर उन आवश्यकताओं में से अधिकाँश की पूर्ति मशीनों से बने सस्ते माल से हो जाती है। इसलिए कारीगरी की वस्तुओं की माँग कम है। इससे कारीगरों की मज़दूरी कम होनेवाली ठहरी। फिर अनेक कारीगर भी ऐसी हीन अवस्था में हैं कि वे जल्दी-से जल्दी अपनी चीज़ तैयार करके उसके दाम उठाने की फिक्र में रहते हैं, इससे उनकी कार्य-कुशलता का यथेष्ट उपयोग तथा विकास नहीं हो पाता। देश की आर्थिक अवस्था में सुधार होने तक कारीगरों की मज़दूरी बढ़ने की विशेष आशा नहीं है। हाँ, राजा-महाराजाओं या रईसों का आश्रय मिले तो वर्त्तमान अवस्था में भी हमारे कारीगर अपनी दशा कुछ सुधार सकते हैं।

शिक्षितों का वेतन—यहाँ शिक्षित आदमियों को सरकारी नौकरी या दफ्तर आदि का काम अधिक पसन्द होता है, और इसका

क्षेत्र बहुत परिमित होने से नौकरी चाहनेवालों में बहुत प्रतियोगिता होती है। एक साधारण सी जगह खाली होने की सूचना निकलने पर उसके लिए सैकड़ों आदमी उम्मेदवार हो जाते हैं। ऐसी दशा में वेतन कम हो तो क्या आश्चर्य। कुछ सरकारी पद ऐसे हैं; जिनका वार्षिक वेतन कानून से निर्धारित और बहुत अधिक है, उदाहरण के लिए गवर्नर-जनरल २,५०,८००), कमांडरन-चीफ १,००,०००), गवर्नर ६६,०००) से १,२०,०००) तक, चीफ-कमिशनर ३६,०००) परन्तु इनमें से अधिकाँश की नियुक्तियाँ करने में जाति और रंग का विचार किया जाता है। सरकारी नौकरियों की संख्या प्रत्येक देश में परिमित ही रहा करती है, किन्तु स्वाधीन देशों में प्रत्येक नागरिक के लिए यथेष्ट योग्यता प्राप्त करने पर, उच्च-से-उच्च सरकारी पद प्राप्त करने का मार्ग खुला रहता है। अस्तु, भारतवर्ष में शिक्षितों का वेतन बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि देश स्वराज्य-भोगी हो, और शिक्षा का ढङ्ग इस तरह का हो कि शिक्षित व्यक्ति एकमात्र नौकरी के आसरे न रहकर विविध कार्य कर सकें।

घरेलू नौकरों का वेतन—घरों में नौकरी अधिकतर ऐसे आदमी करते हैं, जिन्होंने किसी विशेष कार्य करने की शिक्षा न पायी हो। इनमें से कुछ कार्य करनेवालों को, कहीं-कहीं उनकी योग्यता के अनुपात से अधिक भी मिलता है। बात यह है कि अभी तक यहाँ जाति-पाँति का भेदभाव बहुत है, घरों के काम के लिए नौकर रखते समय आदमी उनकी जाति का विचार विशेष रूप से करते हैं। उदाहरण के लिए भोजन बनाने के लिए हिन्दुओं में अधिकतर ब्राह्मण रसोइया रखने का चलन है; दूसरा आदमी कुछ कम वेतन पर भी रसोई बनाने को तैयार हो तो उसे न रखकर, ब्राह्मण को कुछ अधिक वेतन पर भी रखना पसन्द किया जाता है। इसी प्रकार झाड़ू-बुहारी करने या पानी भरने के लिए प्रायः कहार या अहीर आदि रखा जाता है; कोई हरिजन चाहे कम वेतन पर ही काम करना स्वीकार करे, उसे

अनेक घरों में इस काम के लिए नौकर नहीं रखा जायगा। अस्तु, अधिकांश घरेलू नौकरों की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है, और जैसा कि भारतीय श्रम के सम्बन्ध में बताया जा चुका है, कितने ही नौकरों का तो एक ही जगह काम करने से गुज़ारा नहीं हो सकता; वे दो-दो तीन-तीन जगह काम करके अपना निर्वाह करते हैं। उन थोड़े-से व्यक्तियों को छोड़कर, जिन्हें किसी रईस या सेठ-साहूकार के यहाँ नौकरी मिल जाती है, और जो समय-समय पर इनाम, उपहार, या कपड़ा आदि पाते रहते हैं, दूसरे घरेलू नौकरों की कुल वेतन बहुत कम ही है।

न्यूनतम मजदूरी—औद्योगिक देशों में मजदूरी का बाज़ार सुव्यवस्थित है। खासकर जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धन्धों में काम करनेवालों के संघ बन गये हैं, और निश्चित नियमों के अनुसार काम होता है, वहाँ एक धन्धे के मजदूर एक नियत वेतन से कम पर मिल ही नहीं सकते। कुछ देशों में तो कानून द्वारा यह तय हो गया है कि मजदूरों को इतनी मजदूरी अवश्य ही मिले। इसे न्यूनतम मजदूरी कहते हैं। कुछ समय हुआ 'दि ह्यूमन नीड्स आफ लेबर'—नामक एक अंग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उससे मालूम होता है कि इङ्गलैंड के राउंटी महाशय ने वहाँ, यार्क नगर में, नीचे लिखे नियमों के अनुसार मजदूरी निश्चित की थी—

(१) यह मान लिया गया कि प्रत्येक कुटुम्ब में प्रायः एक पुरुष, एक स्त्री और तीन बालक रहते हैं।

(२) मजदूरी इतनी चाहिए कि मजदूर उससे अपने कुटुम्ब का साधारण रीति से पालन-पोषण कर सकें। (राउंटी मशाशय स्त्री और बच्चों की मजदूरी को कुटुम्ब की आमदनी में शामिल नहीं करते। उनका कहना है कि कुटुम्ब के बढ़ने पर स्त्रियों को अपने घरों का काम करने के बाद, न तो समय ही रहता है, और न शक्ति ही। इसलिए उनसे मजदूरी नहीं करायी जानी चाहिए। और, लड़कों

से तो स्कूलों में पढ़ने के अलावा मजदूरी कराना बहुत ही अनुचित है।)

(३) मजदूरों का निवास-स्थान काफी हवादार होना चाहिए, और उसमें एक कुटुम्ब के लिए कम-से-कम एक बड़ा कमरा, तीन सोने के कमरे और एक रसोई-घर होना चाहिए।

(४) मजदूरों के अन्य आवश्यक खर्चों का भी विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार उन्होंने, सन् १९१४ ई० में, एक मजदूर की मजदूरी पाँच शिलिङ्ग या लगभग तीन रुपये नौ आने निश्चित की थी। इस समय रुपये की कीमत अपेक्षाकृत कम होने से अब उक्त हिसाब से मजदूरी की दर अवश्य ही अधिक होगी। भारतवर्ष में विशेषतया ग्रामों में रहन सहन का दर्जा निम्न श्रेणी का है। जैसा कि आगे बताया जायगा, यहाँ योरपीय महायुद्ध से पहले एक श्रमी के साधारण भोजन-वस्त्र का न्यूनतम खर्च तीन आने अनुमान किया गया था। उसके परिवार के (उसके आश्रित) अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं में कुछ भेद होते हुए भी उनके कुल परिमाण के मूल्य का अनुमान उतना ही अर्थात् तीन-तीन आने किया जा सकता है। इस प्रकार पाँच व्यक्तियों के कुटुम्बवाले आदमी के भोजन-वस्त्र के लिए पन्द्रह आने की आवश्यकता थी। यदि अन्य आवश्यकताओं के लिए केवल एक आना भी और रखा जाय, तो राउंटी महाशय के पूर्वोक्त नियमों के अनुसार ग्रामवासी भारतीय श्रमी की दैनिक मजदूरी योरपीय महायुद्ध से पहले कम से कम एक रुपया, और नगर-निवासी की इससे अधिक होनी चाहिए थी।

ग्राम-उद्योग-संघ और चर्खा-संघ का प्रयोग— मजदूरों के न्यूनतम वेतन की ओर, सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं की यहाँ प्रायः उपेक्षा ही रही है। ऐसे वातावरण में किसी का इस

दिशा में कदम बढ़ाना निस्सन्देह बड़े साहस का काम है। अखिल-भारत ग्राम-उद्योग-संघ और चर्खा-संघ ने सन् १६३५ ई० में म० गांधी की प्रेरणा से 'कम-से-कम मजदूरी' के प्रश्न का न केवल विचार करके, वरन् उसे व्यावहारिक स्वरूप देकर अपनी नीति में जो परिवर्तन किया, वह परिमाण में कम दिखायी देने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। ग्राम उद्योग-संघ के २२ अगस्त १६३५ के प्रस्ताव के ये शब्द बड़े मार्के के हैं कि 'संघ की संरक्षकता में तैयार होने या बेची जाने वाली तमाम चीजों के लिए हर कार्यकर्त्ता को आठ घन्टे के पूरे काम के हिसाब पर कम-से-कम इतनी मजदूरी तो मिलनी ही चाहिए जो उसकी शास्त्रीय (वैज्ञानिक) खुराक के लिए काफी हो।······जैसे-जैसे और जब परिस्थिति अनुकूल हो, तब मजदूरी की दर में उस दर्जे तक वृद्धि होती जानी चाहिए, जिससे कुटुम्ब के कार्यक्षम व्यक्तियों की कमाई से सारे कुटुम्ब की ठीक तरह से गुजर हो सके।' इसी आशय का प्रस्ताव अ० भा० चर्खा-संघ ने कत्तिनों के सम्बन्ध में स्वीकार किया।

इस योजना के अनुसार काम करने के लिए चार बातें आवश्यक थीं :—(१) यह मालूम करना कि साधारणतया किसी व्यक्ति के लिए कम-से-कम आवश्यक भोजन क्या है, और, भिन्न-भिन्न, प्रान्तों में उसकी कीमत क्या हैं। (वस्त्र की आवश्यकता का अनुमान करना कुछ कठिन नहीं होता)। (२) ऐसी व्यवस्था करना कि श्रमी अपनी मजदूरी के पैसों को फजूलखर्ची में न उड़ाये, वरन् उनसे आवश्यक भोजन, आरोग्य और शक्ति प्राप्त करें। (३) मजदूरी बढ़ने से खद्दर का दाम बढ़ना, और फल-स्वरूप खद्दर की माँग घटना स्वाभाविक था, इसका उपाय सोचना। (४) दूसरी और तीसरी बात के लिए, अन्यान्य उपायों में, कत्तिनों को खादी का व्यवहार करने के लिए तैयार करना।

पहले यह मालूम किया गया कि कताई-क्षेत्र में रहनेवाली जनता को किस प्रकार का भोजन अनुकूल होगा। फिर, इसके आधार पर योग्य डाक्टरों के साथ सलाह-मशवरा करके कम-से-कम आवश्यक भोजन का

परिमाण निश्चित किया गया। एक आदमी के साधारण आवश्यक दैनिक भोजन के मूल्य का, आहार की वस्तुओं के स्थानीय मूल्य के अनुसार हिसाब लगाया गया, और इसे आवश्यक खादी की कीमत के साथ जोड़कर, दैनिक आठ घंटे के संतोषजनक कार्य की कम-से-कम मज़दूरी निश्चित की गयी। यद्यपि देश के विविध हिस्सों के रहने वाले लोगों के आवश्यकीय आहारों में काफी अन्तर है तो भी यह मालूम हुआ कि उक्त आधार पर हिसाब करके कम-से-कम दैनिक मज़दूरी =) से ≡) तक होनी चाहिए। पहले कताई की रोजाना मज़दूरी छः-सात पैसे ही थी, और बहुतसी स्त्रियों को इतनी मज़दूरी का काम भी नहीं मिलता था। नये आधार पर गिने हुए कताई के नये दर पहले के दर से २५ से ७५ फीसदी तक बढ़ गये। यह बढ़ा हुआ दर जुदा-जुदा सूबों में जारी कर दिया गया।

कुछ केन्द्रों में प्रारंभ में कत्तिनों को खादी का व्यवहार करने के लिए राजी करना कठिन था। किन्तु मजदूरी की वृद्धि ने इन कठिनाइयो को दूर करने में मदद की और पर्याप्त संख्यक कात्तिनों ने नये कार्य-क्रम के अनुसार काम करने के लिए सम्मति दी। कताई की मजदूरी में वृद्धि होने के कारण प्रायः खादी का दाम दस फी-सैकड़ा बढ़ गया। परन्तु खादी-प्रेमी जनता ने खादी की बिक्री यथा सम्भव कम न होने दी। इसके अतिरिक्त कत्तिनों की मजदूरी बढ़ने से उनके काम की उन्नति हुई और खादी खरीदनेवाली जनता पर बहुत अधिक भार नहीं पड़ा। पिछले वर्षों में कताई की मज़दूरी प्रायः छः आने रोज रही है।

सरकार और न्यूनतम मजदूरी—पाँचवें अध्याय में यह बताया जा चुका है कि सन् १९३५ के कारखाना-कानून के अनुसार बारहमासी कारखानों में काम करने का अधिक-से-अधिक ५४ घंटे का सप्ताह, और मौसमी कारखानों में काम करने का अधिक-से-अधिक ६० घंटे का सप्ताह नियत किया गया था। अब (१९४६ में) सरकार ने क्रमशः

४८ और ५४ घंटे का सप्ताह नियत किया है। सरकार ने न्यूनतम मजदूरी की भी योजना बनायी है, उसके अनुसार हर एक स्थान में जुदा-जुदा धंधों के लिए अलग-अलग न्यूनतम मजदूरी, नियत होगी। यह बात 'न्यूनतम मज़दूरी' के सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि न्यूनतम मजदूरी उतनी मजदूरी होती है, जिससे निम्न श्रेणी के लोगों का निर्वाह हो सकै। यह जुदा-जुदा स्थानों में तो अलग-अलग हो सकती है, पर एक ही स्थान में जुदा-जुदा धंधों के लिए अलग-अलग नहीं होनी चाहिए।

वेतन सम्बंधी समस्या—किसी प्रकार का श्रम करनेवाले को कितना वेतन मिले, भिन्न-भिन्न श्रमियों के वेतन में क्या अनुपात रहे, यह समस्या बहुत जटिल है, और इस पर प्रायः बहुत कम विचार किया जाता है। यहाँ भारतवर्ष में वायसराय को मासिक वेतन बीस हजार रुपये से अधिक मिमता है (भत्ते और मार्ग-व्यय आदि की रकमें अलग रहीं); उससे नीचे उतर कर भिन्न-भिन्न पदवालों को क्रमशः कम वेतन मिलता है, यहाँ तक कि अनेक निम्न कर्मचारियों को पन्द्रह-बीस रुपये महीने में सतोष करना पड़ता है। इस प्रकार यहाँ एक कर्मचारी दूसरे कर्मचारी की अपेक्षा ग्यारह बारह सौ गुने से अधिक वेतन पाता है। अन्य देशों में निम्न पदाधिकारियों का वेतन इतना कम, और उच्च पदाधिकारियों का वेतन इतना अधिक, नहीं होता।

अच्छा, शासन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र की बात सोचें। मिल का मेनेजर दो-दो, तीन तीन हज़ार रुपये मासिक वेतन क्यों पाता है, जब कि वहाँ ही दिन भर सख्त मेहनत करनेवाले अनेक मजदूरों को बीस-बाईस रुपये महीना, या इस से भी कम मिलता है। यह ठीक है कि मेनेजर की योग्यतावाले व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है, इस योग्यता को प्राप्त करने में कई वर्ष का समय और हजारों रुपये की रकम खर्च होती है; इसके विपरीत, मजदूर तो अनेक मिल सकते हैं, यहाँ तक कि कितने ही मजदूरों को कुछ भी काम नहीं मिल पाता।

इसलिए, माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार मेनेजर की वेतन बहुत अधिक, और मजदूर की बहुत-कम होती है। किन्तु क्या वेतन की इतनी विषमता उचित है ? क्या वेतन में मनुष्यों की आवश्यकताओं का कुछ विचार न रहे ? और, क्या दो व्यक्तियों की, भोजन-वस्त्र आदि की मूल अर्थात् प्राकृतिक आवश्यकताओं में इतना अन्तर होता है ? निपुणतादायक पदार्थों तथा कृत्रिम या सामाजिक आवश्यकताओं का भी विचार करें तो भी वेतन में इतना अंतर न होना चाहिए।

वेतन का आदर्श—भिन्न-भिन्न श्रमियों के वेतन का आधार क्या हो ? आर्थिक जगत में माँग और पूर्ति का नियम चल रहा है। क्या वह नीति-युक्त है ? हमारी आदत ऐसी पड़ गयी है कि जिस बात को नित्य होते देखते हैं, वह हमें कुछ अनुचित नहीं जान पड़ती। हम कह देते हैं कि श्रमी को काम करने की स्वतंत्रता है, यदि उसे अपना वेतन कम जचता है तो वह काम छोड़ सकता है। इस कथन में सत्यता है, पर निष्ठुरता भी कम नहीं। उपर्युक्त श्रमी अवश्य ही अपना कार्य छोड़ने में स्वतंत्र है, पर वह अपनी उदर-पूर्ति की बात से, अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता से, किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? अगर एक बेकार और भूखे मजदूर को कोई पैसेवाला यह कहता है कि तू दिन भर काम कर, तुझे दस पैसे दिये जायँगे, तो श्रमी यह जानते हुए भी कि यह वेतन उसके निर्वाह के लिए नितांत कम है, उससे कैसे इनकार कर सकता है ! वह सोचता है, कि कुछ न मिलने से तो जो-कुछ मिल जाय, वही अच्छा है। इस प्रकार यदि वह लाचारी से दस पैसे स्वीकार करता है तो क्या उसका यह वेतन उचित है ? क्या वेतन-सम्बन्धी वर्त्तमान विषमता ही आधुनिक अशांति, असंतोष और समाजवाद आंदोलन का एक मुख्य कारण नहीं है ?

पाठकों के विचार के लिए वेतन सम्बन्धी आदर्श के विषय में हम

कुछ बातें नीचे देते हैं। ये बातें तुरन्त ही पूर्ण रूप से अमल में आनी कठिन हैं, तथापि इन्हें आदर्श मानकर इस दिशा में क्रमशः कदम बढ़ाया जाना हम उचित और आवश्यक समझते हैं।

१—जो व्यक्ति दिन भर में अधिक-से-अधिक आठ घन्टे * और सप्ताह में छः दिन * ईमानदारी से परिश्रम-पूर्वक कोई कार्य करे, उसे इतना वेतन दिया जाना चाहिए जिससे उसका तथा उसके आश्रित (काम न कर सकनेवाले) व्यक्तियों का साधारणतया निर्वाह हो सके। [यह वेतन नकदी में कितना हो, इसका विचार स्थानीय परिस्थिति, बाजार-भाव आदि के अनुसार होना चाहिए।]

२—कार्य करने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को, उसकी क्षमता के अनुसार, काम दिये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए; जिसे काम न मिल सके, उसके निर्वाह की व्यवस्था राज्य की ओर से रहनी चाहिए।

३—समाज में जिस-जिस कुशल श्रम की आवश्यकता होती है, उनके कम-से-कम वर्ग बना दिये जाने चाहिएँ। प्रत्येक वर्ग में निर्धारित समय काम करनेवाले का वेतन समान होना चाहिए। नीचे से नीचे और ऊंचे से ऊंचे वर्ग के पदाधिकारी के वेतन में यथा-संभव विषमता कम करने का प्रयत्न किया जाय। किसी भी दशा में उनके वेतन में एक और दस से अधिक का अनुपात न हो। [महायुद्ध से पहले कांग्रेस का प्रस्ताव था कि साधारण तौर पर किसी पदाधिकारी को मासिक वेतन ५००) अर्थात् वार्षिक ६०००) रु० से अधिक न होना चाहिए।]

४—जिन बालक-बालिकाओं के संरक्षक समर्थ या जीवित न हों उनकी शिक्षा-दीक्षा को व्यवस्था राज्य द्वारा होनी चाहिए।

---

* अनेक देशों में श्रमियों के काम करने के घंटों और दिनों की औसत इससे कम है, अथवा कम करने का आंदोलन चल रहा है। हम भारतवर्ष में अभी अधिकांश जनता के विचार से, इसे ही उचित समझते हैं।

५—देश में कोई भी पद किसी रंग, जाति या धर्म विशेष के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित न होना चाहिए। प्रत्येक पद प्राप्त करने का मार्ग प्रत्येक नागरिक के लिए खुला रहे।

६—निम्न श्रेणी के श्रमियों को, विशेषतया जिनके विषय में यह आशंका हो कि वे अपने जीवन-निर्वाह की वस्तुओं को खरीदने में कमी करके भी वेतन का काफी भाग मादक द्रव्य आदि विलासिता की वस्तुओं में खर्च कर देंगे, उन्हें वेतन का निर्धारित भाग जिन्स में, अर्थात् उन वस्तुओं में दिया जाय, जो उनके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हों।

युद्ध और वेतन—युद्ध-काल में युद्ध-सामग्री तैयार करने की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है; शस्त्रास्त्र, तोप बंदूक, हवाई जहाज, टैंक, टारपीडो, जहाज, रेल, मोटर, सैनिकों की वर्दी, डेरे, थैले आदि अनेक चीजें चाहिएँ। इनके बनाने के लिए कारखानों का उत्पादन बढ़ाया जाता है, या नये कारखाने खोले जाते हैं। इनमें यथेष्ट मजदूरों को आकर्षित करने के लिए उन्हें अच्छा वेतन दिया जाता है। जो आदमी युद्ध सम्बन्धी उद्योगों में भाग लेते हैं, उनमें से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो पहले बेकार थे, उन्हें अब रोजगार मिल जाता है। इनके अतिरिक्त, बहुत-से आदमी दूसरे धन्धों को छोड़ कर युद्ध सम्बन्धी कारखानों में आ जाते हैं। जिन धन्धों के आदमी काम छोड़ कर यहाँ आते हैं, उनमें नये आदमियों की माँग बढ़ती है। इस प्रकार, विविध धन्धों में श्रमजीवियों की माँग में, और उसके साथ ही वेतन में वृद्धि होती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, युद्ध के फल-स्वरूप पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है। बढ़ी हुई कीमतों का समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के आदमियों पर कैसा-कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका विचार पहले किया जा चुका है। बहुधा लोगों की वेतन उस अनुपात

से कम बढ़ती है, जिस अनुपात से पदार्थों की कीमत बढ़ा करती है। इससे सर्वसाधारण जनता का कष्ट बढ़ जाता है। प्रायः प्रत्येक दीर्घ-कालीन युद्ध के कुछ समय आगे-पीछे मजदूरों के असंतोष की सूचना देनेवाली घटनाएँ अनिवार्य रूप से आती हैं।



चौबीसवाँ अध्याय

सूद

सूद का व्यवहार—पूँजी का व्यवहार करने-देने के बदले में पूँजीवाले को द्रव्य आदि दिया जाता है, उसे सूद या ब्याज कहते हैं। कुछ आदमी अपने उत्पन्न धन में से सब खर्च न कर, यथा-शक्ति कुछ जमा करते जाते हैं। इस संचित धन से वे धनोत्पादन का कार्य, अथवा भावी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबंध करते हैं। असमर्थता, अज्ञान या अराजकता आदि की दशा में बहुधा आदमी अपना धन जमीन में गाड़कर रखते हैं। परंतु जब ऐसी अवस्था न हो, और पूँजीवाला आदमी व्यापार-व्यवसाय की जोखिम भी न उठाना चाहे, तो वह अपनी पूँजी दूसरे लोगों को व्यवहार करने के लिए दे सकता है। ऐसा करने में उसे अपनी आवश्यकताओं या इच्छाओं की तत्कालीन पूर्ति से मिलनेवाले सुख का त्याग करना पड़ता है। इसके प्रतिफल-स्वरूप उसे पूँजी का सूद मिलता है।

सूद पर रुपया उधार देना साधारण तौर उतना लाभदायक नहीं होता, जितना उसे व्यापार-व्यवसाय में लगाना। परंतु यह इससे तो अच्छा ही है कि वह व्यर्थ पड़ा रहने दिया जाय। सूद पर रुपया देने-वाला दूसरों की धन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे उसका धन (सूद द्वारा) बढ़ता है, और जिन्हें वह उधार देता है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

सूद के दो भेद—अर्थशास्त्र की दृष्टि से व्याज के दो भेद हैं—कुल सूद, और वास्तविक सूद। कुल सूद में असली व्याज के अतिरिक्त (क) पूँजीवाले के जोखिम उठाने का प्रतिफल, (ख) ऋण की व्यवस्था करने का खर्च और (ग) पूँजीपति की असुविधाओं का प्रतिफल मिला होता है। 'कुल सूद' को व्यावहारिक भाषा में प्रायः 'सूद' ही कहते हैं। इसकी दर उद्योग-धंधों के भेद के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

ऋण-दाता—प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में सूद का विरोध किया गया है। इसका कारण यह मालूम होता है कि बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के चलने के पहले, बहुत दुःखी और लाचार आदमी ही ऋण लेते थे, और उनसे सूद लेना निर्दयता या बेरहमी का कार्य समझा जाता था। भारतवर्ष में सूद का एकदम निषेध न करके सूद की दर नियमित करने की ओर ध्यान दिया गया है। गिरवी आदि से सुरक्षित ऋण पर मनुजी ने प्रतिमास ऋण के अस्सीवें भाग, अर्थात् १५ फी सदी सालाना सूद की अनुमति दी है, और अरक्षित ऋण के लिए दो फी-सदी माहवार भी अनुचित नहीं ठहराया है। सूद की दर, ऋण लेनेवाले की जाति पर भी निर्भर रहती थी। नीच जातिवालों से सूद अधिक लिया जाता था।* कुछ शास्त्रकारों ने सूद की रकम बढ़ाने की सीमा यह नियत कर दी है कि वह मूलधन के दुगने तक हो सके, उससे अधिक नहीं। सूदखोरी अर्थात् अत्यन्त अधिक व्याज का, धार्मिक दृष्टि से, यहाँ बहुत निषेध है। मुसलमानों के यहाँ तो सूद की बिलकुल मनाही ही है। परन्तु अब आर्थिक युग है। कितने ही अच्छी स्थिति के मुसलमान भी व्याज की कमाई से परहेज़

---

* इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन लोगों से रुपया वसूल होना अधिक कठिन होता है।

नहीं करते ।

अस्तु, अब हम भिन्न-भिन्न ऋण-दाताओं के विषय में विचार करते हैं। बैंकों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ ग्रामों में बैंकों की व्यवस्था होने की बड़ी आवश्यकता है, जिससे वहाँ वालों को कम सूद पर रुपया उधार मिल सके। यदि मिश्रित पूँजी की कम्पनियों का ऐसा संगठन हो जाय कि वे गाँववालों के जेवर आदि गिरवी रखकर उन्हें महाजनों की तरह रुपया उधार दे सकें तो बहुत उत्तम हो।

देहातों में बनिये या महाजन खेती के लिए पूँजी उधार देते हैं। कभी-कभी अनुत्पादक कार्य या फजूलखर्ची के वास्ते भी उनसे ऋण ले लिया जाता है। महाजन के खिलाफ बहुत-सी बातें कही जाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि उसकी कार्य-प्रणाली में कई दोष हैं, पर वह सर्वथा गुणहीन भी नहीं है। उसमें गुण-दोष दोनों का मिश्रण है। प्राचीन काल में महाजन ने ग्रामों के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कृषि के धन्धे को समय-समय पर पूँजी की आवश्यकता होती है, और महाजन ने इसकी विविध प्रकार से पूर्ति की है। वह निरा निर्दय भी नहीं होता था। पहले वह किसान की सुख-समृद्धि में ही अपना हित समझता था। पर क्रमशः स्थिति बदलती गयी। सरकारी लगान जिन्स की जगह नकदी में लिया जाने लगा। विगत शताब्दी की राजनैतिक उथल-पुथल में लगान का परिमाण बहुत बढ़ गया, और उसे वसूल करने में सहृदयता का भाव कम रह गया। अन्य सरकारी कर भी बढ़ गये। उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। आर्थिक आवश्यकताओं और पूँजीवाद के भावों ने महाजन को लोभी बना दिया। इसके अलावा मालगुजारी और लगान चुकाने की जिम्मेवरी सब से अधिक मानी जाने से, और इसके बाद सहकारी समितियों के ऋण को मुख्य स्थान दिये जाने के कारण, महाजन को अपना रुपया डूबने का भय बना रहता है। इसलिए भी वह सूद अधिक लेने लगा, तथा हिसाब गढ़ने और झूठा जमा-खर्च करने, आदि के और भी बुरे-भले

उपायों से अपनी आय बढ़ाने कगा।

शहरों में सेठ-साहूकार जायदाद रहन करके अथवा जेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। ये लोग बहुधा अपने पास रहन रखी हुई जमीन को मोल लेकर जमींदार बन गये हैं। ये कभी-कभी व्यापारियों और दस्तकारों को भी रुपया उधार देते है। बहुत से जमींदार, महन्त आदि भी सूद की आमदनी पैदा करते हैं।

ऋणदाताओं में काबुली पठान का भी जिक्र करना ज़रूरी है। यह सौदागरी के साथ सूदखोरी करता है। उसके शिकार अधिकतर शहरों के मज़दूर तथा हरिजन आदि होते हैं। इनकी दशा प्रायः ऐसी रहती है कि महीना पूरा होने से पहले ही, इनका इतना खर्च हो चुकता है कि वेतन मिलने पर वह जहाँ-तहाँ ठिकाने लग जाता है। फिर आगे के लिए इन्हें रुपये की जरूरत होती है तो प्राय; अन्य कोई व्यवस्था न होने के कारण इनकी नजर काबुली पठान पर ही जाती है। वह इन्हें एक आने, दो आने, या इस से भी अधिक फी-रुपया प्रति मास सूद पर ऋण देता है, और अनेक बार सूद की रकम को मूलधन के साथ मिलाकर उसका पक्का कागज़ लिखा लेता है। उसकी रकम खूब बढ़ती रहती है। काबुली पठानों का लोगों पर इतना आतंक रहता है कि वे उसका रुपया जैसे-भी-बने चुकाते रहते हैं। फिर, पठान कानूनी कारंवाई से अधिक अपने डंडे का भरोसा रखता है; मार-पीट आदि क्रूर उपाय काम में लाने में उसे कुछ संकोच नहीं होता। काबुली पठानों का संगठन भी बहुत व्यापक है, और ये जनता के दीन-हीन लोगों का भयंकर शोषण करते हैं। इनका नियंत्रण किये जाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

सरकार अकाल के समय बहुधा किसानों को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए, सन् १८८३ के एक्ट के अनुसार, 'तकावी' देती है, और इस रुपये को अच्छी फसल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किन्तु राजकर्मचारियों का

समुचित व्यवहार न होने के कारण इस तरीके में विशेष सफलता नहीं हो रही है। फिर रकम भी, कृषकों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी जाती है।

सूद की दर—सूद की दर 'माँग-और-पूर्ति' के नियमानुसार निश्चित होती है। किसी स्थान में एक व्यवसाय के लिए आवश्यक पूँजी की दर वही होगी, जिस पर पूँजीपति उतना रुपया उधार दे सकें, जितने की माँग है। किसी खास समय में भिन्न-भिन्न व्यवसायों की पूँजियों के कूल सूद की दर, सुरक्षा और जमानत आदि पर निर्भर रहती है। बहुत-से आदमी जमीन, मकान या जेवर आदि गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं। इसमें रुपया डूबने का डर नहीं रहता, इसलिए कुछ कम सूद पर ही संतोष कर लिया जाता है। दस्ती दस्तावेज लिखकर दिये हुए ऋण का रुपया वसूल होने में खतरा जान पड़ता है। खतरा जितना अधिक होगा, उतना ही सूद अधिक लिया जायगा। सुरक्षा या हिफाजत के विचार से कुछ आदमी अपना रुपया सरकारी अथवा सार्वजनिक संस्थाओं को उधार दे देते हैं, अथवा डाकखाने के सेविंग बैंकों में जमा कर देते हैं। इनमें सूद कम मिलता है।

देश में पूँजी अधिक होने पर सूद की दर घटती है, और कम होने पर दर बढ़ती है। अमरीका में इतना धन है कि वहाँ विविध व्यवसायों में खर्च होने पर भी बच रहता है, और दूसरे देशवाले ऐसे व्यवसायी उसे सूद पर ले लेते हैं, जिन्हें अपने देश में अधिक सूद देना पड़ता है। इँगलैंड में भी, पूँजी होने के कारण, सूद की दर कम है। इसके विपरीत भारतवर्ष में सूद की दर, पूँजी बहुत कम होने के कारण, अधिक है। साधारण उत्पादक के पास अपनी निजी पूँजी नहीं होती। उसे सूद की भयंकर दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है। अनेक स्थानों में अधन्नी रुपये (प्रतिमास) का साधारण नियम है। यह सूद ३७॥) सैकड़ा सालाना पड़ता है। बहुत-से महाजन दस के

व्यवहार करते हैं। वे दस रुपये उधार देकर प्रतिमास एक-एक रुपये की किस्त तय करते हैं, जिसे वे साल-भर तक लेते रहते हैं। यदि किसी महीने में किस्त न चुकायी जाय, तो उसका सूद अलग लेते है। यह सूद भी बहुत अधिक बैठता है। सूद-दर-सूद (चक्रवृद्धि व्याज) से से तो कभी-कभी, दो-चार साल में ही सूद की रकम असल के बराबर होकर मूलधन को दुगना कर देती है। इस दशा में किसी ऋणी का ऋण-मुक्त होना कभी-कभी असंभव ही हो जाता है। महाजनों का रुपया मारा जाता हैं. वे नालिश करते फिरते हैं। इससे ऋणी की साख जाती है, पर महाजन को भी विशेष धन प्राप्त नहीं होता। खेद है, महाजन लोग लोभ-वश अधिक सूद लेने की आदत नहीं छोड़ते। उधर, ऋणी किसानों या व्यवसाइयों की साख गिर जाने के कारण, सूद की दर गिरने में बाधा होती है।

जान-माल की रक्षा, शिक्षा-प्रचार और महाजनी, तथा बैंकों के विस्तार के कारण यहाँ, गत कुछ वर्षों से, सूद की दर साधारणतः धीरे-धीरे गिरने लगी है। सूद की दर घटने का एक कारण यह है कि यहाँ ब्रिटिश पूँजी की मात्रा बढ़ रही है। सहकारी-साख समितियों की स्थापना से भी इस कार्य में सहायता मिली है। तथापि अन्य अनेक औद्योगिक देशों की अपेक्षा यहाँ सूद की दर अधिक ही है। भिन्न-भिन्न स्थानों में, तथा पृथक्-पृथक् परिस्थितियों में, यहाँ किसानों और मज़दूरों से प्रायः ६० फी सदी से लेकर ३०० फी सदी तक वार्षिक सूद लिया जाता है।

युद्ध-काल में सूद की दर—पहले कहा जा चुका है कि युद्ध-काल में सैनिक सामग्री आदि बनाने का काम बढ़ता है, इसके लिए पूँजी की आवश्यकता बढ़ जाती है। इससे सूद की दर चढ़ने की सम्भावना रहती है। फिर, युद्ध के समय पदार्थों की कीमत बढ़ने से लोगों का खर्च बढ़ जाता है, अनेक आदमियों का अपनी आमदनी से

गुजारा नहीं हो सकता, उन्हें ऋण लेने की आवश्यकता होती है, उधर ऋण देनेवाले साहूकार आदि ऐसे समय में रुपया उधार देने में जोखम अधिक समझते हैं, इसलिए वे सूद अधिक लेते हैं।

युद्ध में ग्रस्त राष्ट्रों का सैनिक व्यय बढ़ जाने से उन्हें कभी-कभी अन्य देशों से भी रुपया उधार लेने की बहुत आवश्यकता हो जाती है। शत्रु-पक्ष के देशों से ऋण मिलता नहीं है, इससे ऋण मिलने का क्षेत्र परिमित हो जाता है; रुपया पहले के समान गतिशील नहीं होता। इसलिए कभी-कभी सरकारों को भी ऋण अधिक सूद पर मिलता है।

कर्जदारी या ऋणग्रस्तता—भारतवासियोंकी ऋण-ग्रस्तता पर विचार करने से पहले यह जान लेने ठीक होगा कि ऋण-ग्रस्तता हमेशा बुरी ही नहीं होती। एक समय ऐसा अवश्य था कि जब ऋण लेना बहुत बुरा समझा जाता था; कारण उस समय वे ही आदमी कर्ज लेते थे, जो आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन अवस्था में होते थे। अब वह बात नहीं। अब तो अच्छे-अच्छे धनवान और पूँजीपति ऋण लेते है। अनेक संस्थाएँ, कम्पनियाँ और सरकार तक ऋण लेती है; इसमें उनकी प्रतिष्ठा नहीं जाती। प्राचीन काल और आधुनिक काल के ऋण-सम्बन्धी इस भेद का रहस्य यह है कि अब आदमी अपने जीवन-निर्वाह के अलावा धन कमाने के लिए भी ऋण लेते हैं। व्यवसाय-कुशल आदमी अपनी ही पूँजी से संतोष न कर व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में, अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं से रुपया उधार लेते हैं, कल-कारखानों की स्थापना करते हैं, जिनसे कुछ समय बाद वे अपना सब ऋण चुका देते हैं, तथा धन कमाते भी हैं। इसी प्रकार अनेक देशों की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में औद्योगिक उन्नति करने के लिए करोड़ों रुपये का ऋण लेने में संकोच नहीं करतीं। यह रुपया धीरे-धीरे चुकाया जाता है, और कुछ दशाओं में इसके लिए कई-कई दशाब्दियों तक सूद देते रहना लाभदायक ही समझा जाता

है। इस प्रकार ऋण लेना न सदैव अच्छा ही है, और न सदैव बुरा ही। यह तो बहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर है।

यदि भारतीय कृषकों आदि की कर्जदारी को बुरा समझा जाता है तो इसका कारण यह है कि किसान उस ऋण से अपनी आर्थिक उन्नति नहीं करता; ऋण के सूद से उसका जन्म-भर छुटकारा नहीं होता; वह उसका ख़ून सुखाता रहता है। अनेक किसान तथा अन्य व्यक्ति ऋण के कारण दासता का जीवन बिताते हैं। प्रो० राधाकमल मुकर्जी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि कुछ किसान पेशगी रुपया लेकर ज़मींदारों से समझौता कर लेते हैं, और जन्म-भर उनके दास बने रहते हैं। यों तो ऐसे दास बम्बई, मदरास आदि में भी हैं, पर बिहार और छोटा-नागपुर में इनकी हालत बहुत बुरी है, वे अपनी वेतन के लिए कोई शर्त पेश नहीं कर सकते; उन्हें काम मिलने की कोई गारंटी नहीं दी जाती, और उन पर 'नीग्रो' लोगों के जैसा कड़ा निरीक्षण रहता है। वे किसी दूसरे जमींदार के यहाँ शरण नहीं ले सकते; और, कहीं-कहीं तो उनकी खरीद-फ़रोख्त तक होती है। यह बात उन लोगों के सम्बंध में और भी अधिक लागू होती है, जिनकी अपनी कुछ भी जमीन नहीं होती, जो आजीविका के साधनों से सर्वथा वंचित तथा दूसरों के ही आसरे रहते हैं।

किसानों का कर्ज-भार—भारतवर्ष में जनता का अधिकांश भाग किसानों का है, अतः यहाँ की ऋण-समस्या का विचार करने के लिए पहले उनकी ही कर्जदारी का विचार करते हैं। सन् १६२८ ई० में शाही कृषि-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'ये लोग कर्ज में पैदा होते हैं, कर्ज में पलते हैं, और कर्ज़ में जीवन व्यतीत कर देते हैं, और आखिर में उसे अपने वंशजों के लिए विरासत में छोड़ जाते हैं।' कमीशन ने यह भी कहा था कि यह स्थिति देश की राज-नैतिक व्यवस्था के लिए अच्छी नहीं है। यह होते हुए भी किसानों की

कर्जदारी दूर करने के लिए कुछ गंभीर प्रयत्न नहीं किया गया।

सन् १९३० ई० तक तो यही मालूम न था कि भारतीय किसानों पर कुल ऋण-भार कितना है। उक्त वर्ष केन्द्रीय बैंकिंग-जाँच-कमेटी ने जाँच आरम्भ की, उसके साथ सहयोग करनेवाली प्रान्तीय कमेटियों ने अपने-अपने प्रांत के कर्ज के जो आंकड़े उपस्थित किये, वे अपूर्ण हैं; और अनेक दशाओं में केवल अनुमान के आधार पर होने के कारण यथेष्ट विश्वसनीय भी नहीं है। परन्तु अभी तक उससे अच्छा कोई अन्य हिसाब सामने नहीं आया। इसलिए उसीसे काम चलाया जाता है। उसके अनुसार ब्रिटिश भारत के किसानों का ऋण लगभग ९०० करोड़ रुपये होने का अनुमान किया गया था। सन् १९३१ ई० के बाद, फसल की कीमत में कमी हो जाने के कारण यह ऋण बहुत बढ़ा है। सन् १९३९-४० से खेती की पैदावार की कीमत बढ़ी है। अब उपर्युक्त ऋण १८,००० करोड़ रुपये होने का अनुमान है, अर्थात् प्रति व्यक्ति ७५ रुपये से भी अधिक।

अब देशी राज्यों की बात लीजिए। इनके अंक वैसे अपूर्ण रूप में भी प्राप्त नहीं हैं, जैसे ब्रिटिश-भारत के हैं। हाँ, यह सर्व-विदित है कि देशी राज्यों के गाँववालों की दशा ब्रिटिश-भारतवालों की अपेक्षा अच्छी कदापि नहीं है। यदि उनके ग्राम-ऋण को ब्रिटिश-भारत के ऋण का एक तिहाई मान लें तो भारतवर्ष का कुल ग्राम-ऋण चौबीस सौ करोड़ रुपये से अधिक होगा।

प्रांतीय कमेटियों ने यह मालूम करने का भी प्रयत्न किया था कि फी-सैकड़ा कितने व्यक्ति कर्जदार नहीं हैं। भिन्न-भिन्न जिलों के ऋण-मुक्त किसानों की औसत-संख्या भिन्न-भिन्न होने से यह नहीं ज्ञात होता कि वास्तव में कुल मिलाकर कितने किसान ऋण-भार से मुक्त हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार ७५ प्रतिशत किसान ऋण-ग्रस्त हैं।

कर्जदारी के कारण और उनका निवारण—अब हम यह बतलाते हैं कि कर्जदारी के मुख्य कारण क्या है; और उन्हें

किस प्रकार दूर किया जा सकता है। ऋण का पहला कारण यह है कि देश में उद्योग-धन्धों की कमी है, और जनसंख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है, इस प्रकार खेती के काम में अधिकाधिक आदमी लगते जा रहे हैं। एक-एक आदमी के हिस्से में भूमि बहुत कम परिमाण में आती है, उसमें खेती करने से औसत-लागत-खर्च बहुत बैठता है; आय कम होती है। आवश्यकता है कि देश में उद्योग-धन्धों की उन्नति की जाय और जनसंख्या भी यथा-संभव कम रहे। इन दोनों बातों के संबंध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

ऋण का दूसरा कारण यह है कि पंचायतों की पुरानी प्रथा न रहने से उनका ऋण-सम्बन्धी मामलों में नियंत्रण नहीं रहा। पहले पंचायतें यह जानती थीं कि ऋण लेनेवाले और देनेवाले की स्थिति कैसी है, उनके दबाव के कारण ऋण आवश्यक कार्य के लिए ही लिया जाता था, और सूद की दर पर प्रतिबन्ध रहता था। उस समय ऋण-सम्बन्धी मामलों का निपटारा अच्छी तरह, बिना खर्च के ही हो जाता था। अब अदालतों की कार्रवाई बहुत जटिल और खर्चीली है। महाजनों में पहले जैसी सहृदयता और सद्भावना नहीं है, और उन पर ऋण के दर सम्बन्धी नियंत्रण भी नहीं रहा है। इधर गत वर्षों में ऋण-ग्रस्तों की रक्षा के लिए कानून बने हैं, उनके सम्बन्ध में, आगे लिखा जायगा। इन कानूनों से किसानों को ऋण मिलना कठिन हो गया है। जब तक किसानों को रुपया उधार देने की कोई दूसरी समुचित व्यवस्था न की जाय, इन कानूनों से विशेष लाभ नहीं हो सकता। 'तकावी' सहकारी साख-समितियों और भूमि-बंधक बैंकों से किसानों को कुछ सहायता मिलती है,* पर उनका कार्य 'समुद्र में बून्द' की तरह है।

ऋण का तीसरा कारण किसानों की साख और हैसियत कम होना, तथा उनसे व्याज अधिक लिया जाना है। यहाँ किसानों को ज़रूरत

*'तकावी' के सम्बन्ध में इसी अध्याय में, और सहकारी-साख-समितियों तथा भूमि-बन्धक बैंकों के विषय में 'बैंक'-शीर्षक अध्याय में लिखा जा चुका है।

के समय कम दर पर, यथेष्ट मात्रा में, और समुचित अवधि के लिए रुपया उधार देने की व्यवस्था नहीं। दूसरे देशों में सरकार किसानों को बिना व्याज, अथवा नाममात्र के व्याज पर, बड़ी-बड़ी रकमें पचास-साठ साल तक के लिए उधार देती हैं। क्या भारतवर्ष में भी कभी अधिकारी ऐसी व्यवस्था करने की बात सोचते हैं?

ऋण का चौथा कारण किसानों का, अनुत्पादक कार्यों के लिए रुपया उधार लेना बताया जाता है; परंतु यह कहाँ तक ठीक है? प्रायः फसल तैयार होते ही, और कुछ दशाओं में उससे भी पहले, किसान पर महाजन और जमींदार या सरकार का भार लदा रहता है, और फसल में से उसके निर्वाह के वास्ते कुछ बचने नहीं पाता। इस प्रकार उसे अन्न या रुपये के रूप में ऋण लेना पड़ता है। यह ऋण अनुत्पादक कार्यों के वास्ते लिया जानेवाला नहीं कहा जा सकता; कारण, खेती करने का, किसान वैसा ही आवश्यक साधन है, जैसा बैल, हल, बीज आदि; वरन् किसान का महत्व अन्य सब साधनों की अपेक्षा अधिक है।

ऋण का पाँचवाँ कारण किसानों की 'फजूलखर्ची' है। कुछ किसान विवाह-शादी या जन्म-मरण संबंधी सामाजिक रीति-व्यवहार में अपनी हैसियत से अधिक खर्च करते हैं। निस्संदेह इसमें यथा-संभव सुधार होने की आवश्यकता है; परतु मनुष्य की प्रकृति और सामाजिक आवश्यकताओं का विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे खर्च से पूर्णतया बचा नहीं जा सकता। इसी प्रकार कभी-कभी त्योहार आदि मनाना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है; यदि अपने चिंताग्रस्त जीवन में वह कभी-कभी आनन्द-प्रमोद के लिए कुछ खर्च कर डालता है, तो इसके लिए उसे विशेष दोष नहीं दिया जा सकता।

कर्जदारी और सरकार—ऊपर जो कारण किसानों के कर्जदार होने के बताये गये हैं, उनकी जिम्मेवरी बहुत-कुछ यहाँ की शासनपद्धति पर है, यह बात सहज ही समझ में आ सकती है।

उदाहरण के लिए यहाँ के उद्योग-धंधों के नष्ट होने का (जिससे आदमी अधिकाधिक संख्या में कृषि के आश्रित हो गये हैं), मुख्य कारण सरकारी नीति है। इस समय भी सरकार उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए यथेष्ट उपाय काम में नहीं ला रही है। प्राचीन पंचायतें विलुप्त होने, नवीन पंचायतों के अधिकार बहुत कम होने तथा उनमें जनता के यथेष्ट प्रतिनिधि न होने, और अदालतों की खर्चीली पद्धति प्रचलित करने का दाइत्व वर्तमान शासन-प्रणाली पर ही है। फिर, ऋण-ग्रस्तता का एक कारण सरकार की लगान और मालगुजारी सम्बन्धी नीति हैं। इस विषय में पहले लिखा चुका है। सरकार को, किसानों की दशा सुधारने की अपेक्षा, जैसे-भी-बने अपनी सेना आदि की बढ़ी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने की अधिक चिन्ता रहती है। यदि वह लगान और मालगुजारी के परिमाण में कमी करे, और उनको चुकाने के लिए किसानों को काफी सुविधाएँ दे तो उनकी कर्जदारी बहुत कम होने में, अथवा बढ़ने से रुकने में, बड़ी सहायता मिले। इसके लिए सरकार को सैनिक तथा सिविल शासन सम्बन्धी व्यय में काफी कमी करने की आवश्यकता है। परन्तु सरकार इसके लिए शान्ति-काल में भी तैयार नहीं होती, फिर युद्ध के समय की तो बात ही क्या!

कर्जदारों की रक्षा—सन् १९१८ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने एक कानून बनाया था, जिसका उद्देश्य यह था कि यदि रुपया उधार देनेवाले ने सूद की दर अधिक ठहरायी हो, तो अदालतों को अधिकार हो कि वे उसे कम करके फिर से सूद का हिसाब लगवावें। भिन्न-भिन्न प्रांतों में स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए कानून बना कर महाजनों द्वारा निर्धारित की हुई सूद की दर नियंत्रित करने के सम्बन्ध में कानून बनाये गये। इन कानूनों से किसानों को यथेष्ट लाभ नहीं होता। प्रथम तो खर्च बहुत होने के कारण, अदालतों में मामले बहुत कम जाते हैं। फिर, जैसा कि पहले

कहा जा चुका है, ऐसे कानूनों के कारण, किसानों को महाजनों से रुपया उधार मिलना कठिन होता है। और, किसानों को रुपया मिलने की दूसरी कोई समुचित व्यवस्था है नहीं।

कुछ प्रान्तों में ऋणदाताओं के लिए लेसेन्स-कानून बनाया गया है। इसके अनुसार, लेन-देन का काम करनेवाले महाजन को सरकार से लेसेन्स लेना होता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह नियमानुसार हिसाब रखे, और प्रत्येक कर्जदार को छठे महीने (या साल भर में) उसके ऋण का हिसाब लिखकर दे, तथा, जब-जब कोई कर्जदार कुछ ऋण अदा करे तो उसे उसकी रसीद देवे। यह व्यवस्था अच्छी है, पर इससे लोगों की ऋण-ग्रस्तता में विशेष कमी नहीं होती।

भारतवर्ष के कुछ प्रांतों में 'कर्ज-समझौता बोर्ड' स्थापित किये गये हैं। ये बोर्ड ऋण के मूलधन और व्याज का विचार करते हुए, साहूकार और कर्जदार की सहमति से ऋण की ऐसी रकम निर्धारित करते हैं, जिसका दिया जाना उचित है। फिर, किसान की हैसियत, तथा आय-व्यय और बचत के लिहाज से इस रकम की किस्तें ठहरादी जाती हैं। इन बोर्डों से कृषक जनता को कुछ लाभ हो रहा है। परन्तु बहुधा खेती की पैदावार दैवी कारणों से नष्ट हो जाने से तथा पैदावार की कीमत घटने से, किसान जमीन की मालगुजारी ही देने में असमर्थ रहते हैं। फिर, वे अपनी कर्ज की किस्त किस प्रकार अदा करें! इसके लिए तो उनकी आय ही बढ़नी चाहिए; इसके विविध उपायों के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

रिजर्व बैंक की सिफारिशें—रिजर्व बैंक के कृषि-साख-विभाग की प्रथम रिपोर्ट में गाँवों की कर्जदारी के भारी बोझ की विस्तृत आलोचना की गयी है, और इसे हल करने के लिए विविध उपाय सुझाये गये हैं। उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१—जहाँ कर्ज इतना अधिक हो गया हो कि कर्जदार उसे

अदा करने में असमर्थ हों, वहाँ कर्ज के मूलधन या सूद में कमी कर देना चाहिए।

२—ऐसा कानून बनना चाहिए जिनसे लम्बी मियाद के कर्ज छोटी-छोटी किस्त में चुकाये जा सकें।

३—तीस वर्ष से अधिक के पुश्तैनी कर्जा के निपटारे के सम्बन्ध में रियायती बर्ताव होना चाहिए।

४—उन कर्जों के लिए जो पावनेदारों की स्वेच्छा से कम करने पर भी कर्जदारों से चुकाये न जा सकें, आसान किसान-दिवालिया-कानून बनाये जायँ।

५—फसल खरीद-बिक्री के लिए छोटी मियाद पर पेशगी देना बैंकिंग कारोबार का एक मुख्य अंग समझना चाहिए। इस विषय में रिजर्व बैंक 'शिड्यूल्ड' (स्वीकृत) बैंकों की पूरी सहायता करेगा।

किसानों की ऋण-मुक्ति—किसानों का ऋण-भार और अधिक न बढ़े, उन्हें सूद की चिन्ता से छुटकारा मिले, और उनका, जीवन अधिक सुखी हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि उनके, पुराने ऋण से मुक्ति पाने के उपायों का विचार किया जाय, और उन को अच्छी तरह अमल में लाया जाय। स्थूल रूप से ऐसी योजना की रूप-रेखा कुछ इस प्रकार हो सकती है—प्रत्येक प्रान्त में प्रांतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा निर्वाचित कुछ व्यक्तियों की एक कमेटी रहे, जिसके निरीक्षण और नियंत्रण में प्रत्येक जिले के कुछ सरकारी और गैर-सरकारी अनुभवी आदमी अपने-अपने जिले के गाँवों के प्रत्येक किसान के विषय में यह मालूम करें कि उस पर कुल ऋण कितना है, उसमें कितना भाग मूल ऋण है, और कितना व्याज; तथा व्याज मद्दे कितनी रकम दी जा चुकी है। जिस-जिस ऋण के मूलधन या व्याज के मद्दे कुल रकम, मूलधन के दूने के बराबर, दी चुकी है, वे सब ऋण पूरे तौर से चुकाये हुए समझे जायँ। शेष ऋणों की व्याज

की रकम में, और एक निर्धारित अवधि से अधिक के ऋणों के मूल-धन की रकम में भी काफी कमी की जाय; और वह रकम निर्धारित की जाय, जो वास्तव में दी जानी उचित है। जो किसान इस कम की हुई रकम को न दे सकें, (और इनकी संख्या अवश्य ही काफी अधिक होगी) उनका ऋण एकदम या धीरे-धीरे चुकाने का दाइत्व सरकार अपने ऊपर ले, और किसानों से मालगुजारी के साथ छोटी-छोटी किस्तों में वसूल करें। * स्मरण रहे कि इस व्यवस्था का एक आवश्यक अंग यह है कि सरकार मालगुजारी में काफी कमी करे; इसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है।

मजदूरों के ऋण की समस्या—मजदूरों की ऋण-ग्रस्तता, उनके ऋणी होने के कारण, तथा उन कारणों के दूर किये जाने के सम्बन्ध में कुछ बातें वही हैं, जो किसानों के विषय में ऊपर कही जा चुकी हैं। ऋण-भार की चिन्ता के कारण मजदूर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, उसका कौशल भी क्षीण होता जाता है; वह अपना विकास नहीं कर पाता। ऋण चुकाने के लिए वह अपनी शक्ति से अधिक समय, तथा कठिन श्रम करता है, इससे वह बीमार पड़ता है; और ऋण-मुक्त होने के बजाय, और अधिक कर्ज़दार बनता जाता है। प्रायः उससे, किसानों की अपेक्षा, अधिक ब्याज लिया जाता है, कारण, उसके पास भूमि या जेवर आदि कोई ऐसी सम्पत्ति नहीं होती, जिसे वह रहन या गिरवी रख सके।

मजदूरों का ऋण-भार कम करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें वेतन मासिक के बजाय, साप्ताहिक दिया जाय, जिससे उन्हें अपने भरण-पोषण की वस्तुएँ खरीदने में सुभीता हो, और ऋण लेने की आवश्यकता कम रहे। खेद है कि भारतवर्ष में इस मामूलीसी बात को

---

* भावनगर राज्य ने इसी प्रकार महाजनों को इकट्ठी रकम देकर किसानों को उनके ऋण से मुक्त करने का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है।

भी, सरकार ने व्यवस्था नहीं की । इस सम्बन्ध में शीघ्र यथोचित कानून बनजाने की आवश्यकता है। इसके अलावा मज़दूरों की आवश्यकताओं का विचार करके उन्हें आवश्यक ऋण अच्छी शर्तों पर और साधारण व्याज पर मिलने की सुविधा होनी चाहिए। साथ ही मजदूरी की दर बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है, इसके लिए उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने की व्यवस्था होनी चाहिए; इसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है।

अन्य ऋण-ग्रस्तों का विचार—किसानों और मजदूरों के अतिरिक्त देश में और भी बहुत से आदमी ऋण-ग्रस्त हैं। इनमें मध्य श्रेणी के आदमियों की दशा विशेष चिन्तनीय है। यदि ये लोग अपनी आवश्यकता कम रखें, किफायत से काम लें, दूसरों के देखा-देखी, साजाजिक रीति-व्यवहार में, अथवा अपनी 'प्रतिष्ठा' बनाये रखने के भ्रम में अपनी हैसियत से अधिक खर्च न करें, तो इनमें से बहुत सों का सहज ही उद्धार हो सकता है। शिक्षा-प्रचार, मितव्ययिता, बैंकों, सहकारी समितियों, और मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों की वृद्धि से सभी ऋण-ग्रस्तों की रक्षा में सहायता मिलेगी।

सूद लिया जाना कहाँ तक उचित है?—आजकल आदमी प्रायः सूद लेते हैं; इसलिए प्रायः उसके उचित होने में कोई शंका नहीं की जाती। तथापि समय-समय पर कुछ सज्जनों ने ऐसा मत प्रकट किया है कि सूद लेना उचित नहीं है। मुसलमानों के यहाँ इसकी मनाही है, इसका जिक्र पहले किया जा चुका है। दूसरे भी कितने ही सज्जन सूद लेने के विरुद्ध हैं। मिसाल के तौर पर श्री॰ किशोरलाल मश्रूवाला ने 'लोकजीवन' में कहा है—"रुपये का कोई व्याज न होना चाहिए, क्योंकि रुपया स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता। रुपया औद्योगिकता को प्रोत्साहन देने का एक मात्र अथवा मुख्य साधन नहीं है, और न ही उसे बनाया जाना चाहिए।"

आम तौर से यह कहा जाता है कि अगर रुपये का सूद न मिले

तो कोई आदमी रुपया उधार देगा ही नहीं; और वर्तमान दशा में बहुत से आदमी आवश्यक पूँजी न मिलने से, अपनी आजीविका का काम भी न कर सकेंगे। अस्तु, आवश्यकता है कि सामाजिक व्यवस्था इस तरह की हो कि साधारण तौर से आदमियों को रुपया उधार लेने को ज़रूरत न रहे; और, विशेष कार्यों के लिए रुपये का प्रबन्ध सरकार की ओर से हो। ऐसी स्थिति कब आयेगी, यह नहीं कहा जा सकता, तथापि यह दृष्टिकोण विचार करने योग्य है।

पचीसवाँ अध्याय

मुनाफा

मुनाफे का अर्थ—किसी पदार्थ की कीमत से उसके उत्पादन का सब खर्च—कच्चे माल का मूल्य, संचालक शक्ति का व्यय, यंत्रों की घिसाई, विज्ञापन, बीमा-खर्च, लगान, मजदूरी, और सूद—निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफा है। यह व्यवस्था का प्रतिफल है; व्यवस्था में प्रबन्ध और साहस, दोनों शामिल हैं, यह पहले बताया जा चुका है। कुछ महाशय प्रबन्ध की कमाई' * का विचार पृथक् रूप से करते हैं। इस दशा में मुनाफा केवल साहस करने या जोखिम उठाने का प्रतिफल रह जाता है। रेल, नहर आदि कुछ कामों की प्रारम्भिक अवस्था में मुनाफे का सहसा हिसाब नहीं लग सकता। कभी-कभी तो दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष या इससे भी अधिक समय के आय-व्यय का हिसाब लगाने पर मुनाफे की मात्रा मालूम होती है।

*प्रबन्धक या मेनेजर का कार्य धनोत्पादन में एक आवश्यक अंग है। वह अन्य श्रमजीवियों के काम को देख-भाल करता है। उसकी आय को, जो बहुधा निश्चित होती और प्रति मास मिलती है, अर्थशास्त्र में मजदूरी नहीं कहते 'प्रबन्ध की कमाई' कहते हैं।

फिर यह भी आवश्यक नहीं कि हर एक काम में मुनाफा होवे ही। बहुतेरे कामों में हानि भी होती है। परन्तु जब हानि होती है, तो उस काम की पद्धति में परिवर्तन किया जाता है, अथवा वह बिलकुल बन्द कर दिया जाता है। निस्सन्देह ऐसा करने में समय लगता है।

मुनाफे के दो भेद—अर्थशास्त्र की दृष्टि से मुनाफे के दो भेद हैं—वास्तविक मुनाफा, और कुल मुनाफा। कुल मुनाफे में बहुधा वास्तविक मुनाफे के अलावा (क) साहसी की निजी पूँजी का सूद, (ख) उसका अपनी जमीन का किराया, (ग) बीमे आदि का खर्च और (घ) साहसी की विशेष सुविधाओं से होनेवाला लाभ सम्मिलित है। साधारण बोलचाल में कुल मुनाफे को प्रायः मुनाफा ही कहते हैं।

मुनाफे की कमी-बेशी के कारण—कुल मुनाफे का कम-ज्यादा होना कई बातों पर निर्भर है *—

(१) उत्पादन-व्यय जितना कम होगा, उतना ही मुनाफा अधिक रहेगा। उत्पादन-व्यय कम होने के ये तीन कारण मुख्य हैं—(क) काम करनेवालों के काम की मात्रा बढ़ जाने पर उनकी मजदूरी का पहले जैसी बना रहना। (ख) काम की मात्रा और खाने-पीने वगैरह की चीजों की कीमत पहले जितनी बनी रहने पर काम करनेवालों को मजदूरी की दर का घट जाना। (ग) खाने-पीने की चीजें सस्ती हो जाना।

पदार्थों की कीमत बढ़ने या देश में महँगी होने से मुनाफा ही होगा, यह समझना भूल है। जनसंख्या की वृद्धि अथवा विदेशी माँग के कारण अन्न आदि की खपत बढ़ने से घटिया जमीन में खेती करनी पड़ती है। यह बात मजदूरी आदि का खर्च बढ़ाये बिना नहीं हो सकती, और उत्पादन-व्यय बढ़ने से चीजों की

---

* पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के 'संपत्ति-शास्त्र' के आधार पर।

कीमत का बढ़ना तथा देश में महँगी का होना स्वाभाविक ही है। इससे काश्तकारों को लाभ थोड़ा ही होता है; उनका तो खर्च ही मुश्किल से निकलता है। जो चीजें कलों की सहायता से बनती हैं, उनकी खपत बढ़ने से प्रायः मुनाफा अधिक होता है; क्योंकि एक सीमा तक, माल जितना अधिक तैयार होगा, खर्च का अनुपात उतना ही कम पड़ेगा। इस प्रकार कीमत कम आने पर भी मुनाफा अधिक हो सकता है।

(२) मुनाफे का समय से भी गहरा संबंध है। माल बिककर मुनाफा मिलने में जितना ही कम समय लगेगा, मुनाफे की दर उतनी ही अधिक होगी। और, जितना ही समय अधिक लगेगा, मुनाफे की दर उतनी ही कम होगी।

(३) मजदूरी की दर कम होने से मुनाफा अधिक, और मजदूरी बढ़ने से मुनाफा कम हो जाता है। [कारखानेवाले अधिक-से-अधिक मुनाफा चाहते हैं; और, मजदूर अधिक-से-अधिक मजदूरी। इसलिए उन दोनों में बहुधा पारस्परिक हित-विरोध रहता है। इसका वर्णन अन्यत्र प्रसंगानुसार किया गया है।]

(४) कारखानेवालों की बुद्धिमानी, दूरंदेशी और प्रबंध करने की योग्यता पर भी, मुनाफे की कमी-बेशी बहुत-कुछ निर्भर है। देश में अयोग्य कारखानेवालों की संख्या अधिक होने से चतुर कारखाने के मालिकों के मुनाफे की दर बढ़ जाती है। शिक्षा और कला-कौशल की वृद्धि के साथ-साथ अयोग्य कारखानेवालों की संख्या कम होती है, और चतुर कारखानेवालों की संख्या बढ़ती जाती है। इससे उनके मुनाफे की दर दिनोंदिन घटती जाती है। एक बात और भी है। शिक्षा और सभ्यता के प्रचार से मनुष्य दूरंदेश होता जाता है। इससे देश की पूँजी बढ़ती है। और, पूँजी बढ़ने से मुनाफे की दर कम होनी ही चाहिए।

(५) मुनाफे की दर कुछ विशेष सुविधाओं पर भी निर्भर रहती

है—जैसे भूमि का अच्छा होना, पूँजी का सस्ता (कम ब्याज पर) मिल जाना, आबपाशी का समय पर तथा अच्छा हो जाना, नजदीक में ही मंडी बन जाना या रेल की लाइन निकल जाना आदि।

(६) मुनाफे पर प्रतियोगिता का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। आजकल बहुत से व्यवसायों में चढ़ा-ऊपरी है। जिस व्यवसाय में अधिक मुनाफा होता है, उसे दूसरे व्यवसायी भी करने लगते हैं। वे उसमें अधिक पूँजी लगाकर माल कम खर्च में तैयार करते और सस्ता बेचने का प्रयत्न करते हैं। इससे पहले व्यवसायी को भी कीमत की दर घटानी पड़ती है; और, मुनाफे की मात्रा कम हो जाती है। किंतु थोड़ी पूँजीवाले थोड़े मुनाफे पर बहुत दिन तक प्रतियोगिता नहीं कर सकते। इसलिए बड़े-बड़े पूँजीपतियों या कंपनियों का ही व्यवसाय चलता रहा सकता है।

किसानों का मुनाफा—भारतवर्ष में कृषि-कार्य की अधिकता है। बहुत से आदमी अपनी भूमि पर अपनी ही मेहनत तथा पूँजी से कुछ पैदा कर लेते हैं। इस दशा में 'प्रबंध की कमाई' और साहस का फल अर्थात् मुनाफा अलग-अलग नहीं प्रतीत होते। बहुत-से भारतीय किसानों को लाभ बहुत कम होता है। खासकर जिनके खेत छोटे-छोटे और दूर-दूर हैं, अथवा गैर-मौरूसी या शिकमी-दर-शिकमी हैं, उन्हें तो बहुधा बिलकुल ही मुनाफा नहीं होता। पर उन बेचारों को खेती का काम छोड़कर कोई दूसरा लाभकारी कार्य करने की सुविधाएँ नहीं होतीं। हमारे अनेक किसानों की पूँजी प्रायः नहीं के बराबर होती है। बहुतेरे तो ऋण-ग्रस्त रहते हैं। शिक्षा का अभाव और संकुचित विचार तथा अंध-विश्वास उनकी उन्नति में बहुत बाधक होते हैं। इसलिए वे वर्षों और बहुधा पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक बिना मुनाफे के ही कृषि-कार्य करते रहते हैं, जिसमें उन्हें अपने श्रम की मामूली-सी मजदूरी मिल सके। किसी उद्योग-धंधे के करने की योग्यता न होने के कारण, वे अन्य कामों में उतनी भी मजदूरी पाने की आशा नहीं रखते।

कृषि साहूकार का मुनाफा— यहाँ महाजन या बनिये किसानों को रुपया उधार देते हैं, और उसके बदले में, फसल तैयार होने के समय, बाजार से कुछ सस्ते भाव पर, अन्न आदि लेते हैं। इसी में उनका सूद भी आजाता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि ऋण देते समय ही पदार्थ का वह भाव ठहर जाता है, जिस पर किसान अपना माल महाजनों को बेचें। इस माल को महाजन अपने यहाँ जमा रखते हैं, और फसल के बाद जब उसका भाव चढ़ जाता , तब धीरे-धीरे बेचते हैं। ग़रीब किसान अपनी खेती सम्बन्धी आवश्यकताओं या विवाह सगाई आदि की रीति-रस्मों के वास्ते और सरकारी लगान आदि चुकाने के लिए, प्रायः इतना माल बेच डालते हैं कि कुछ समय के बाद स्वयं उन्हीं को कुछ माल बनिये से, महँगे भाव पर, खरीदना पड़ जाता है। अस्तु, इस क्रय-विक्रय से महाजन को काफी मुनाफा होता है।

शिल्प-साहूकार का मुनाफा—पहले छोटी मात्रा की उत्पत्ति की दशा में बहुत से कारीगर अपनी-अपनी पूँजी से स्वतंत्र कार्य करते थे। उसके ये स्वय ही निरीक्षक या व्यवस्थापक भी होते थे। उनके मुनाफे में पूँजी का सूद भी होता था। कुछ बड़े-बड़े नगरों में पूँजीपति कारीगरों को रुपया उधार देते और बदले में उनका माल खरीदते या अपनी इच्छानुसार माल बनवालेते थे। इस प्रकार वे बहुत-सा माल इकट्ठा करके, उसे उसी नगर में बेचकर, अथवा बाहर भेजकर, नफा कमाते थे। इन लोगों का निरीक्षण या व्यवस्था से कोई सम्बन्ध न होता था।

आजकल मशीनों के माल की खपत बढ़ जाने से स्वतंत्र कारीगरों का महत्व कम हो गया है। मेहनत मज़दूरी करनेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। प्रायः कारीगर अपने माल को स्वयं बेचते हैं, उसकी लागत तथा उसमें लगी हुई पूँजी का सूद बाद करके जो उन्हें बचता है, वह उनका ही मुनाफा होता है।

दुकानदारों का मुनाफ़ा—बहुत से दुकानदार या सौदागर विदेशी माल बेचते हैं। वे कभी-कभी थोड़ा सा माल इस देश के कारीगरों का तैयार किया हुआ भी, मोल लेकर, विक्रयार्थ रख लेते हैं। अब स्वदेशी माल का क्रय-विक्रय बढ़ता जा रहा है। 'देशी व्यापार' शीर्षक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि यहाँ अधिकाँश दुकानदार अपनी वस्तुओं की कीमत निर्धारित करके नहीं रखते, वे ग्राहक को देखकर कीमत बताते हैं। उदाहरण के लिए उसी वस्तु के एक से छः आने, दूसरे से सात आने और तीसरे से आठ आने या इससे भी अधिक माँग लेते हैं, और फिर, जैसा जिस ग्राहक से तय हो जाय, वैसा दाम ले लेते हैं। यह वस्तु वास्तव में पाँच आने या इससे भी कम की होती है, इसके विषय में ग्राहक की जानकारी जितनी कम होती है, दुकानदार का मुनाफा उतना ही अधिक होता है। इस प्रकार, जब बाजार में कोई नयी वस्तु बिकने आती है, तो क्योंकि उसकी लागत से अधिकाँश ग्राहक अपरिचित होते हैं, इसके बेचनेवाले को लाभ अधिक होने की संभावना होती है। इस प्रकार भारतवर्ष में अधिकाँश दुकानदार जितना माल बेचते हैं, उसके अनुपात से, उनका औसत मुनाफा काफी होता है; परन्तु यहाँ सर्वसाधारण के प्रायः निर्धन होने के कारण, पदार्थों की बिक्री का परिमाण कम होने से, बहुधा दुकानदारों का कुल मुनाफा मामूली ही रहता है।

आढ़तियों का मुनाफा—भारतवर्ष में बड़े-बड़े आढ़तिये प्रायः रुई, सन, अनाज या कुछ अन्य पदार्थों का व्यापार करते हैं। इनका काम बनियों या बड़े-बड़े किसानों से, फसल के अवसर पर, माल लेकर बड़ी मंडियों अथवा बंदरगाहों में भेज देना होता है। ये बंबई, कलकत्ता, कराँची; मदरास, रंगून आदि के निर्यात करनेवाले सौदागरों से पहले ही यह तय कर लेते हैं कि अमुक समय पर इतना

माल इस भाव पर उन्हें देंगे। ये लोग अपने कारोबार में काफी चतुर होते हैं, और बहुधा किसानों या दुकानदारों के भोलेपन या नासमझी से अनुचित लाभ भी उठाते हैं। भारतवर्ष के दूसरे लोगों की तुलना में इनका मुनाफा काफी अधिक रहता है।

आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफा—भारतवर्ष के आयात-निर्यात करनेवाले कुछ बड़े-बड़े सौदागर हर एक प्रांत में हैं। ये संसार की मुख्य-मुख्य मंडियों से बराबर तार द्वारा बाजार-भाव का समाचार मँगाते रहते हैं। इसलिए जब विदेशों में किसी ऐसी चीज का भाव चढ़ता है, जो भारतवर्ष से जाती हो, या ऐसी चीज का भाव उतरता है, जो भारतवर्ष में आती हो, तो अधिकाँश मुनाफा इन्हा सौदागरों को होता है। [भारतवर्ष के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को अकसर बहुत समय पीछे विदेशों के भाव का पता लगता है।]

कल-कारखाने वालों का मुनाफा—इनके मुनाफे की मात्रा खूब होती है। मजदूर बहुधा इनके हाथ की कठपुतली ही रहते हैं; उन्हें साधारण वेतन पर कार्य करना होता है। यदि मजदूर कभी हड़ताल भी करें तो पूँजीपति भूखे नहीं मरेंगे, चाहे उनका कारखाना दस-पाँच दिन बन्द ही क्यों न रहे। पर बेचारे मजदूर क्या करेंगे? उनके पास इतनी पूँजी कहाँ कि दो-चार रोज भी बेकार रहकर बाल-बच्चों-सहित मजे में खाते-पीते रहें! इसलिए उनका कष्ट बहुत अधिक होता है। कारखानेवाले अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा सुसंगठित करने के लिए समितियाँ बना लेते हैं। तब वे और भी अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। वे सदा यही सोचा करते हैं कि अधिकाधिक मुनाफा पावें और धनी बनें।

पुस्तक-प्रकाशकों का मुनाफा—अँगरेजी तथा देशी भाषाओं की पुस्तकें प्रकाशित करनेवाले महाशय भारतवर्ष के प्रायः

प्रत्येक मुख्य नगर में हैं। खासकर देशी भाषाओं के लेखक बहुत निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने श्रम का प्रतिफल पाने के लिए बेहद आतुर रहते हैं। उनकी रचनाओं की माँग कम और पूर्ति अधिक होने से, उनकी कीमत कम रहनेवाली ठहरी। इसलिए प्रकाशकों की मनचाही शर्तों को वे स्वीकार न करें तो क्या करें! हमारे देखते-देखते कई प्रकाशक साधारण पूँजी से काम शुरू करके अब बड़े पूँजीपति हो गये हैं। उनके मुनाफेका कुछ भाग अवश्य ही उनके भारी साहस या जोखिम, तथा पूँजी के सूद आदि का फल है; तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस मुनाफे का बड़ा हिस्सा उनके लेखकों के परिश्रम का फल है, जिन्हें बाजार-दर से दाम चुकाये जाने पर भी यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिला है। हाँ, सभी लेखक ऐसे नहीं, जो चुपचाप प्रकाशकों की सब बातें शिरोधार्य कर लें, अथवा एक ही बार कुछ प्रतिफल लेकर उन्हें अपनी रचना के प्रकाशन का पूर्ण अधिकार दे दें। साथ ही कुछ प्रकाशक भी ऐसे हैं, जो कुछ ऐसी रचनाएँ प्रकाशित करते हैं, जिनसे उन्हें लाभ होता है, तो वे निर्धन, और संकट-ग्रस्त लेखकों का भी समुचित आदर-मान करने तथा साहित्य के नये-नये अंगों की पूर्ति करने से पीछे नहीं हटते। जो हो, साहित्य में श्रम और पूँजी का बड़ा सँघर्ष है।

पिछले वर्षों में जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने, तथा सरल और जल्दी हजम होनेवाला साहित्य बाजार में अधिक परिमाण में आने तथा बिकने के कारण अच्छी और गम्भीर विषयों की पुस्तकों की खपत कम रही है। इसलिए उनके प्रकाशकों का मुनाफा भी कम रहने वाला ठहरा। 'देशी व्यापार' शीर्षक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि कुछ प्रकाशकों ने पुस्तकों की कीमत तथा कमीशन की दर बहुत अधिक बढ़ा दी है, दलालों की संख्या बढ़ गयी है, और मुनाफा बहुत अधिक होने पर भी वह कई व्यक्तियों में बँट जाता है; किसी एक व्यक्ति को बहुत अधिक मुनाफा नहीं होता।

मुनाफे का नियंत्रण—पिछले अध्यायों में लगान, मजदूरी और सूद के संबंध में लिखते हुए हमने बतलाया है कि भारतवर्ष में प्रायः लगान और सूद की दर तथा उच्च पदों के वेतन बहुत अधिक हैं; इनका नियंत्रण होना चाहिए। इस अध्याय में यह कहा गया है कि कल-कारखानेवालों का तथा आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफा प्रायः बहुत अधिक होता है। अनेक दुकानदार भी चीजों के दाम निर्धारित करने में बड़ी मनमानी करते हैं, अथवा ग्राहक को देखकर, एक ही चीज के भिन्न-भिन्न दाम लेते हैं। समाज-हित के लिए इसका नियत्रण होना आवश्यक ही है। सरकार कुछ दशाओं में तो मुनाफे का नियंत्रण करती भी है। उदाहरण के लिए बहुत से स्थानों में सरकार पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य निर्धारित कर देती है, अथवा ऐसा नियम बना देती है कि उनकी कीमत प्रति रुपया इतने पृष्ठ के हिसाब से रखी जाय। इस प्रकार इन पुस्तकों में मुनाफा बहुत नियंत्रित रहता है।

कल-कारखानों अथवा मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों के मुनाफे को नियंत्रित करने की विधि यह है कि निर्धारित प्रतिशत से अधिक मुनाफा होने की दशा में सरकार उन पर ऐसा अतिरिक्त कर लगा दे,' जो मुनाफे की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता जाय। इस प्रकार सरकार मुनाफे में से खासा भाग लेलेती है, और इसे विविध कार्यों में लगाती है।

ऐसा भी हो सकता है कि मुनाफे का नियंत्रण, बिना सरकारी कार्रवाई के ही हो जाय। कहीं-कहीं कारखाने के मालिक और मजदूर आपस में यह निश्चय कर लेते हैं कि फी-सदी अमुक मुनाफे से अधिक जितना मुनाफा होगा, वह सब, या उसका निर्धारित अंश मजदूरों को बाँट दिया जायगा। इससे मजदूरों का उत्साह बढ़ जाता है, उनकी मेहनत और अधिक उत्पादक हो जाती है, और मुनाफा भी अधिक होने लगता है। यह अधिक मुनाफा मजदूरों के अधिक दिल लगाकर काम करने का फल होता है। इसे मजदूरों को देने से पूँजीवालों की

हानि नहीं होती; उलटा, उनका और मजदूरों का सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है।

ये, मुनाफे के नियंत्रण के थोड़े-से उदाहरण हुए, जिनका सम्बन्ध देश के थोड़े से ही आदमियों से है। मुनाफा लेनेवालों की कुल संख्या तो कहीं बड़ी है। उन सब के मुनाफे का नियंत्रण किस प्रकार हो! समस्या बहुत जटिल है।

पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ यह बताया जाता है कि अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व मौर्य-काल में यहाँ क्या व्यवस्था थी। आचार्य कौटल्य के विचार से व्यवसाय द्वारा अपरिमित या बेहद मुनाफा लेना और धनवान बनना चोरी और डकैती के बराबर था। इसलिए उसने ऐसे व्यवसाइयों को 'चोर न कहे जानेवाले, चोर' कहा है। वह तैयार वस्तुओं की बिक्री से होनेवाला लाभ साधारण तौर से उनकी लागत का पाँच प्रति-सैकड़ा निश्चित करता है। कुछ दशाओं में वह इसका परिमाण दस प्रति सैकड़ा तक उचित समझता है। व्यापारी निश्चित मुनाफे से अधिक न लें, इसके लिए वह कई नियम बनाता है; उदाहरण के लिए उसका आदेश है कि शुल्काध्यक्ष शुल्क अर्थात् चुंगी वसूल करने के पदार्थों के परिमाण और गुण का निरीक्षण करे, और प्रत्येक पदार्थ की कीमत निश्चित हो जाय। इस कीमत को व्यापारी गुप्त न रखे, वह इसकी घोषणा करे। इस दशा में वह मनमाना मुनाफा ले ही नहीं सकता था।*

अब अधिक-से-अधिक मुनाफा लेना व्यवसाय-कुशलता का लक्षण माना जाता है; स्वतंत्रता के नाम पर, व्यापार में किये जानेवाले सरकारी हस्तक्षेप का विरोध होता है तथापि लोकहित के लिए मुनाफे का नियंत्रण है बहुत आवश्यक। जहाँ तक संभव हो इसके लिए कानून का आश्रय लिया जाय। अच्छा तो यह है कि लोकमत ही ऐसा होजाय कि आदमी साधारण मुनाफे से संतोष किया करें। आजकल उपभोग के

*हमारे 'कौटल्य के आर्थिक विचार' के आधार पर।

पदार्थों की संख्या बहुत अधिक होने से, सब वस्तुओं के लिए मुनाफे की दर एक-सा निर्धारित करना उचित न होगा, तथापि यह तो सहज मालूम हो सकता है कि सर्वसाधारण की दृष्टि से किस वस्तु पर अधिक-से-अधिक कहाँ तक मुनाफा लिया जाना ठीक है; जो व्यक्ति उस सीमा को उल्लंघन करे, वह समाज में निन्दा-योग्य या बुरा माना जाना चाहिए, उसकी बदनामी हो।

मुनाफा और आदर्श—आज-कल आदमी जितने व्यापार-व्यवसाय आदि करते हैं, सब में उनका उद्देश्य कुछ मुनाफा कमाना रहता है। क्या किसी कार्य की उपयोगिता की कसौटी उसके द्वारा मिलनेवाला द्रव्य है, और उपयोगिता का माप मुनाफे के अनुसार समझा जाना उचित है ? क्या मानव जीवन की उपयोगिता केवल यह है कि किसी भी प्रकार मुनाफे के रूप में द्रव्य संग्रह किया जाय ?

यह ठीक है कि मनुष्य का उद्देश्य सुख-शांति प्राप्त करना है, और मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह के लिए भोजन-वस्त्र आदि विविध पदार्थों की जरूरत होती है, और जहाँ तक द्रव्य में ये चीजें खरीदने की क्षमता है, वह बहुत ज़रूरी है। परंतु क्या द्रव्य ही मनुष्य को सुख शांति प्रदान करता है, अर्थात् क्या अपना निर्वाह करनेवाले सौ आदमियों में सबसे अधिक सुखी वह व्यक्ति है, जिसके पास सबसे अधिक धन है ? ऐसा तो देखने में नहीं आता। इसके विपरीत, बहुधा वे आदमी कहीं अधिक सुख और शांति प्राप्त करते हैं, जिनका जीवन अपने ही सुख-दुख की चिंता में व्यतीत न होकर दूसरों की सेवा और परोपकार में लगा रहता है; अथवा यों कहलें कि जिनका विचार-क्षेत्र अधिक विस्तृत है, जो अपने शरीर की अथवा अपने परिवार की सीमा से आगे बढ़कर अपने ग्राम या नगर, अथवा राष्ट्र के व्यक्तियों में अपनेपन का अनुभव करते हैं, 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का आदर्श रखते हैं। इसलिए व्यवसाय में मुख्य लक्ष्य लोकहित होना चाहिए। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य कौटल्य भी व्यापार-व्यवसाय का उद्देश्य

धनोपार्जन करना या मुनाफा कमाना नहीं, सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना समझता है।

इस जमाने में रूस में धनोत्पत्ति के जो कार्य किये जाते हैं, उनका उद्देश्य मुनाफा नहीं होता। वहाँ सब आदमी समाज-हित के विचार से उत्पादन-कार्यों में भाग लेते हैं। इसलिए वहाँ किसी आदमी या समूह के मुनाफे का सवाल नहीं रहता। वहाँ 'हरेक सब के लिए, और सब हरेक के लिए' का भाव है। हमें अपने कारोबार में यही भाव रखना चाहिए, और मुनाफे को प्रधानता न देनी चाहिए।

युद्ध और मुनाफा—पहले बताया जा चुका है कि युद्ध-काल में पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है। इसका एक मुख्य कारण यह होता है कि व्यापारियों की इच्छा बहुत अधिक लाभ कमाने की रहती है। इसके लिए वे अपने माल के स्टाक को छुपा कर रख लेते हैं, और बाजार में पदार्थों की कमी को कृत्रिम रूप से बढ़ा देते हैं। सरकार इसे यथा संभव रोकने का प्रयत्न करती है, फिर भी कुछ व्यापारी उसकी पकड़ में नहीं आते। वे अपना माल धीरे-धीरे निकाल कर चढ़े हुए दाम पर बेचते हैं। यद्यपि युद्ध-काल में सरकार द्वारा कीमत नियंत्रित कर दी जाती है; अनेक व्यापारी इसकी अवहेलना कर पदार्थों को अधिक-से-अधिक मुनाफा लेकर बेचते हैं। कल-कारखाने वालों की तो युद्ध में खूब चाँदी होती है। उन्हें मुनाफा कमाने का इससे अच्छा अवसर बहुत ही कम मिलता है। यद्यपि सरकार उनके बढ़े हुए मुनाफे पर कभी-कभी सत्तर-अस्सी फी-सदी तक 'अतिरिक्त-मुनाफा-कर' (एक्सेस प्राफिट टेक्स) लगा देती है, तथापि उन्हें कुछ दशाओं में मुनाफे की काफी आमदनी हो जाती है।

यही नहीं कि व्यापारी या कल-कारखाने वाले युद्ध से उत्पन्न स्थिति में खूब मुनाफा कमाते हैं, अनेक बार मुनाफा कमाने के लिए ही

युद्ध शुरू कराये जाते हैं। इस में विशेष भाग उन कल-कारखानों के मालिकों का होता है, जो युद्ध-सामग्री—तोप, बन्दूक, हवाई जहाज, मशीनगन, टैंक आदि—बनाते हैं। पिछले महायुद्ध के बाद अमरीका और इंगलैंड आदि के कई ऐसे कारखानों का पता था जिन्होंने मुनाफा कमाने के लिए गौण रूप से युद्ध को प्रोत्साहन दिया था। इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने तथा जारी रहने में व्यापारियों की मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति का बड़ा भाग है। युद्ध और मुनाफे का एक-दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। संसार को युद्धों से छुटकारा दिलाने के लिए आवश्यक है कि आदमी अपने मुनाफे की बात में ही न लगे रहें, बल्कि लोकहित या समाज-सेवा का काफी ध्यान रखें।

छब्बीसवाँ अध्याय

वितरण और असमानता

असमानता का जन्म और वृद्धि—पहले, प्राचीन काल में, समानता का विचित्र युग था; गरीब और अमीर का, किसान और जमींदार का, या मजदूर और पूँजीपति का कोई भेद-भाव न था। लोगों में स्वामित्व या मिलकियत का विचार न था। आदमी अपनी आवश्यकता के अनुसार भूमि जोतते और उसकी पैदावार का उपभोग करते थे; जमींदार का उसमें कोई दखल न था; जमींदार उस समय था ही नहीं। दस्तकार और कारीगर अपने हाथों से वस्तुएँ तैयार करते और उनके बदले में अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ दूसरों से ले लेते। अपने काम लायक साधारण पूँजी उनके पास होती थी; उसके लिए वे किसी पूँजीपति का आसरा नहीं तकते थे।

धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। आबादी बढ़ी, सभ्यता का विकास हुआ, ज़रूरतें बढ़ी, लोगों में स्वामित्व का भाव आया। जिसका जहाँ तक वश चला, उसने उतनी भूमि पर अधिकार कर लिया, वह उसका स्वामी बन बैठा जिस किसी ने 'भू-स्वामी' से जोतने बोने के लिए जमीन ली, उससे लगान लिया जाने लगा। 'भूमिपति' को घर-बैठे आमदनी होने लगी और किसान को पसीना बहाने पर भी काफी भोजन वस्त्र मिलने का निश्चय न रहा। यह कृषि सम्बन्धी उत्पादन की बात हुई। कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन उद्योग-धंधों में हुआ। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने और मशीन या यन्त्रों का उपयोग होने की दशा में दस्तकारियों का ह्रास हो गया, कल कारखाने वाले ही उत्पन्न माल के अधिकारी होने लगे, मजदूर दिन भर कड़ी मेहनत करने पर भी मामूली मजदूरी पानेवाले रह गये। सब मुनाफा पूँजीपतियों की जेब में जाने लगा। इस प्रकार सम्पत्ति का वितरण असमान रूप से होने लगा। इस समय भिन्न-भिन्न देशों में एक ओर तो मुट्ठी-भर आदमी जमींदार या पूँजीपति हैं, जिन्हें यही चिन्ता रहती है कि इतने धन का क्या करें; दूसरी ओर, उनके लाखों करोड़ों देशबन्धु घोर परिश्रम करने पर भी पेटभर भोजन अथवा शारीरिक रक्षा के लिए आवश्यक वस्त्र नहीं पाते; फिर उनकी योग्यता का विकास होने की तो बात ही क्या! इसीलिए तो संसार में तरह-तरह के आन्दोलन हो रहे हैं।

मजदूरी से पूँजी और राज्य का झगड़ा—इस युग में किसानों और जमींदारों का, तथा मजदूरों और पूँजीपतियों का झगड़ा मुख्य है। भारतवर्ष इस समय कृषि-प्रधान है, इसलिए यहाँ आर्थिक विषमता बहुत-कुछ किसानों और बड़े जमींदारों में मिलती है। तथापि कुछ समय से कल-कारखानों का विस्तार हो रहा है, इससे मजदूरों और पूँजीपतियों का भी संघर्ष बढ़ता जा रहा है। उन्नत औद्योगिक देशों में तो मजदूरी और पूँजी का ही झगड़ा प्रमुख होता है। प्रत्येक अपने को उत्पन्न धन में से अधिक-से-अधिक का अधिकारी मानता है।

राज्य की सहानुभूति बहुधा पूँजी के साथ होती है, इसलिए वह भी इस झगड़े में शामिल हो जाता है। इनमें से प्रत्येक का दावा सक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है *—

मजदूर कहता है—"सब धन मैं पैदा करता हूँ। शरीर (और दिमाग) को पूरी तरह थका देने पर भी मुझे और मेरे कुटुम्ब को खाने पहनने के लिए, काफी धन नहीं मिलता। मेरे परिश्रम से पूँजी-पति मौज उड़ाता है। मेरी ही बदौलत उसे देश के कानून बनाने का अधिकार मिला है, और वह ऐसे कानून बनाता रहता है जिससे वह तो अधिकाधिक सुखी हो, और मैं ज्यादह-ज्यादह दुखी होता जाऊँ। कारखाने का बनानेवाला असल में मैं हूँ। यह ठीक है कि पूँजीपति ने उसमें बड़े-बड़े वैज्ञानिक लगाये हैं, परन्तु, उसे उनको वेतन देकर रखने की शक्ति भी तो मुझसे ही मिली है। उन वैज्ञानिकों के दिमाग से निकली हुई बातों को अमल में मैं ही लाता हूँ। तभी व्यवसाय में सफलता होती है। फिर भी मैं भूखा मरता हूँ, मेरी मानसिक उन्नति नहीं होने पाती। मैं भी अपने देश का वैसा ही नागरिक हूँ, जैसा पूँजीपति। पूँजीपति राज्य को ऐसे कार्य में क्यों सहायता देता है, जिससे मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार मारा जाता है! क्या मैं देश के धनोत्पादन में दिन-रात पसीना नहीं बहाता?"

उधर पूँजीपति कहता है—"मेरे कारखाने में शारीरिक कार्य सब से घटिया दर्जे का काम है, और मैं उसका वैसा ही प्रतिफल (मजदूरी) दे देता हूँ। मजदूरों की सहायता से बने हुए माल के लिए उपयुक्त मंडी मैं ही तलाश करके उसे वहाँ ले जाता हूँ। (पूँजीपति यहाँ यह भूल जाता है कि माल लेजाने के लिए रेल, जहाज आदि सब साधन मजदूरों के सहयोग से ही चलते हैं)। मैं वैज्ञानिकों को अपने काम में लगाता हूँ। मैं पहले मजदूरों की मजदूरी चुकाता हूँ,

---

*"A Review of the Political Situation in Central Asia" के आधार पर।

उसके बाद मुनाफा मेरी जेब में आता है। बाजार के उतार-चढ़ाव, संसार की बड़ी-बड़ी घटनाओं, स्वदेश या विदेश की माँग, नये फेशन और नयी आवश्कताओं आदि के कारण मुझे मुनाफा मिलता है। इनमें मजदूर कुछ नहीं करते। इसलिए उन्हें मेरे लाभ का कोई हिस्सा पाने का क्या अधिकार! फिर भी मैं समय-समय पर उनको मजदूरी बढ़ाता रहता हूँ। लेकिन उनकी माँग हद से ज्यादा बढ़ी हुई है। मैं जितना ही ज्यादा दबता हूँ, उतना ही वे हड़ताल की धमकी अधिक देते हैं। मजदूरों के नेता शांति से विचार करें। उनकी उचित शिकायतें सुनने और उन्हें दूर करने को मैं सदा तैयार हूँ। लेकिन वे वृथा ही मुझ से द्वेष करें, तो इसका क्या इलाज !"

और, अब राज्य कहता है—"हमने मजदूरों के काम करने के घंटे कम कर दिये हैं। उनके संघों और सम्मेलनों के संगठित होने की अनुमति दे दी है। उनकी स्त्रियों और बच्चों की सुविधा के नियम बना दिये हैं। मजदूरी की उचित दर निश्चत कर दी है। उन्हें दुर्घटनाओं से बचाने के लिए कानून भी बना दिए हैं, व्यवस्थापक सभाओं में उनके प्रतिनिधि ले लिये हैं। परन्तु हम पूँजोपतियों को इस बात के लिए मजबूर नहीं कर सकते कि वे उन्हें मुनाफे में अधिक हिस्सा दें। राज्य का आधार देश का धन है। जब धन थोड़े-से आदमियों के हाथ में होता है, तो उससे बड़े-बड़े काम आसानी से हो सकते हैं। अगर देश का धन असंख्य जनता में बँटा हुआ हो, तो बड़े-बड़े काम करने में उतनी सुविधा नहीं होती। पूँजीपतियों के रहने में ही राज्य और देश को सुख है। इसलिए हमारा पूँजीपतियों से घनिष्ठ सबंध होने में मजदूरों को बुरा न मानना चाहिए।"

असमानता का निवारण—असमानता का निवारण करने के लिए उसके निदान की आवश्यकता है। हमें विचार करना चाहिए कि असमानता ज्यादहतर किन कारणों से पैदा होती है। कल्पना करो, एक आदमी के किसी अंग में कोई विकार है; वह लंगड़ा लूला है, या

उसका दिमाग ठीक काम नहीं कर सकता। ऐसा आदमी तन्दुरुस्त आदमी से बराबरी नहीं कर सकता। दो व्यक्तियों की असमानता का दूसरा कारण यह हो सकता है कि एक को अच्छी परिस्थिति या अनुकूल अवसर मिला है, और दूसरा उससे वंचित रहा है। उदाहरण के लिए एक आदमी अच्छी स्थिति के परिवार में जन्म लेने के कारण भली-भाँति शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर सका है, या किसी उत्पादन-कार्य के लिए अच्छी पूँजी लगाने में समर्थ है। अथवा, वह ऊँचे खानदान का माने जाने के कारण समाज में सहज ही अच्छा पद या प्रतिष्ठा पा लेता है। भला, ऐसे व्यक्ति से वह आदमी कैसे तुलना कर सकता है, जो इन बातों से रहित है!

इस प्रकार असमानता दो तरह की होती है। एक तो कुदरती, जन्मजात या स्वाभाविक होती है। इसे दूर करने के प्रयत्नों में विशेष सफलता नहीं मिल सकती। परन्तु दूसरी प्रकार की असमानता को (जिसका मूल कारण प्रायः आर्थिक होता है), बहुत अंश तक दूर किया जा सकता है, और किया जाना आवश्यक है। इस असमानता को पैदा करने का दायित्व समाज या राज्य पर होता है। समाज कुछ व्यक्तियों, जातियों, या श्रेणियों को ऊँचा मान लेता है, और दूसरों को नीचा। इसी प्रकार राज्य कानून द्वारा कुछ श्रेणियों का पक्षपात करने लगता है, और दूसरों के हित की ओर कम ध्यान देता है। इससे असमानता पैदा होती तथा बढ़ती है। इस असमानता को मिटा देने के लिए समाज और राज्य दोनों को भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

धन-वितरण को पद्धति में सुधार—पहले बताया जा चुका है कि धन की उत्पत्ति के चार साधन हैं—भूमि, श्रम, पूँजी, और व्यवस्था। जो धन पैदा होता है, उसमें से इन चारों के स्वामियों को उनका प्रतिफल अर्थात् लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफा दिया जाता है। इस धन-वितरण में किन-किन बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, यह पहले लिखा गया है। यहाँ उसे न दोहरा कर यही

कहना है कि समाज तथा राज्य को निरन्तर इस ओर ध्यान देते रहना चाहिए कि कोई वर्ग जमींदार, महाजन, या पूँजीपति आदि जनता का शोषण करनेवाला न हो। याद रहे कि देश की शासनपद्धति भी ऐसी हो सकती है कि वह जनता की असमानता बढ़ाने में सहायक हो। कुछ सरकारें न केवल जमींदारी प्रथा या पूँजीवाद को आश्रय देती हैं, वरन् देश का बहुत-सा धन कर या टेक्स द्वारा लेकर स्वयं हड़प जाती हैं। इसके अलावा वे कुछ उच्च पदाधिकारियों को बहुत अधिक वेतन और भत्ता आदि देती हैं, और हजारों छोटे कर्मचारियों को साधारण निर्वाह योग्य या उससे भी कम। उदाहरण के लिए हम भारत-सरकार की बात पहले कह चुके हैं। आवश्यकता है कि ऊँचे अधिकारियों के वेतनादि में भारी कमी करके और छोटे-छोटे कर्मचारियों का वेतन और भत्ता काफी बढ़ा कर आर्थिक विषमता घटायी जाय।

समानता का उद्योग—औद्योगिक देशों के बहुत से आन्दोलनों की तह में मुख्य प्रश्न यही है कि वहाँ धन की असमानता दूर हो जाय, और निर्धनों पर धनवानों या व्यवसाय-पतियों के अत्याचार न हों। किन्तु अभी तक कोई संतोषजनक मार्ग नहीं निकला। यदि देश के सारे धन को वहाँ की जनता में बराबर-बराबर बाँट दिया जाय, और उससे होनेवाली साधारण कुव्यवस्था और कठिनाइयों का सामना किया जाय, तो भी कुछ समय के बाद भिन्न-भिन्न मनुष्यों की कार्यक्षमता में अंतर होने के कारण, उनकी आर्थिक अवस्था में भी असमानता हो जाना स्वाभाविक है।

कुछ सज्जनों का विचार है कि, विरासत, या पैतृक सम्पत्ति मिलने का नियम उठा दिया जाय। प्रत्येक आदमी के मरने पर, उसकी जायदाद की मालिक (राष्ट्रीय) सरकार हो, और वह उसके उत्तराधिकारियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था कर दिया करे। यह बात भी कहाँ तक उपयोगी तथा व्यावहारिक है, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव है इससे

लोगों में ज्यादह धन-संग्रह करने और पूँजीपति बनने की अभिलाषा कम हो जाय, और समाज में कुछ अधिक समानता आ जाय। भारतवर्ष में गैर-काश्तकारी जायदाद पर विरासत-कर या मृत्यु-कर लगाने का विचार हो रहा है।

प्राचीन व्यवस्था—आर्थिक असमानता दूर करने के आंदोलन आजकल क्यों इतने तीव्र होते जाते हैं, और पहले क्यों नहीं उठते थे ? इसका एक कारण तो यही है कि गृह-शिल्प या छोटी-छोटी दस्तकारियों की दशा में धन के वितरण में उतनी असमानता नहीं होती, जितनी आधुनिक बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वाले कल-कारखानों में। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि पहले पूँजीपतियों और निर्धनों की एक दूसरे के विरुद्ध दलबन्दी नहीं थी, वरन् एक बड़ी गृहस्थी के सदस्यों की भाँति वे आपस में यथेष्ट सहानुभूति और प्रेम रखते थे। धनिकों को अपने धन का अभिमान नहीं था। वे अपने धन को सर्वसाधारण के उपयोग में लगाते थे। उनके बगीचे, पुस्तकालय, अजायबघर, धर्मशालाएँ आदि सबके लिए खुली थीं।

प्राचीन भारत का विचार—भारतवर्ष की ही बात लीजिए। बड़े-बड़े नगर, लम्बे-चौड़े बाजार बहुत कीमती जेवर, तथा पुष्पक विमान आदि के वृत्तान्त से यह सिद्ध है कि यहाँ प्राचीन काल में भौतिक उन्नति काफी हो गयी थी। थोड़े समय में बहुत सा माल तैयार करनेवाले विशाल यन्त्रों का बन सकना असम्भव नहीं था। परन्तु कई नीतिकारों ने उनके निर्माण और प्रचार आदि का स्पष्ट निषेध किया है। निदान, यहाँ बड़ी मात्रा की उत्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। कौटल्य के अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि यद्यपि उस समय भिन्न-भिन्न व्यवसाय-संघों में बहुत-से आदमियों के मिलकर काम करने की व्यवस्था थी, परन्तु वहाँ उनके पास अपने-अपने औजार होते थे; सब अपने-अपने काम के स्वयं निरीक्षक होते थे। उसका प्रतिफल वे अपनी योग्यता के अनुसार पाते थे। काम करने

वाले व्यक्ति श्रमजीवी होने के साथ-साथ छोटे-छोटे पूँजीपति भी होते थे। इस प्रकार देश का अधिकाँश धन मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में जाना, और बेशुमार आदमियों का मजदूर अथवा बेकार बनना रोका गया था।

फिर, प्राचीन भारत में कानून किसी आदमी को अपनी संपत्ति का मनमाना उपभोग नहीं करने देता था। आचार्य कौटल्य ने लिखा है कि 'जो पुरुष अत्यधिक व्यय करनेवाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाला हो, उसकी सूचना 'गोप' अथवा स्थानीय अधिकारी को दी जाय।' इससे स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ, ऐश्वर्य या भोग-विलास आदि में अधिक व्यय करने को कौटल्य ने अपराध समझा है। अस्तु, प्राचीन काल में पहले तो आर्थिक असमानता बहुत होने न पाती थी; दूसरे, जो थोड़ी-बहुत होती थी, उसका परिणाम समाज के लिए अहितकर न होता था।

हिन्दुओं की प्राचीन रीति रस्मों में इस बात का बहुत विचार रखा जाता था कि धनवान और निर्धन सुख-दुख में, हर्ष एवं शोक में, एक-दूसरे से यथेष्ट सहयोग करें; निर्धनों को कभी भी अपनी निर्धनता के कारण विशेष कष्ट न पाना पड़े। जन्म-मरण, विवाह-शादी, तीज-त्योहार—प्रत्येक अवसर पर एक बिरादरी के सब आदमियों में, आर्थिक स्थिति के भेद-भाव बिना, कुछ वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। धनवानों की सहायता और दान-पुण्य से निर्धनों की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर होती थीं, और, निर्धनों की साधारण भेंट स्वीकार कर धनवान इस बात का परिचय देते थे कि उनमें अहंकार या घमंड नहीं है। परन्तु अब आदमी अनेक बातों का असली रहस्य भूल गये हैं, कुछ बातों की धुंधली यादगार कुरीतियों के रूप में बनी हुई है।

वर्णाश्रम धर्म और आर्थिक व्यवस्था—आजकल हिन्दुओं में जो चार वर्ण माने जाते हैं, ये पहले श्रम-विभाग या मनुष्यों की

स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार थे। कुछ आदमी बुद्धि-प्रधान होते हैं, दूसरे तेज-प्रधान, वासना-प्रधान या सेवा-प्रधान होते हैं। प्राचीन भारत में बुद्धिमान मनुष्यों (ब्राह्मणों) का, धन-हीन होने पर भी, बहुत आदर-मान था। उन्हीं का परामर्श लेकर राजा अपना कार्य करता था। क्षत्रिय धनवान न होने पर भी शक्तिशाली थे और वे उसी में सुखी थे। वैश्य धनवान होते थे; परन्तु जब वे अपने धन से दूसरों का उपकार करते रहते थे, तो किसी को उनसे ईर्षा क्यों होती? शूद्र शारीरिक श्रम करते थे; परन्तु अपने भोजन-वस्त्र आदि के लिए आजकल की तरह तरसते न रहकर पूर्ण रूप से निश्चिन्त रहते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में, समाज के एक अंग को दूसरे से ईर्षा या डाह नहीं होती थी। परन्तु अब वह आदर्श लुप्त-सा हो गया है। जाति-प्रथा में ऊँच-नीच का भाव आ गया है, धनी मनुष्य दूसरों के हित या भलाई की चिन्ता नहीं करते। लोगों में वैश्य-वृत्ति प्रधान है; और वह भी बहुधा बड़े खराब रूप में।

इसी प्रकार आश्रम-धर्म की बात लीजिए। पहले यहाँ चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें से पहला आश्रम विद्या प्राप्त करने के लिए था। लड़के और लड़कियाँ जब गुरुकुल में रहते थे, उनमें धनी-निर्धन का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता था। राजा और रंक दोनों की संतान से एकसा व्यवहार होता था; सबका खानपान, रहन-सहन आदि समान था। पाठक जानते हैं, कृष्ण और सुदामा ने एक ही गुरु के यहाँ शिक्षा पायी थी। अस्तु, इसी प्रकार वानप्रस्थ और संन्यास में भी आर्थिक असमानता न होती थी। निदान, चार आश्रमों में से तीन आश्रमों में आर्थिक भेदभाव न था। जो कुछ भेद-भाव हो सकता था, वह केवल एक आश्रम में, गृहस्थाश्रम में, हो सकता था। परन्तु अब तो हम जल्दी ही गृहस्थी बन जाते हैं, और मरने तक इसी में बने रहते हैं। इस प्रकार हम लोग अपना जीवन ज्यादहतर उस आश्रम में व्यतीत करते हैं, जिसमें

आर्थिक भेद-भाव अधिक होने की संभावना होती है, फिर आर्थिक विषमता का बोलबाला क्यों न हो!

समाजवाद क्या है?—आर्थिक विषमता और पूँजीवाद से समाजवाद की लहर आगयी है। यह विशेषतया रूस में प्रचलित है। इसके अनुसार, मुख्य आर्थिक बात यह है कि उत्पत्ति और विनिमय के सब साधनों पर राज्य का अधिकार होता है, और राज्य का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि शासन एवं व्यवस्था में श्रमजीवियों अर्थात मजदूरों का प्रभुत्व रहता है। समाजवादियों का मत है कि उत्पत्ति के चार साधनों में से भूमि तो प्रकृति की ही देन है, पूँजी श्रम से ही संचित होती है, और व्यवस्था एक प्रकार का श्रम ही है। इस प्रकार धन की उत्पत्ति का केवल एक ही साधन रहता है, वह है श्रम। इसलिए श्रम-जीवियों का ही, उत्पन्न धन पर स्वामित्व रहना चाहिए। समाजवादियों के मतानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी, खेतों और कल-कारखानों की मालिक सरकार होगी, प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार मेहनत करेगा; और, उनके परिश्रम से जो धन पैदा होगा, वह सरकार द्वारा, उनकी आवश्यकतानुसार वितरण किया जायगा। आजकल मुद्रा में पदार्थों को खरीदने की शक्ति है, इसलिए कुछ आदमी इससे भूमि खरीद कर या कल-कारखाने आदि चला कर अपनी सम्पत्ति बढ़ाते हैं, अथवा धन को जोड़ कर रखते हैं। उनके लड़के बिना परिश्रम लखपति और करोड़पति बनते हैं, जबकि दूसरों को उनकी अधीनता में घोर श्रम करते हुए भी यथेष्ट भोजन-वस्त्र नहीं मिल पाता। समाजवादी व्यवस्था में ऐसा न होगा। सब की आवश्यकताएँ सरकार द्वारा पूरी होंगी और सब ही परिश्रम करनेवाले होंगे। फिर, यह आर्थिक विषमता तथा इससे होनेवाले हानिकारक परिणाम भी न होंगे।

भारतवर्ष और समाजवाद—समाजवाद को आर्थिक विषमता ने जन्म दिया है। और, आर्थिक विषमता इस समय भारतवर्ष में भी

है, और निरंतर बढ़ती जा रही है। तनिक विचार कीजिए कि जमींदार, महाजन, कल-कारखाने के मालिक, और उच्च राजकर्मचारियों आदि का जीवन कैसा है, और उसकी तुलना में किसान, मजदूर आदि का रहनसहन कैसा है ! जमीन-आसमान का अंतर है। एक ओर मुट्ठी-भर राजा महाराजाओं, वायसराय और गवर्नरों तथा कुछ पूँजीपतियों के इंद्र-भवन हैं, दूसरी ओर असंख्य लोगों की घास-फूस की टूटी-फूटी झोपड़ी है, या उनका भी अभाव है। एक ओर तरह-तरह के पकवान आदि से इतनी तृप्ति होती है कि उसकी जूठन कुत्तों या चील-कव्वों के लिए फेंकी जाती है; दूसरी ओर गाय भैंस के गोबर में से दाने निकाल-निकाल कर खानेवालों के उदाहरण हैं। एक ओर एक आदमी के पास दिन-भर में बदलने के लिए कई-कई बहुमूल्य पोशाक हैं, दूसरी ओर अनेक दिगंबर-भेष वाले हैं, और अर्धनग्नों की तो कुछ सीमा ही नहीं। कहाँ तक कहें ? पाठक स्वयं विचार करलें।

यह विषमता कब तक रहेगी ? यह ठीक है कि यहाँ अधिकाँश आदमी अपनी हीनावस्था के कारण का विचार न कर, उसको अपने भाग्य का दोष समझते हैं। वे अपनी स्थिति सुधारने के लिए आंदोलन करने को सहसा तैयार नहीं होते। पर, आखिर कब तक ? रोटी-कपड़े की जरूरत भाग्यवादियों को भी क्रांतिवादी बना देती है। एक ओर भारत का प्राचीन आदर्श है, दूसरी ओर आधुनिक समाजवाद। हमारे लिए वर्त्तमान काल में दोनों का मिश्रण उपयुक्त होगा। हम केवल दूसरों की नकल के भरोसे क्यों रहें ? अन्य देश जिस बात के लिए खून-खराबी करते हैं, उसे हम अहिंसा द्वारा ही क्यों न प्राप्त करें ! हमें समाजवाद का स्वागत करने से झिझक न हो; हाँ, उस पर हमारी संस्कृति की छाप हो; वह हमारी अपनी चीज़ बन जाय। भारतीय समाजवाद भारतीय जनता का हित तो करे ही, अपने अहिंसा और प्रेम-भाव के कारण, वह संसार के लिए भी शिक्षाप्रद और कल्याण-कारी हो। शुभम्

परिशिष्ट

कांग्रेस की आर्थिक नीति

यह आशा की जाती है कि राष्ट्र-सभा कांग्रेस शीघ्र ही शासन-सूत्र ग्रहण करेगी, और देश की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं को हल करने में लगेगी। उसकी इन विषयों में क्या नीति है, यह बताने के लिए यहाँ कांग्रेस के प्रान्तीय चुनाव सम्बन्धी घोषणापत्र का आवश्यक अंश दिया जाता है; घोषणा पत्र १० दिसम्बर १९४५ को कलकत्ते में कांग्रेस वर्किंग कमेटी अर्थात् कार्य समिति ने प्रकाशित कराया था। उसमें कहा गया है—

दरिद्रता कैसे दूर हो?—जनता पर से दरिद्रता का श्राप किस प्रकार हटाया जाय और उसका जीवन-मान किस प्रकार ऊंचा उठाया जाय, यही भारतवर्ष की सब से मुख्य और आवश्यक समस्या है। जनता के कल्याण के लिए ही कांग्रेस अपना विशेष ध्यान देती रही है और उसी के लिए रचनात्मक कार्य भी करती रही है। उसी के हित और विकास की कसौटी पर उसने सारे प्रस्तावों और परिवर्तनों को कसा है और यह घोषित किया है कि जो कुछ भी देश की उन्नति में बाधक सिद्ध हो, उसे रास्ते से हटा दिया जाय।

देश के धन-धान्य में वृद्धि करने के लिए, और उसे दूसरों पर निर्भर रहे बिना ही स्वतः विकसित होने की क्षमता प्रदान करने के लिए, उद्योग-धंधों, कृषि और सामाजिक तथा सार्वजनिक लाभ के साधनों आदि को प्रोत्साहन देना, उन्हें नये ढांचे में ढालना चाहिए और तीव्र गति के साथ फैलाना चाहिए। किन्तु ये सब काम जनता को लाभ

पहुँचाने, उसके आर्थिक, सांस्कृतिक और आत्मिक स्तर को ऊंचा उठाने, बेकारी दूर करने और व्यक्तिगत मान को बढ़ाने के उद्देश्य से ही किये जाने चाहिएँ।

इस कार्य के लिए यह आवश्यक है कि सभी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सामाजिक उन्नति की योजना बनायी जाय और उसका संगठन किया जाय, किसी एक व्यक्ति और दल के पास धन और अधिकार को केन्द्रित न होने दिया जाय, समाज के विरोधियों को बढ़ने से रोका जाय। और, धातुओं और यातायात के साधनों पर, और भूमि, उद्योग तथा राष्ट्रीय कार्य-क्रम के सभी दूसरे क्षेत्रों में उत्पादन और वितरण की मुख्य प्रणालियों पर सामाजिक प्रभुत्व प्राप्त किया जाय, ताकि स्वतन्त्र भारत सहकारिता की प्रणाली वाला राष्ट्र बन सके।

इसलिए शासन-संस्था को सभी बुनियादी और मुख्य उद्योगों और नौकरियों, धातु सम्बन्धी साधनों, रेल के रास्तों, समुद्री रास्तों और जहाजों तथा यातायात के दूसरे साधनों पर आधिपत्य या अधिकार प्राप्त करना चाहिए। मुद्रा, विनिमय, बैङ्क और बीमे को राष्ट्रीय हित के अनुकूल सगठित करना चाहिए।

कृषि में वैज्ञानिक सुधार—वैसे तो दरिद्रता सारे भारतवर्ष में है, परन्तु इसकी समस्या मुख्यतः गाँवों में है। दरिद्रता का प्रधान कारण भूमि की कमी और दूसरे धनोत्पादक साधनों का अभाव है। ब्रिटिश अधिकार में रहते हुए भारतवर्ष क्रमशः एक ग्रामीण देश बना दिया गया है, उसके कारबार के अनेक रास्ते बन्द कर दिये गये हैं और एक विशाल जन-समुदाय खेती पर आश्रित कर दिया गया है। खेतों के लगातार टुकड़े किये जाते रहे हैं, यहाँ तक कि अब अधिकाँश खेत आर्थिक दृष्टि से बेमुनाफे के हो गये हैं। इसलिए वह यह आवश्यक है कि भूमि सम्बन्धी समस्या पर सभी पहलुओं से ध्यान दिया जाय। कृषि को वैज्ञानिक ढँग से उन्नत बनाने और उद्योग को उसके बड़े, मझोले और छोटे सभी रूपों में बढ़ाने की आवश्यकता है, ताकि

केवल धन का ही उत्पादन न हो सके, बल्कि कृषि पर आश्रित रहनेवाले व्यक्ति भी उनमें खपाये जा सकें।

ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन—गृह-उद्योगों को पूर्ण और आंशिक दोनों पेशों के रूप में खास तौर से प्रोत्साहन देना प्रयोजनीय है। यह आवश्यक है कि उद्योगों की रूपरेखा बनाने और उसे विकसित करने में जहाँ एक ओर अधिक से अधिक धन के उत्पादन का ध्यान रखा जाय, वहाँ दूसरी ओर यह भी याद रखा जाये कि ऐसा करने से नई बेकारी न पैदा हो जाय। योजना के बनने से, अधिक-से-अधिक लोगों को, और निस्सन्देह सभी पुष्ट व्यक्तियों को, काम मिलना चाहिए।

भूमि-प्रणाली में सुधार—भूमि सम्बन्धी सुधार के लिए जिसकी भारतवर्ष में घोर आवश्यकता है, किसानों और शासन-संस्था के बीच के (मध्यस्थ) व्यक्तियों को हटा देना चाहिए और उनके अधिकारों को, बराबर का मुआवजा देकर, खरीद लेना चाहिए; व्यक्तिगत खेती और किसानों की मिल्कियत की प्रथा चलती रहनी चाहिए, लेकिन उन्नतिशील कृषि और नई सामाजिक प्रेरणाओं आदि के निर्माण के लिए भारतीय स्थितियों के अनुकूल सहकारी ढँग की खेती की कोई प्रणाली होनी चाहिए। ये परिवर्तन कृषकों की सहमति और सहानुभूति से ही होने चाहिएँ।

इसलिए यह वाँछनीय है कि सरकार की सहायता से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में प्रयोग रूप से सहकारिता की प्रणाली पर फार्म (खेत) बनाये जायँ। प्रदर्शन और प्रयोग के लिए बड़े-बड़े सरकारी फार्म भी होने चाहिएँ।

कृषि और उद्योगों का विकास—इसके लिए ग्रामीण और नागरिक अर्थव्यवस्थाओं में समुचित संगठन और संतुलन होना चाहिए। अब तक ग्रामीणों को आर्थिक क्षति ही उठानी पड़ी है और उनसे लाभ उठाकर नगरों और कस्बों वालों ने उन्नति की है। इस स्थिति में संशोधन

की आवश्यकता है। देहातों तथा कस्बों के निवासियों के जीवन-मान को यथासाध्य बराबर करने की चेष्टा करनी चाहिए। उद्योगों का का किसी एक प्रान्त में केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए ताकि सभी प्रान्तों की आर्थिक स्थिति में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। अ-केन्द्रीकरण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक संभव हो किसी की विशेषता पर आघात न पहुँचे।

कृषि और उद्योग दोनों के विकास के लिए और साथ-ही-साथ जनता के स्वास्थ्य तथा हित के लिए भी हमें उस महान शक्ति पर अधिकार करना और उसका उचित प्रयोग करना चाहिए जो हमें भारत की विशाल नदियों के रूप में उपलब्ध है और जो अधिकतर न केवल बरबाद हो जाती है, बल्कि भूमि के वास्ते और भूमि पर निवास करने वालों के लिए बहुधा भीषण क्षति का कारण बनती है। इस काम को करने के लिए नदियों से सम्बन्ध रखने वाले कमीशन बनाये जाने चाहिएँ, ताकि वे सिंचाई के काम को प्रोत्साहन प्रदान कर सकें और इस बात की व्यवस्था कर सकें कि लोगों को सिंचाई के वास्ते लगातार और समान रूप से पानी मिलता रहे। इसके अतिरिक्त उनका काम संहारक बाढ़ को रोकने और जमीन को कटने से बचाने का भी होना चाहिए; उन्हें मलेरिया को रोकने, जल विद्युत-शक्ति को बढ़ाने और दूसरी युक्तियों द्वारा विशेषतः ग्रामवासियों के जीवन-मान को बढ़ाने का काम सौंपना चाहिए। उद्योग और कृषि के विकास के लिए आवश्यक आदान-प्रदान करने के अभिप्राय से इस देश के, संचालक शक्ति के साधनों को हर रूप से बढ़ाना प्रयोजनीय है।

शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रश्न—जनता के बौद्धिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए और उसे अपने सामने आनेवाले नये कामों और व्यवसायों के योग्य बनाने के लिए शिक्षा का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए। सार्वजनिक स्वास्थ्य के कामों की, जो राष्ट्र की उन्नति के लिए हैं, अधिक-से-अधिक

व्यवस्था होनी चाहिए और इस बात में, दूसरी बातों की तरह ही, ग्रामीणों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनमें प्रसूति और शिशुपालन सम्बन्धी विशेष व्यवस्थाएँ भी सम्मिलित होनी चाहिए"।

इस प्रकार हमें ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करनी चाहिएँ, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को हर राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र में उन्नति करने का समान अवसर मिले, सब के लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध हो। विज्ञान अपने असंख्य क्षेत्रों में मनुष्य-जीवन को प्रभावित और परिवर्तित करने में सदा से अधिकाधिक भाग लेता रहा है, और भविष्य में इससे भी अधिक मात्रा में भाग लेता रहेगा। औद्योगिक, कृषि-सम्बन्धी और सांस्कृतिक उन्नति—यहाँ तक कि राष्ट्रीय रक्षण का कार्य भी इसी पर निर्भर है। अतः वैज्ञानिक अन्वेषण का कार्य शासन-संस्था का बुनियादी और आवश्यक कार्य है, और उसको व्यापक रूप में संगठित और प्रोत्साहित करना चाहिए।

मजदूरों के हितों की रक्षा—जहाँ तक मजदूरों का सवाल है, शासन-संस्था औद्योगिक श्रमजीवियों के हितों की रक्षा करेगी और इस बात की व्यवस्था करेगी कि उन्हें एक निश्चित सीमा से कम मजदूरी न मिले; देश की आर्थिक अवस्था को दृष्टि में रखते हुए जहाँ तक सम्भव हो उनके जीवन का मान, अन्तर्राष्ट्रीय मान की तुलना में, उचित हो। उनके लिए रहने का यथेष्ट प्रबन्ध हो और काम के घण्टे और मजदूरी की शर्तें भी ठीक हों। इसके अतिरिक्त शासन-संस्था मजदूरों और मालिकों के झगड़ों को तय करने और मजदूरों के बुढ़ापा, बीमारी तथा बेकारी के आर्थिक दुष्परिणामों से बचने के लिए उचित व्यवस्था करेगी। मजदूरों को अपने हित की रक्षा के लिए संघ बनाने का अधिकार होगा।

सहकारी कृषि पर जोर—ऋण ने किसानों को कुचल रखा है। यद्यपि विभिन्न कारणों से पिछले दिनों उनके ऋण का बोझ कुछ हल्का हो गया है, तथापि वह अब भी है, उसे दूर करना आवश्यक

है। इसके लिए किसानों को सहकारी संस्थाओं द्वारा कम सूद पर रुपया उधार दिलवाना चाहिए।

सहकारी संस्थाओं का दूसरे कामों के लिए भी, गाँवों और शहरों दोनों स्थानों में निर्माण होना चाहिए। औद्योगिक सहकार-संस्थाओं को विशेष रूप से प्रोत्साहन देना चाहिए, क्योंकि प्रजावादी आधार पर छोटे-छोटे उद्योगों के विकास के लिए वे विशेष रूप से उपयोगी होती है।

पिछड़ी जातियों का उद्धार—इसके अतिरिक्त शासन-संस्था की ओर से, पिछड़ी हुई या दलित जातियों की रक्षा और उन्नति के लिए आवश्यक प्रबन्ध किये जायँगे, ताकि वे शीघ्रता-पूर्वक उन्नति कर सकें और राष्ट्रीय जीवन में पूरा और समान भाग ले सकें। विशेष रूप से कबीले वालों को अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने और परिगणित (हरिजन आदि) जातियों को शिक्षा सम्बन्धी और सामाजिक तथा आर्थिक विकास प्राप्त करने में सहायता दी जायगी।

कुव्यवस्था का निवारण—यद्यपि यह सत्य है कि भारतवर्ष की तत्कालीन और आवश्यक समस्याओं का हल राजनैतिक, आर्थिक, कृषि-सम्बन्धी औद्योगिक और सामाजिक सभी दिशाओं से एक साथ सम्मिलित प्रयत्न करने पर ही हो सकेगा, तथापि कुछ आवश्यकताएँ आज बहुत ही महत्वपूर्ण है। सरकार की निपट अयोग्यता और दुर्व्यवस्था के कारण भारतीय जनता पर विपदा का पहाड़ सा टूट पड़ा है। लाखों लोग भूखों मर चुके हैं और अन्न तथा कपड़े का आज भी व्यापक अभाव है। सभी नौकरियों में और जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यक पदार्थों के नियंत्रण आदि के मामलों में बड़ी बेईमानी और घूसखोरी चल रही है, जो हमारे लिए असह्य हो गयी है। इन महत्वपूर्ण समस्याओं पर फौरन ही ध्यान देने की आवश्यकता है।

भारतीय ग्रन्थमाला

भारतीय शासन (नवाँ संस्करण)	...	१॥)
भारतीय विद्यार्थी विनोद (तीसरा संस्करण)	...	॥=)
हमारी राष्ट्रीय समस्याएं (सातवाँ संस्करण)	...	१)
हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य (दूसरा संस्करण)		२)
भारतीय सहकारिता आन्दोलन (दूसरा संस्करण)	...	२॥)
भारतीय जागृति (चौथा संस्करण)	...	२)
विश्व वेदना	...	॥=)
निर्वाचन पद्धति (चौथा संस्करण)	...	॥)
नागरिक कहानियाँ	...	॥=)
राजनीति शब्दावली (दूसरा संस्करण)	..	॥)
नागरिक शिक्षा (चौथा संस्करण)	...	॥≡)
ब्रिटिश साम्राज्य शासन (चौथा संस्करण)	...	१)
श्रद्धाञ्जली	...	॥=)
भव्य विभूतियाँ ॥=); गाँव की बात	...	॥)
अर्थशास्त्र शब्दावली (दूसरा संस्करण)	...	१)
कौटल्य के आर्थिक विचार (दूसरा संस्करण)	...	॥=)
अपराध चिकित्सा	...	१)
पूर्व की राष्ट्रीय जागृति	...	१॥)
भारतीय अर्थशास्त्र (चौथा संस्करण)	...	४)
साम्राज्य और उनका पतन	..	१)
मातृ वन्दना (तीसरा संस्करण)	...	।=
देशी राज्य शासन	...	३)
विश्व सङ्घ की ओर	...	२)
भावी नागरिकों से	...	३)
इंगलैंड का शासन और औद्योगिक क्रान्ति	...	१)
मनुष्य जाति की	...	३॥)
नागरिक शास्त्र	...	२।)

भगवानदास केला, भारतीय ग्रन्थमाला; दारागंज, प्रयाग